आत्म-धर्म

विशेषांक

श्री पंडित टोडरमलजी

जन्म
सं० 1797

स्वर्गारोहण
सं० 1824

श्री टोडरमल जयन्ती स्मारिका

मार्च 1967

सम्पादक :

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
पं० फूलचन्द सिद्धान्त-शास्त्री
से० खेमचन्द जेठालाल
ब्र० हरिलाल जैन
पं० भँवरलाल न्यायतीर्थ
डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम.ए., पी-एच.डी.

श्री टोडरमल स्मारक महोत्सव कमेटी की ओर से

विषय सूची

	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ संख्या
1.	मंगलाचरण		1
2.	प्रेरणास्रोत (कविता)	श्री पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ, जयपुर	2
3.	संपादकीय	श्री पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ, जयपुर	3
4.	स्मारक के सम्बन्ध में	डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल एम.ए., पी-एचडी.	9
5.	भाई रायमल्ल एवं टोडरमलजी	श्री भँवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर	12
6.	आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल एम.ए., पी-एचडी. जयपुर	21
7.	पंडित टोडरमलजी के समय के विद्वान्	श्री पं. मिलापचन्द शास्त्री न्यायतीर्थ, जयपुर	27
8.	गोम्मटसार के भाषा टीकाकार	सिद्धांताचार्य श्री पं. कैलाशचन्द शास्त्री अध्यक्ष स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी	32
9.	मोक्षमार्ग का उद्घाटन	श्री ब्र. हरिलाल जैन, सोनगढ़	35
10.	सम्यक्त्व के विभिन्न लक्षणों का समन्वय	श्री सेठ खीमचंद जेठालाल, सोनगढ़	38
11.	मोक्षमार्ग एक ही है, व्यवहार मोक्षमार्ग तो उसका निमित्तमात्र है	श्री रामजी माणकचंद दोशी, सोनगढ़	41
12.	आचार्यकल्प पंडित टोडरमल : गणित विषयक पांडित्य	ज्योतिषाचार्य डा. नेमिचंद शास्त्री एम.ए., पी-एच.डी., डि.लिट अध्यक्ष संस्कृत प्राकृत विभाग जैन कालेज, आगरा	61
13.	शास्त्र के अर्थ समझने की पद्धति आगम के अभ्यास की आवश्यकता	श्री नेमीचंद पाटनी, जयपुर	80
14.	आत्मानुशासन और उसकी भाषा टीका	प्रो. अमृतलाल शास्त्री दर्शनाचार्य, वाराणसी	88
15.	आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी और उनकी कृतियां	श्री पंडित परमानंद शास्त्री, देहली	93
16.	प्रमुख शौरसेनी जैनागमों एवं अनुवर्ति ग्रंथों के सर्व प्रथम हिन्दी टीकाकार	डॉ. राजाराम जैन, एम.ए., पी-एच.डी, शास्त्राचार्य प्राध्यापक-दिगम्बर जैन कालेज, आरा	102
17.	पंडित टोडरमलजी और शिथिलाचारी साधु	श्री पंडित मिलापचंद कटारिया, केकड़ी	112
18.	पंडित प्रवर टोडरमलजी के प्रति (कविता)	श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	124
19.	अगाध पांडित्य के धनी पंडितजी एवं जैनधर्म की समीचीनता	श्री महेन्द्रकुमार जैन, एम.ए.	125
20.	सामाजिक एवं धार्मिक क्रांति के अग्रदूत - पंडित टोडरमल	श्री अनूपचंद न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, जयपुर	128

21.	मोक्षमार्ग प्रकाशक में करणानुयोग	श्री पंडित फूलचंद सिद्धांत शास्त्री, वाराणसी	**131**
22.	उनके अधूरे कार्य को पूरा किया जाय	श्री पंडित हीरालाल सिद्धांत शास्त्री, ब्यावर	**137**
23.	मोक्षमार्ग प्रकाशक – एक असाधारण ग्रंथ	श्री क्षुल्लक शीतलसागरजी	**140**
24.	मोक्षमार्ग प्रकाशक – एक अध्ययन	श्री युगल जैन, एम.ए. साहित्यरत्न, कोटा	**141**
25.	दिये धर्म हित प्राण (कविता)	श्री सुधेश जैन, नागोद	**158**
26.	महान विद्वान पंडित टोडरमलजी	श्री पंडित सत्यंधरकुमार सेठी, उज्जैन	**159**
27.	प्रथमानुयोग और मोक्षमार्ग प्रकाशक	श्री प्रकाश हितैषी शास्त्री संपादक – सन्मति संदेश, देहली	**161**
28.	पंडित टोडरमलजी का पद्य साहित्य	श्री प्रेमचंद रांवका, बी.ए., जयपुर	**166**
29.	महान साहित्यकार पंडित टोडरमलजी	श्री डा. प्रेमसागर जैन, एम.ए., पी.एच–डी. अध्यक्ष–हिन्दी विभाग दि० जैन कालेज बडोत	**172**
30.	श्रद्धांजलि	श्री सुमेरचन्द कौशल	**178**
31.	तप: पूत साहित्य साधक	श्री विद्यावती राजाराम जैन, आरा	**179**
32.	जयपुर–मुलतान–सौराष्ट्र	श्री ब्र० हरिलाल जैन, सोनगढ़	**179**
33.	अमर शहीद पंडितप्रवर टोडरमलजी	श्री मूलचन्द पाटनी, बम्बई	**182**
34.	जैन जगत के क्रांतिकारी अग्रदूत– महापंडित टोडरमलजी	श्री राजमल गोधा, एम.ए., अलीगढ़ (टोंक)	**184**
35.	स्व० आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के प्रति सुमन समर्पित करते हैं	श्री महादेवप्रसाद शर्मा साहित्यरत्न, जयपुर	**185**
36.	मोक्षमार्ग प्रकाशक – एक मौलिक कृति	श्री चन्द्रकुमार जैन, शिवपुरी (म.प्र.)	**186**
37.	युगदृष्टा आचार्य कल्प....!	श्री विमलकुमार जैन सौरंया, मण्डावरा (झांसी)	**188**
38.	अमर विभूति पंडित टोडरमलजी	डॉ. ताराचंद जैन बख्शी एम.एस–सी., एल.एल.बी.	**190**
39.	यदि पंडित टोडरमलजी आज होते?	श्री पंडित भंवरलाल पोल्याका जैन दर्शनाचार्य	**192**
40.	पंडित जयचंदजी और उनकी साहित्यिक कृतियां	श्री पंडित दरबारीलाल कोठिया, एम.ए.	**196**
41.	पंडित प्रवर टोडरमलजी के अंतिम पांच वर्ष	श्री पंडित गुलाबचंद छाबड़ा, एम.ए., जैनदर्शनाचार्य साहित्यरत्न, जयपुर	**201**
42.	गुमान पंथ के संस्थापक – गुमानीराम	श्री पंडित सुरज्ञानीचंद न्यायतीर्थ, जयपुर	**204**
43.	मोक्षमार्ग में देव–शास्त्र–गुरु	श्री पद्मचंद्र शास्त्री, एम.ए.	**209**
44.	मोक्षमार्ग की संक्षिप्त रूपरेखा	श्री अमृतलाल झाटकीया, अमरेली	**213**
45.	जैनधर्म के प्रकाश स्तम्भ पंडित प्रवर टोडरमलजी	श्री बा० सूरजभान जैन 'प्रेम', आगरा	**216**

46.	अलौकिक क्षयोपशमधारी आचार्यकल्प पूज्य पंडित टोडरमलजी	श्री पंडित सुगनचन्द जैन, जयपुर	**218**
47.	जयपुर प्रदेश और नगर	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, एम.ए., एल.एल.बी. पी-एच.डी., लखनऊ	**221**
48.	पंडित सदासुखजी कासलीवाल - एक परिचय	श्री पंडित चिरंजीलाल जैन, दर्शनाचार्य, जयपुर	**229**
49.	मोक्षमार्ग के लिए पुरुषार्थ	श्री पंडित बंशीधर शास्त्री, एम.ए.	**232**
50.	पंडित टोडरमलजी के समय में जैन दीवान	श्री पंडित भंवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर	**236**
51.	पंडित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी	श्री पंडित कीतिचंद्र जैनदर्शनाचार्य, जयपुर	**239**

श्री टोडरमल जयन्ती स्मारिका

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।1।।

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं।।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि,
केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।।

प्रेरणा स्रोत

रचयिता श्री पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ

(1)

तेरे पावन-जीवन-प्रयास
इस धरा धाम पर अमर हुए।
तेरी प्रतिभा की दिव्य-ज्योति-
से पाखण्डों के तिमिर गये।।1।।

(2)

मोहाभिभूत मानवता पर
तेरी अनुकंपा थी असीम।
तुम क्रांतिदूत बन कर आये
संघर्षों की ले गदा भीम।।2।।

(3)

पीछे न हटे अपने पथ से
कर विघ्नों का संहार बढे।
देखा न कभी दायें बायें
अपनी नैया पर स्वयं चढ़े।।3।।

(4)

विपदाओं का अंबार रहा
तेरे चहुँ ओर विशाल कोट-
बनकर, तुमने उस पर किंतु
की निज क्षमता से सघन चोट।।4।।

(5)

तुम बने प्रेरणा-स्रोत दिव्य
जन जन के मानस में डाला।
उत्साह स्फूर्ति से भरा हुआ
जीवन रस का मधुमय प्याला।।5।।

(6)

थे प्रतिभा के तुम प्रखर पुंज
औ क्रांति कला के सेनानी।
सब परा और अपरा विद्या
तुमने यथार्थता से जानी।।6।।

(7)

तुम लोह पुरुष थे सचमुच ही
झुकना न कभी तुमने सीखा।
पर सत्य मार्ग पर डटे रहे
जो ज्ञान नयन से ही दीखा।।7।।

(8)

तुमने थोड़े से जीवन में
जो काम किया वह था कमाल।
इतिहास बताता कभी-कभी
बलिदानों की ऐसी मिसाल।।8।।

(9)

श्रद्धा के सुमन चढाऊं मैं
तेरे चरणों में हे टोडर!
पा दिव्य प्रेरणा तेरे से
मेरा मानस हो सबल प्रवर।।9।।

संपादकीय

पंडित चैनसुखदासजी, संपादक - वीरवाणी

पण्डित टोडरमलजी विक्रम की 19वीं शताब्दी के असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् थे। उन्होंने अपने करीब 28 वर्ष के अल्प-जीवन काल में जो साहित्यिक, सामाजिक एवं धार्मिक सेवायें की हैं, उनकी तुलना उनके पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी भी विद्वान से नहीं की जा सकती। उनका 'मोक्षमार्गप्रकाशक' उनकी मौलिक अमर कृति है। उसके अध्ययन से हम उनकी प्रतिभा, विचारकता, निर्भीकता एवं विश्लेषण बुद्धि का जो स्पष्ट अनुभव करते हैं, उससे बरबस उनकी ओर नतात्मा होकर उन्हें सहस्र-सहस्र श्रद्धांजलियाँ अर्पित किए बिना हमारा-जी नहीं मानता। यह ग्रन्थ जैनों के हिन्दी धार्मिक साहित्य का मुकुट है। इसके बिना यह साहित्य भण्डार सूना-सा है। ऐसा जान पड़ता है मानों सारे साहित्य भण्डार का यह एक प्रकाशमान मणि-प्रदीप है। यद्यपि उनकी षडयन्त्रजनित असामयिक मृत्यु के कारण यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया, फिर भी यह जितना है, उतना ही अपने आप में पूरा एवं हिन्दी (ढूंढारी) भाषा के जैनधर्म के ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोम्मटसार आदि दुरूह सिद्धान्त ग्रन्थों की, जिनका कि पठन-पाठन बहुत समय से बन्द हो चुका था, जो विशाल सुबोध एवं पाण्डित्यपूर्ण हिन्दी टीकायें की हैं, उनसे उनके महान अध्यवसाय, अपूर्व कर्तव्यनिष्ठा और कभी नहीं थकनेवाली परिश्रमशीलता को देखकर कोई भी यह कह सकता है कि, पण्डित टोडरमलजी तो एक लोकोत्तर आश्चर्य थे। इतने थोड़े समय में अपने गार्हस्थ्य का भार सम्हालते हुए भी उन्होंने इतनी विशाल ग्रन्थराशि का कैसे निर्माण कर दिया;ह्न्यह साधारण जन के समझने में आनेवाली बात नहीं है।

पण्डितजी केवल सक्रिय साहित्यकार ही नहीं थे, वे चोटी के क्रान्तिकारी भी थे। उनके समय में धार्मिक क्षेत्र का शिथिलाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। ज्ञान दीन-हीन होकर पाखण्ड और आडम्बरों में दब रहा था। लोकोपयोगी साहित्य-सृजना बिल्कुल बन्द थी। प्रतारकों के तथाकथित चमत्कारों से लोगों की सामाजिक एवं धार्मिक चेतना मोहाभिभूत हो रही थी। सोचने की जैसे उनमें शक्ति ही न रह गयी थी। सरस्वती, शक्ति और लक्ष्मी तीनों पर धार्मिक मूढ़ता का शासन था। पण्डितजी को यह सब सह्य नहीं था। क्रान्ति के जीव थे। इसमें उन्हें क्रान्ति करना था, पर क्रान्ति कभी निरापद नहीं होती। उसमें चारों ओर से बाधायें उपस्थित होती हैं। साहित्य-सृजन के लिए प्रशान्त प्रतिभा की आवश्यकता रहती है। इसलिए साहित्य-सृजन और क्रान्ति, दोनों का साथ-साथ चलना बहुत कम विद्वानों में देखा जाता है। किन्तु पण्डित टोडरमलजी इसके अपवाद थे। उनमें ये दोनों एक साथ चलते थे। वे क्या नहीं थे? विद्वान्, धार्मिक क्रान्तिकर्ता, साहित्य सृजक और असाधारण व्याख्याता आदि सभी कुछ वे थे। इन सबके ऊपर उनकी एक विशेषता और थी, वह थी उनकी निर्भयता। मनुष्य, मनुष्य से जितना डरता है, उतना किसी से नहीं डरता। इसी से डरकर वह भीतर से परिवर्तन का पक्षपाती होते

हुए भी सत्य-तत्त्व के प्रतिपादन करने में साहस नहीं दिखला सकता। पर, पण्डित टोडरमलजी में यह बात नहीं थी। वे निर्भय होकर अपना अभिमत प्रकट कर सकते थे। उपलब्ध तत्कालीन साहित्य के देखने से यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि औरों की कौन कहे, जैन कहलानेवाले लोग भी उनके साथ सद्भाव नहीं रखते थे। इसका कारण यह था कि, पण्डितजी शिथिलाचार के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने उस समय जो धार्मिक क्रान्ति की थी, उससे तत्कालीन शिथिलाचार कांप गया था। उनमें पण्डितजी की अपूर्व प्रतिभा, अदम्य साहस एवं लोकोत्तर सेवाभाव का सामना करने की क्षमता नहीं थी। जैनों के गद्दीदारी लोगों एवं उनके अनुयायियों के मन में इस क्रान्ति ने भय, आतंक और क्षोभ पैदा कर दिया था, और उन्होंने इसे दबाने के लिए नानाविध प्रयत्न किये थे। उन्हें अपनी पदाधिकारिता का गर्व था, पर पण्डितजी साहस के पुतले थे, उन्होंने लोगों में क्रान्ति का उत्साह भर दिया, और उनके हजारों अनुयायी हो गये थे। भाई रायमलजी ने अपनी चिट्ठी में जो कुछ लिखा है, उससे तो उनकी महत्ता प्रकट होती ही है, किन्तु उसके अतिरिक्त जो एक और चिट्ठी प्राप्त हुई है, उसके उनके विषय में निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं ''भाई श्री पूज्य टोडरमलजी साहिब सातिशय ज्ञानी, प्राकृत, संस्कृत न्याय अलंकार शब्दशास्त्र, तर्क, गणितादि अनेक शास्त्र समूह के यथावत् रहस्य के वेत्ता तिनि के गोम्मटसारजी सारिखा महत ग्रन्थ तिनिकी पूजा पचास साठ श्लोक नी जिनवाणी के अनुसार बनाई।''

''अर अवै वर्तमान काल विषैं बाबाजी बंशीधरजी वा मलजी साहिब ये दोय सैलीनि विषैं मुख्य हैं सो इनसो ही धर्म खड़ा है। अर ये दोई सत्पुरुष ऐसे पक्के सरधानी हैं, जो अपना प्राण जाय तो भी जिनवानी के अनुसार सिवाय एक अक्षर भी अधिक हीन न कहे सो इनकी बिना प्रयोजन निरपराध देश विषै अवज्ञा लिखी।''

यह चिट्ठी कहाँ से किसने और किसको लिखी है, इसका पता नहीं चला।

पण्डितजी का व्यक्तित्व महान था। वे आचार्य समन्तभद्र की तरह परीक्षा प्रधानी थे। उन्हें लकीर के फकीर होना कभी पसन्द न था। तर्क और श्रद्धा का अपूर्व संगम उनमें था। इसीलिए वे श्रद्धा की तरह कोमल और तर्क की तरह कठोर थे। उनकी श्रद्धा ने ही उन्हें अपूर्व साहित्यसेवी बनाया था; पर उनके तर्क ने तत्कालीन रूढिग्रस्त जैन समाज को जो चेतना, स्फूर्ति और उत्साह प्रदान किया, उसकी स्मृति जैनों के धार्मिक इतिहास में सदा जागरूक रहेगी। उन्होंने अपनी श्रद्धा और परीक्षता के कारण प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग की जटिल ग्रन्थियों के समाधान करने में जो दक्षता दिखलाई है, उसकी तुलना अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलती। परम्परा के महारोग से हतबुद्धि जैन समाज की उस जड़ता के युग में पण्डितजी इतना लोकोत्तर एवं दुर्दमनीय साहस दिखला सकेह्नइसका उदाहरण कहाँ मिलता है? अनुयोगों का वर्णन किस रूप में कितना यथार्थ है, इसको जाने बिना पाठक स्वाध्याय के महा अरण्य में दिङ्गमूढ़ हुए बिना नहीं रहता। यह दिङ्गमूढ़ता जैन परम्परा में ही नहीं इतर परम्पराओं में भी खूब हुई है; और इससे मनुष्य जाति का जो अनिष्ट हुआ है, उसका वर्णन करना भी

कठिन है। पाठक यहाँ तक भ्रान्त होकर अध्ययन करता है कि अलंकार, रस और क्षेत्र, काल एवं परिस्थितियों का जो प्रभाव पड़ता है, उसके अधीन होकर लेखक जो वर्णन करता है, उसको भी मूल घटना का अविभाज्य अंग मानकर चलता है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है पण्डित टोडरमलजी के पहले किसी आचार्य अथवा विद्वान् ने चारों अनुयोगों का इसी प्रकार तारतम्य अथवा निष्कर्ष निकालकर सारग्राह्यता नहीं बतलाई है? आचार्य समन्तभद्र के बाद पण्डित टोडरमलजी ही केवल ऐसे वाङ्मय प्रणेता हुए हैं, जिनकी वाणी में श्रद्धा के साथ परीक्षता भी थी। श्रद्धा और ज्ञान की ऐसी एकाकारिता ही वास्तव में उनके जीवन की विशेषता है।

उन्होंने जो कुछ लिखा है ख्याति, प्रतिष्ठा अथवा किसी लौकिकस्वार्थ के लिए नहीं, अपितु स्वान्तः सुखाय अर्थात् स्वपर कल्याण के लिए लिखा है। सच्चा साहित्यिक इसी के लिए लिखता है, पर यह निश्चित है कि ऐसे साहित्यकार बहुत कम होते हैं।

पण्डित टोडरमलजी अमर शहीद थे। उन्होंने धर्मार्थ आत्मोत्सर्ग किया। सुकरात और ईसा की तरह यथार्थ तत्त्व के प्रतिपादन के कारण उन्हें अनेक यातनाएँ एवं कष्ट ही नहीं सहने पड़े, किन्तु असमय में ही उन्हें मृत्यु का भी आलिंगन करना पड़ा। उनकी मृत्यु एक रहस्यमय घटना थी। उन्हें मारकर गुप्त रूप से कूड़े के ढेर में गाड़ दिया गया। उनके निर्दोष तथा लोकह्महितकारी जीवन पर यह कायरतापूर्ण आक्रमण साम्प्रदायिकता का भीषण एवं अमिट अभिशाप तथा मानव इतिहास का अत्यन्त निन्दनीय कलंक है।

पण्डितजी अनासक्त योगी थे। साहित्य-साधना और लोकापकार में वे इतने व्यस्त तथा तन्मय रहते थे कि खाने-पीने तक की भी उन्हें सुध नहीं रहती थी। उनका जीवन प्रवाह लौकिक नहीं; अपितु लोकोत्तर था। इस क्षणभंगुर जीवन में जैसे उनकी थोड़ी सी भी ममता नहीं थी। उनकी माँ उनकी विचित्र गम्भीर स्थिति को देखकर बड़ी हैरान थी। जैसा भी भोजन थाली में आ जाता, वे उसकी सरसता निरसता की ओर बिना ध्यान दिये झटपट खाकर चले जाते। माता ने उनकी मनःस्थिति के परीक्षण के लिए भोजन में नमक डालना बन्द कर दिया; पर उन्हें कहाँ अवकाश था कि यह चीज़ उनके अनुभव में आती। छह माह तक ये धुन के पक्के, साहित्यिक तपसी एवं परिश्रम के पुतले बिना नमक का भोजन करते रहे; और तब एक दिन बोले कि आज तो भोजन में नमक नहीं है। माता ने कहा 'आज तुम्हारी नींद खुली है? क्या तुम्हारा कोई शास्त्र आज पूरा हुआ है? मैं तो तुम्हारे भोजन में महीनों से नमक नहीं डालती। मेरी समझ में नहीं आता तुम्हें हो क्या गया है? जो दूसरे किसी काम की सुध ही नहीं है।' वास्तव में वे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने एवं अन्य लौकिक कामों के लिए नहीं जीते थे। जो इन कामों के लिए जीता है, वह इतने थोड़े समय में इतना असाधारण काम कैसे कर सकता है? चारों ओर समालोचकों, विरोधियों और विघ्नकारियों के बीच वे समुद्र की तरह प्रशान्त और सुमेरु की तरह अचल रहकर साहित्य-साधना के पावनानुष्ठान में अपने को जुटाते रहे, प्रतिक्षण लोकोपकार के महायज्ञ

में अपने को होमते रहे। तभी तो वे उस साम्प्रदायिकता और महन्तवाद के युग में भी अपनी असाधारण प्रतिभा-प्रसूत रचनाओं द्वारा माता सरस्वती के मन्दिर को इस प्रकार सजा सके।

पण्डितजी यद्यपि संस्कृत-प्राकृत भाषा के बहुत बड़े विद्वान थे, फिर भी उन्होंने लोक भाषा में ही ग्रन्थ रचना की। ठीक ही है उन्हें ग्रन्थ-निर्माता कहलाने की लोकेषणा नहीं थी; अपितु अपने साहित्य द्वारा मानव समाज के हित करने की कामना थी। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि, संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों की हिन्दी टीकायें कर आपने लोगों का असीम उपकार किया है। इस समय भारतवर्ष के सारे जैनों में पण्डितजी के ग्रन्थों का प्रचार है। इनके ग्रन्थों को समझने के लिए ही बहुत से मुमुक्षु जैन नर-नारी हिन्दी पढ़ते हैं। इनके और इनके उत्तरवर्ती विद्वानों के कारण हिन्दी के प्रचार में बहुत सहायता मिली है। पण्डितजी के उत्तरवर्ती जयपुरीय विद्वानों ने संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों की हिन्दी व्याख्याओं अथवा स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना द्वारा जो साहित्य सेवा की है, उसकी अन्त:प्रेरणा का हेतु भी पण्डितजी की साहित्य साधना ही है। वास्तव में पण्डितजी एक संस्था थे। वे अपने जीवन के प्रत्येक पल को साहित्य साधना अथवा जन कल्याण में लगाना ही अपना कर्तव्य समझते थे। यदि आततायियों के हाथ उनकी अपमृत्यु न होती; और वे लम्बा जीवन पाते तो वे अवश्य ही धवला, जयधवला एवं महाधवला आदि विशाल सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका कर जाते। उनका ऐसा निश्चित विचार भी था। साधर्मी भाई रायमलजी की चिट्ठी से भी उनके इस विचार का समर्थन होता है। मूड़बिद्री के तत्कालीन ज्योतिर्विद् भट्टारकजी ने जब उनकी जन्मकुण्डली देखी तो कहा, बतलाते हैं कि उनकी (पण्डितजी की) आयु आगे चलती नहीं है इसलिए सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका जैसा महान कार्य उनसे नहीं बन सकता। यह बात हमें चौमू (जयपुर) के वृद्ध सज्जन कहते थे। उनने यह अपने पितामह के मुँह से सुना था। पण्डितजी की ऐसी प्रवृत्तियों से कोई भी यह समझ सकता है कि उन्होंने अपने जीवन का कितना विशाल कार्यक्रम बना रखा था, और उसे पूरा करने की उनमें कितनी स्फूर्ति और लगन थी। वे उस यातायात आदि के सुविधाहीन युग में और साम्प्रदायिकता के महा विषैले समय में जो कुछ कर सके वह आज के इस वैज्ञानिक युग में भी कोई एक क्या अनेकों व्यक्ति मिलकर भी नहीं कर सकते। इसी से उनकी महत्ता लोकोत्तरता और असाधारणता आंकी जा सकती है। इस स्वतन्त्रता के युग में भी आज के पण्डितों में धर्मतत्त्व के प्रतिपादन के विषय में वह दृढ़ता और निर्भीकता कहाँ है, जो उस युग में पण्डितजी में थी।

पण्डित टोडरमलजी के कार्यों का सिंहावलोकन करने से पता चलता है कि, अपने जीवन में वे सदा निष्ठा के साथ अपना कार्य करते रहे। स्व-पर को ज्ञानानन्द की प्राप्ति के सच्चे मार्ग पर लगाकर जैनधर्म का उद्योत करना उनके जीवन का व्रत था, और इसी व्रत की साधना में वे जीवन के अन्तिम क्षणों तक आस्था पूर्वक जुटे रहे। मुलतान के भाईयों के नाम संवत् 1811 में भेजी हुई जो चिट्ठी उपलब्ध है, उसे देखने से अनुमान होता है कि गोम्मटसारादि की भाषा टीका बनाने के पहले भी उन्होंने धार्मिक जगत में अपूर्व आध्यात्मिक रुचि उत्पन्न करने का कार्य प्रारम्भ कर रखा था। विशेष खोज होने

पर सम्भव है कि उनके द्वारा लिखी हुई इस प्रकार की और भी अनेक चिट्ठियाँ मिलें। गोम्मटसार आदि की भाषा टीका के प्रारम्भिक वक्तव्य (पीठिका) को पढ़ने से कोई भी सहज ही समझ सकता है कि; विभिन्न रुचि के लिए उनमें कैसी बलवती इच्छा थी और उसकी पूर्ति के लिए वे कितने प्रयत्नशील थे। इस भाषा टीका के मध्य में स्थान-स्थान पर और सबसे अन्तिम वाक्य में भी उन्होंने अपनी यही उत्कट हार्दिक अभिलाषा प्रकट की हैह्न

'सव जीव ज्ञानानन्द को प्राप्त होउ।' इसलिए सब जीवों को सम्यग्ज्ञान और निरुपाधि आत्मिक सहजानन्द प्राप्त होवेह्नयही एक मात्र उनकी साधना का विषय जान पड़ता है।

उनके जीवन के क्रम को देखिए और उसका बहुभाग जिन ग्रन्थों या भाषा टीकाओं के निर्माण में व्यतीत हुआ उनकी विशेषताओं को देखिये। यदि आपका जन्म संवत् 1797 है तो तब से कोई 11-12 वर्ष की उम्र तक आप विद्याध्ययन करते रहे। 13-14 वर्ष की उम्र होते-होते स्व-पर मत के अनेक ग्रन्थों का अभ्यास करके आप स्व-पर सिद्धान्त पारगामी हो गये और सम्भवत: तभी आप जयपुर से सिंघाणा चले गये। वहाँ तीन साढे.तीन वर्ष के स्वल्प काल में आपने अपने सांसारिक कार्य भी किये और चार विशाल ग्रन्थों की भाषा टीका का महान् कार्य भी। वहाँ से कोई संवत् 1815 में जयपुर आ गये, तब आपके ऊपर गार्हस्थ्य का विशेष भार आ पड़ा। पिताजी की मृत्यु पहले ही हो गई और वे वैवाहिक बन्धन में भी जकड़ दिये गये। संवत् 1816 में और संवत् 1818 में हरिश्चन्द्र तथा गुमानीराम नामक सुपुत्रों के जन्म का प्रसंग गार्हस्थ्य की ओर और भी विशेष ध्यान बँटानेवाला था, फिर भी आप एकनिष्ठ हो अपने अनूदित ग्रन्थों के संशोधन कार्य में तीन वर्ष तक बराबर समय देते ही रहे। जब माघ शुक्ला 5 संवत् 1818 को सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका का संशोधन कार्य पूर्ण हुआ, तभी आपने सन्तोष माना और कृतकृत्यता का अनुभव किया।

आरंभो पूरण भयो, शास्त्र सुखद प्रासाद।
अबैं भए कृतकृत्य हम, पायो अति आह्लाद।।

इस टीका का निर्माण कितनी सावधानी और तल्लीनता से हुआ है; तथा ग्रन्थ के रहस्य को यथावत् समझाने के लिए क्या-क्या विशेष प्रयत्न किया गया है, यह सब उसका पूर्ण अनुशीलन करने पर ही ठीक-ठीक समझ में आ सकता है।

जयपुर के जैंनो व जैनायतनों के लिए वे दिन कितने संकट के थे, इसका इतिहास अब छिपा नहीं। उस कठिन परिस्थिति में धर्म का प्रासाद यदि खड़ा रहा सका तो एकमात्र आप ही इसके अवलम्बन माने जा सकते हैं। आपने जयपुर के बाहर भी समय-समय पर घूमकर क्या-क्या कार्य किया, इसका पूरा इतिहास तो अभी हमारे सामने नहीं; पर समूचे भारतवर्ष में उन दिनों जैनधर्म का उद्योत आप ही के प्रतिभाबल एवं व्यक्तित्व के प्रभाव से फैला, यह सर्व विदित है। संवत् 1821 की लिखी हुई साधर्मी भाई रायमल्लजी की इन्द्र ध्वज पूजा की पत्रिका पढ़िये। आपके सामर्थ्य से जयपुर

में कैसे-कैसे धर्म प्रभावना के कार्य सम्पन्न हुए, यह सहज ही समझ में आ जायेगा। संवत् 1818 के बाद गोम्मटसारादि की टीका की प्रतिलिपियाँ होकर जब भारत के कोने-कोने में पहुँची और वर्षों तक निरन्तर उनके पठन-पाठन का प्रचार हुआ तो जैनों के धार्मिक जगत में एक अद्‌भुत क्रान्ति ने जन्म लिया। इस धार्मिक क्रान्ति का युग परिवर्तन में उन दिनों की आपकी रचना मोक्षमार्गप्रकाशक का भी महत्वपूर्ण एवं असाधारण स्थान है। इस रचना का प्रारम्भ आपने विक्रम संवत् 1819 के लगभग किया होगा। आपके असामयिक निधन के कारण जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह रचना अधूरी ही रह गई। आपकी एक रचना अधूरी और भी पुरुषार्थसिद्धियुपाय की टीका है। जिसे पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल ने संवत् 1827 में पूर्ण किया था। सम्भव है उन दिनों आप पुरुषार्थसिद्धियुपाय की टीका किसी को पढाने के लिए लिख रहे हों और अचानक मृत्यु घटना घटित होने से वह कार्य भी अधूरा ही रह गया हो। आपने आत्मानुशासन की जो भाषा टीका लिखी उसके निर्माण का ठीक काल ज्ञान नहीं हो सका। फिर भी यह तो निश्चित ही है कि उक्त कार्यों में संलग्न रहते हुए ही आपने कभी उस कार्य को भी सम्पन्न किया है। आपकी बनाई हुई एक छोटी सी गोम्मटसार पूजा भी उपलब्ध होती है। सम्भवत: गोम्मटसारादि की 'टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' की समाप्ति के अवसर पर एक आनन्दोत्सव मनाया गया होगा और महान ग्रन्थ की अर्चना के लिए इस पूजा का भी निर्माण कर लिया होगा। अस्तु, इस भाँति पण्डित टोडरमलजी के पूरे जीवन पर दृष्टिपात करने पर यह मानना ही पड़ता है कि वे महान् थे, उनकी आत्मा महान् थी और साथ ही उनका कार्य भी महान् था।

पर यह कितने दु:ख की बात है कि हम जैन अभी तक इस महाविद्वान् का कोई व्यवस्थित एवं प्रामाणिक इतिवृत्त भी प्रकट नहीं कर सके। उनके विषय में यों ही बना ली गई भ्रान्त धारणाओं का प्रचार व प्रकाशित करने के अतिरिक्त क्या और भी कुछ किया है? कई लेखक और इतिहासकार तो अभी तक यह समझ बैठे हैं कि पण्डित टोडरमलजी और दीवान अमरचन्दजी समकालीन थे। और दीवानजी ने ही उन्हें लिखाया पढाया साहित्य रचना आदि के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ जुटायीं। किन्तु यह बिल्कुल असत्य है क्योंकि इन दोनों के समय में काफी अन्तर रहा है। और भी बहुत सी ऐसी ही भ्रान्त धारणाएँ हैं। ऐसी भ्रान्तियों का कारण यही है कि साहित्यान्वेषण एवं पुरातत्त्वानुसन्धान के प्रति जैन समाज की बिल्कुल उपेक्षावृत्ति बनी हुई है। जयपुर एवं उसके आसपास के भण्डारों का आज के पचास वर्ष पहिले यदि वैज्ञानिक अन्वेषण किया जाता तो बहुत सी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती, जो सड़ गई, गल गई या दूसरे कारणों से विनाश के गर्त में पहुँच गई। किन्तु जैन समाज को इसके लिए कहाँ अवकाश है? कहाँ ऐसे पवित्र अनुष्ठानों के लिए पैसा है? उसकी आँखें तो अभी तक भी नहीं खुली हैं।

अब कुछ वर्षों से जयपुर के कुछ उत्साही विद्वानों ने इसके लिए अपना थोड़ा समय देना प्रारम्भ किया है। पर इतने से क्या हो सकता है? ऐसे कार्यों के लिए कई सवैतनिक विद्वानों की आवश्यकता

है जो राजस्थान में घूमकर शास्त्र भण्डारों, प्रतिमाओं और यन्त्रों आदि से जैन पुरातत्त्व की सामग्री एकत्रित करें। टोडरमलजी द्विशताब्दी महोत्सव समारोह के उपलक्ष्य में जो अद्वितीय टोडरमल भवन बना है, उसमें आगे क्या काम होगा यह तो भविष्य बतलावेगा। हमारी कामना है कि यह एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अनुसन्धान केन्द्र बने, जहाँ निरन्तर अन्वेषक विद्वान अनुसन्धान का काम करते रहें।

श्रीमान् सेठ पूरणचन्द्रजी गोदीका जयपुर एवं उनके परिवार ने यह टोडरमल स्मारक भवन बनाकर जो अपनी असाधारण उदारता का परिचय दिया है। इसके लिए उनका और आदरणीय सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का जितना साधुवाद किया जाये उतना ही थोड़ा है; क्योंकि उन्हीं की प्रेरणा से यह सब कुछ हुआ है। ●●

स्मारक के सम्बन्ध में

डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल

पण्डित टोडरमलजी ने जिस अमर साहित्य की रचना की, वही उनकी अमल कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने का अद्वितीय साधन है, फिर भी जयपुर में उनके एक स्मारक भवन की नितान्त आवश्यकता थी। इस आवश्यकता का श्रद्धेय पण्डित चैनसुखदासजी कोई 30-35 वर्ष से अनुभव कर रहे थे। यह विचार बापू नगर की एक सभा में उन्होंने श्रीमान् सेठ पूरणचन्दजी गोदिका के प्रति प्रकट करते हुए 25 हजार रुपये देने के लिए कहा ताकि बाकी के रुपये औरों से इकट्ठे किये जा सकें। इस पर श्री गोदीकाजी ने पण्डितजी को कहा कि औरों से चन्दा माँगने की जरूरत नहीं है, मैं अकेला ही टोडरमल स्मारक भवन बना दूँगा किन्तु इस काम के लिए पहले श्री कानजीस्वामी की अनुमति लेनी पड़ेगी। आप एक विज्ञप्ति बनाइये ताकि सोनगढ. भेजी जा सके। पण्डितजी ने विज्ञप्ति बनायी और वह सोनगढ. तत्काल भेज दी गयी। सोनगढ. से अत्यन्त सन्तोषजनक उत्तर आया और उसी के फलस्वरूप आज इस टोडरमल स्मारक भवन का उद्घाटन हो रहा है। इसके लिए केवल जयपुर जैन समाज ही नहीं समूचा जैन समाज सोनगढ. के सन्त सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का सदा ऋणी रहेगा।

यह स्मारक भवन राजस्थान विश्वविद्यालय के समीप बना है। इसका विशाल भव्य हॉल 105 फीट लम्बा, 65 फीट चौड़ा और 25 फीट ऊँचा है, जिसकी विशेषता यह है कि इसके बीच में कोई खम्भे नहीं हैं और पूरी छत सीमेण्ट कंकरीट की बनी है। इसमें लगभग तीन हजार आदमी आराम से

बैठ सकते हैं। ऐसा सुन्दर हॉल जयपुर में दूसरा कोई नहीं है। हॉल में चारों ओर अलमारियों में शास्त्र भण्डार रहेगा।

इस भवन के दोनों ओर नीचे की मंजिल में आठ-आठ यानी 16 विशाल कमरे हैं तथा उनके ऊपर 9-9 यानी 18 कमरे और हैं, यानी कुल 34 कमरे भवन हॉल के दोनों ओर बने हैं। स्मारक भवन के सामने ही एक विशाल बरामदा है, जिसके दाहिने ओर एक भव्य बड़े कमरे मंजिल चैत्यालय स्थित है, जिसमें भव्य वेदिका में श्री 1008 श्री सीमन्धर भगवान की मूलनायक रूप में व श्री 1008 श्री शान्तिनाथ भगवान तथा 1008 श्री चन्द्रप्रभ भगवान की अति वीतरागभाव द्योतक प्रतिमायें प्रतिष्ठापित होंगी। बरामदे के दूसरी ओर बड़े कमरे में कार्यालय तथा शास्त्र स्वाध्याय व अध्ययन केन्द्र होगाह्नइस बरामदे के नीचे एक विशाल तहखाना भी बना है, जिसमें पण्डित टोडरमलजी स्मारक ग्रन्थमाला का विशाल संग्रह रहेगा। भवन के पीछे की ओर कई कमरों का एक फ्लैट है, जिसमें बाहर से पधारनेवाले विद्वानों तथा अन्य महानुभावों के ठहरने का सुविधाजनक स्थान रहेगा।

अभी गत दिसम्बर माह में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल जयपुर के तत्त्वावधान में आयोजित शिक्षण शिविर के अवसर पर टोडरमल स्मारक महोत्सव आयोजन का जब प्रश्न सामने आया तो उक्त अवसर पर एक जयन्ती स्मारिका निकालने का विचार भी रखा गया, जिसका श्रद्धेय पण्डित चैनसुखदासजी, पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, नेमिचन्दजी पाटनी, भंवरलालजी न्यायतीर्थ आदि सभी ने स्वागत किया। स्मारिका प्रकाशन के प्रस्ताव को जब श्री सेठ पूरणचन्दजी गोदीका के समक्ष रखा गया तो उन्होंने इसकी तत्काल स्वीकृति दे दी और स्मारिका को सर्वांग सुन्दर एवं पठनीय बनाने का आग्रह किया। उसी समय एक सम्पादक मण्डल का गठन किया गया, और स्मारिका के लिये सामग्री संचय का कार्य मुझ पर एवं सम्पादन का भार श्रद्धेय पण्डित चैनसुखदासजी को सौंपा गया।

सामग्री के संकलन के लिये 1-1 माह से अधिक समय नहीं था फिर भी मैंने जिन-जिन विद्वानों से स्मारिका के लिए लेखों की प्रार्थना की, उन्होंने सहर्ष लेख भेजने की अपनी अनुमति दे दी। स्मारिका को सम्पादक मण्डल का सर्वांग सुन्दर बनाने का तथा उसमें उस सभी प्रकार की सामग्री का संकलन करने का प्रयास रहा है, जिससे **पण्डित टोडरमलजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सम्पूर्ण** प्रकाश डाला जा सके। इसमें हम कितने सफल हुए, यह तो पाठकों को देखना है। फिर भी हम उन सभी विद्वानों के जिनके इस स्मारिका में लेख प्रकाशित हुए हैं तथा जिनके लेख प्रकाशित नहीं हो सके हैं, आभारी हैं। श्री टोडरमल स्मारक महोत्सव कमेटी के अध्यक्ष, एवं प्रसिद्ध समाजसेवी श्री पूरणचन्दजी गोदीका ने टोडरमल स्मारक भवन का निर्माण करवा कर तथा पण्डितजी के निधन के 200 वर्षों बाद द्विशताब्दी समारोह मनाकर समाज के समक्ष जो एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है, इसके लिए समाज उनका पूर्ण आभारी है। आशा है भविष्य में जैन समाज अपने सेवकों का इसी तरह आदर करेगा। ●●

अध्यात्म-प्रवक्ता पूज्य श्री कानजीस्वामी

भाई रायमल्ल एवं टोडरमल्लजी

श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने जिस अपूर्व साहित्य का निर्माण किया, उसके प्रेरणास्रोत साधर्मी भाई रायमल्ल थे और पण्डितजी के समय में ही दूर-दूर तक उस साहित्य का प्रचार करने का सर्वोपरि श्रेय भी भाई रायमल्ल को ही है। पण्डित टोडरमल्लजी के साहित्य-सृजन की लगन, उनकी उस छोटी-सी उम्र में हजारों श्लोक प्रमाण रचनाएँ, जनता द्वारा उनके साहित्य का पठन-पाठन और उसमें अत्यन्त अभिरुचि, शिथिलाचार को कंपा देनेवाली जोरदार धार्मिक क्रान्ति, आध्यात्मिक शैली का प्रचार और पण्डितजी का तत्कालीन समाज पर प्रभाव आदि विषयक जो प्रामाणिक इतिवृत्त आज हमें मिल रहा है-वह भाई रायमल्ल की ही देन है। पण्डितजी की साहित्य-साधना का सच्चा मूल्यांकन भाई रायमल्ल ने ही किया और जनता के समक्ष रखा है। स्वयं पण्डित टोडरमल्लजी ने उनके विषय में लिखा है कि - ''रायमल्ल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक। सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यहु उत्तम कारज थयो।''

भाई रायमल्ल का जन्म संवत् 1780 के करीब माना गया है। 13-14 वर्ष की अवस्था से उनके ज्ञान की पिपासा बढ़ने लगी थी। 22 वर्ष की उम्र में साहिपुरा के विद्वान् नीलापति साहूकार से उनका मिलन हुआ और उनसे धार्मिक ज्ञान प्राप्त किया। जिससे स्व-पर का भेदविज्ञान हुआ और तभी आपने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लिया, सर्व प्रकार की हरी एवं रात्रि को जल तक पीने का भी त्याग किया। ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त हुआ, आपकी ज्ञान-पिपासा बढ़ती ही गई। 7 वर्ष तक साहिपुरा रहे और उसके बाद यानी 28-29 वर्ष की अवस्था में पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल से मिलने उदयपुर गये। भाई रायमल्ल ने अपने पत्र में लिखा है कि - ''उहाँ दौलतराम के निमित्त करि दस-बीस साधर्मी वा दस-बीस बायां सहित सैली का बणाव बणि रह्या-ताका अवलोकन करि साहिपुरैं पाछा आयां। पीछै केंताइक दिन रहि टोडरमल्ल जैपुर के साहूकार का पुत्र ताकै विशेष ज्ञान वासूं मिलने के अर्थि जैपुर नगारै आए। सो इहां वाकूं पाया नहीं।''

उनने दौलतरामजी को काफी प्रेरणा दी। स्वयं दौलतरामजी ने पद्मपुराण की प्रशस्ति में लिखा है-

रायमल्ल साधर्मी एक, जाके घट में स्वपर विवेक।
दयावंत गुणवंत सुजान, पर उपकारी परम निधान।
दौलतराम जु ताको मित्र, तासों भाष्यो वचन पवित्र।
पद्मपुराण महा शुभ ग्रंथ, तामें लोक शिखर को पंथ।
भाषा रूप होय जो यह, बहु जन वांचै कर अति नेह।
ताके वचन हिये में धार, भाषा कीनी मति अनुसार।

इसके पश्चात् जयपुर में पण्डित वंशीधरजी से मिलने, वापस आगरा जाने, वहाँ स्याहगंज में भूधरमलजी आदि से मिलने आदि का वर्णन अपने पत्र में किया है। वहाँ से पुन: जयपुर आकर शेखावाटी स्थित सिंघाणा ग्राम गये, जहाँ टोडरमलजी दिल्ली के बड़े साहूकार के यहाँ काम करते थे। संभवत: यह घटना 1812-13 की है। उनने लिखा है कि -

''टोडरमल्लजी सू मिले-नाना प्रकार के प्रश्न कीए। ताका उत्तर एक गोम्मटसार नामा ग्रंथ की साखि-सूं देते भए। ता ग्रंथ की महिमा हम पूर्वै सुणी थी तासूं विशेष देखी-अर टोडरमल्लजी का ज्ञान की महिमा अद्‌भुत देखी।'' उनने टोडरमलजी को काफी प्रेरणा दी कि इन ग्रन्थों की टीका बनाओ, ताकि आगे लोग पढ़ सकें। कुछ विचार पण्डितजी का था ही और भाई रायमल्ल से प्रेरणा मिल गई। शुभ दिन टीका प्रारंभ हुई। फिर लिखा है सो वै तौ टीका बणावते गए हम बाचते गए। बरस तीन मैं..... च्यारि ग्रंथां की 65000 टीका भई। पीछै सवाई जयपुर आए। तहां गोम्मटसारादि च्यारौं ग्रंथां कूं सोधि याकी बहोत प्रति उतराई। जहाँ सैली छी तहां तहां सुधाई सुधाई पधराई। ऐसै यां ग्रंथा का अवतार भया। अबार के अनिष्ट काल विषैं टोडरमल्लजी के ज्ञान का क्षयोपशम विशेष भया। ए गोम्मटसार ग्रंथ का बचनां पांचसै बरस पहली था-ता पीछैं बुद्धि की मंदता करि भाव सहित वचना रहि गया। बहुरि वर्तमान काल विषैं इहां धर्म का निमित्त है तिसा अन्यत्र नाहीं।''

इसके पश्चात् संवत् 1817 में असाढ़ के महीने-श्यामराम द्वारा उपद्रव होने का, डेढ़ वर्ष तक उपद्रव रहने का और पुन: धर्म का उद्योत होने का वर्णन है-लिखा है कि ''ता समै बीस-तीस जिन मंदिर या नग्र विषैं अपूर्व बणे। तिन विषैं दोय जिन मंदिर तेरापंथ्यां की शैली विषैं अद्‌भुत सोभा नै लीयां, बड़ा विस्तार नै धरच्यां बणें, तहां निरन्तर हजारा पुरुष-स्त्री देव लोक की सी नाई चैत्यालैं आय महा पुण्य उपारजें। दीर्घकाल का संच्या पाप ताका क्षय करै, सौ पचास भाई पूजा करने वारे पाइये और नित्यान का सभा के शास्त्र का व्याख्यान विषै पांच सै सात सै पुरुष, तीन सै च्यारि सै स्त्री जन सब मिलि हजारा बारासै पुरुष-स्त्री शास्त्र का श्रवण करैं। बीस तीस बायां शस्त्राभ्यास करैं।''

उस समय की धार्मिक प्रगति का चित्र उक्त पंक्तियों में भाई रायमल्लजी ने खूब ही खेंचा है। इसके अतिरिक्त जयपुर में संवत् 1821 में इन्द्र ध्वज पूजा महोत्सव का विशाल समारोह हुआ था, उसकी जो पत्रिका भाई रायमल्ल ने लिखी है उससे पण्डितजी का, तत्कालीन जयपुर का और धार्मिक उत्थान का सारा चित्र हमारे सामने आ जाता है। पाठक आगे उन्हीं के शब्दों में पूरी पत्रिका पढ़कर उसकी जानकारी करें।

यद्यपि टोडरमलजी के समय के जयपुर का और उनकी मृत्यु घटना का वर्णन श्री बखतराम साह ने अपने बुद्धि विलास में किया है और एक दो गुटकों में भी इसका वर्णन मिलता है-पर उनकी

साहित्य-सेवा का जितना विशद वर्णन भाई रायमल्ल ने किया है-उतना अन्यत्र नहीं। उस इन्द्रध्वज की पत्रिका इस प्रकार है—

इन्द्रध्वज विधान महोत्सव की पत्रिका

''स्वस्ति दिल्ली आगरा आदि नग्र के समस्त जैनी भायां योग्य सवाई जयपुर थी रायमल्ल कैनि श्री शब्द वांचनां। इहां आनंद वर्तै है। थांकै आनंद की वृद्धि हो। थे धर्म के बड़े रोचक हौ। अपरंच इहां सवाई जयपुर नग्र विषै इन्द्रध्वज पूजा सहर के बारै अधकोस परै मोतीडूंगरी निकटि ठाहरी है। पूजा की रचना का प्रारंभ तौ पोस बदि 1 सूं ही होने लागा है। चौसठि गज का चौड़ा इतना ही लाबा एक च्यौंतरा वण्या है। ता उपरि तेरह द्वीप की रचना वणी है। ता विषै यथार्थ च्यारि सै ठावन चैत्यालय, अढाई द्वीप के पांचमेरु, नंदीश्वर द्वीप के बावन पर्वत ता उपरि जिन मंदिर बणें हैं। और अढाई द्वीप विषै क्षेत्र कुलाचल, नदी, पर्वत, वन, समुद्र ता की रचना वणी है। कठै ही कल्पवृक्षां का वन, ता विषै कठै ही चैत्यवृक्ष, कठै ही सामान्य वृक्षां का वन, कठै ही पुष्पवाड़ी, कठै ही सरोवरी, कठै ही कुंड, कठै ही द्रह, कठै ही द्रहमांहिसूं निकसि समुद्र में प्रवेश करती नदी, ताकी रचना वणी है। कठै ही महलां की पंक्ति, कठै ही ध्वजा के समूह, कठैं ही छोटी-छोटी ध्वजा के समूह का निर्मापण हूवा है। पोस बदि 1 सूं लगाय माह सुदि 10 ताई सौ-ड्योढ सै कारीगर रचना करनें वाले-सिलावट, चितेरे, दरजी, खराधी, खाती, सुनार आदि लागे हैं। ताकी महिमा कागद मैं लिखी न जाय, देखें ही जानी जाय। सो ए रचना तौ पत्थर चूना के चौसठि गज का च्यौतरा ता उपरि बणी है। ताकैं च्यारयौं तरफ कपड़ा का सरायचांके कोट वणेगा और च्यारयो तरफ च्यारि वीथी कहिए गली, च्यारयौं तरफ के लोग दरवाजा मैं प्रवेश करि आवनें कौं। ऐसी च्यारा तरफा च्यारि वीथी की रचना, समवसरण की बीथी सादृश्य बनैंगी। अर च्यारा तरफा नैं बड़े बड़े कपड़ा के, वा भोडल का काम के, वा चित्राम का काम के, दरवाजे खडे होयगें। ताकै परैं च्यारयौ तरफ नौबतिखानां सरु होयगें। और च्यौंतरा की आसि पासि सौ दौ सै डेरे तंबू कनात खडे होयगे। और च्यारि हजार रेजा पाघ राती छीट लोंगी आए हैं सो निसान धुजा चंदवा बिछायत विषैं लागैंगे। दोय सै रूपा के छत्र झालरी सहित नवा घडाए हैं। पांच सात इन्द्र बणैंगे, तिनकै मस्तकै धरने कूं पांच सात मीनां का काम के मुकुट वणैंगे। बीस तीस चालीस गड्डी कागदां की बागायति वा पहोपवाडी कै ताई अनेक प्रकार के रंग की रंगी गई है और वीस तीस मण रद्दी कागद लागे है ताकी अनेक तरह की रचना वणी है। पांच सै कडी वा सौटि बांस रचना विषैं लागैंगे और चौसठि गज का च्यौतरा उपरि, आगरा सूं आए, एक ही बडा डेरा धरती सूं बीस गज ऊंचा इकचोभा दोय सैं फरास आदम्यां करि खड़ा होयगा ता करि सर्व च्यौतरा उपरि छाया होयगी। और ता डेरा कै च्यारां तरफा चौईस चौईस द्वार कपड़ा के वा भोडल के झालरी सहित, अंत विषैं च्यौंतरा की कोर उपरि वणैं हैं। च्यारां तरफ के छिनबै द्वार भए। और डेरा कै बीचि ऊपर ने सोनां कै कलस चढे हैं। और ताकै आसि पासि घणां

दरबार का छोटा बड़ा डेरा खड़ा होयगा। ताकै परैं सर्व दिवान मुतसधां का डेरा खडा होइगा ताकै परैं जात्र्यां का डेरा खडा होयगा। और पोस बुदि 1 सुं लगाय पचास रुपयां को रोजीनों कारीगरां को लागै है। सो माह सुदि 10 ताईं लागैगा, पाछै सौ रुपयां को रोजीनों फागण बदि 4 ताईं लागैगा। और तेरा द्वीप तेरा समुद्रा कै बीचि-बीचि छब्बीस कोट बणैंगा और दरबार की नाना तरह की जलूसी आई है, अथवा आगरै इन्द्रध्वज पूजा पूर्वै हुई थी ताको सारो मसालो व जलूस इहां आया है, और इहां सर्व सामग्री का निमत्त अन्य जायगा तैं प्रचुर पाइये है, तातें मनोरथ अनुसारि कार्य सिद्धि होंहिंगे एह सारी रचना द्वीप, नदी, कुलाचल, पर्वत आदि की घनरूप जाननी, चावल, रोली का मंडल की नांई प्रतर रूप नाहीं जाननी।

ए रचना त्रिलोकसार ग्रंथ कै अनुसारि बणी है। और पूजा का विधान, इंद्रध्वज पूजा का पाठ संस्कृत श्लोक हजार तीन 3000 ताकै अनुसारि होयगा। च्यारां तरफां-नैं च्यारिबड़ी गंधकुटी, ता विषैं बड़े बिंब विराजैंगे। तिनका पूजन च्यारा तरफां युगपत् प्रभाति मुखिया साधर्मी करैगे। पीछें च्यारा तरफा जुदा जुदा महत् बुद्धि का धारक मुखिया साधर्मी शास्त्र का व्याख्यान करैंगे। देश देश के जात्री आए वा इहां कै सर्व मिलि शास्त्र का उपदेश सुणैंगे। पीछैं आहार लेना आदि शरीर का साधन करि दोपहर दिन चढ़े तैं लगाय दोय घड़ी दिन रहें पर्यंत सुदर्शन मेरु का चैत्यालय सूं लगाय सर्व चैत्यालया का पूजन इंद्रध्वजपूजा अनुसारि होयगा। पीछैं च्योंतरा की तीन प्रदक्षिणा देय च्यारा तरफा आरती होयगी। पीछै सर्व रात्रि विषै च्यारा तरफा जागरण होयगा। और सर्वत्र रूपा सोनां के जरी का वा तबक का वा चित्राम का वा भोडल के काम का समवसरणवत जगमगाट नैं लीयां सोभा बनैंगी। और लाखा रूपा सोना के दीप वा फूल पूजन कै ताई बने हैं। और एक कलका रथ वण्या है, सो बिना वलधा, बिना आदम्या, कलके फेरनें करि मन करैगा। ता ऊपरि भी श्री जी विराजैगे। और भी अनेक तरह की असवारी वणैंगी। इत्यादि अद्भुत आश्चर्यकारी सोभा जानौगे और सौ-दो सै कोस के जैनी भाई सर्व-सर्व संग बणाय कबीला सुधा आवेंगे अर इहां जैनी लोगा का समूह हैही।

अर माह सुदि दसै कै दिनि लाखा आदमी अनेक हाथी घोरे पालिकी निसाण अनेक नौवति नगारे आखी बाजे सहित बड़ा उछव सू, इंद्रां करि करी हुई भक्ति ता की उपमानैं लीयां, ता साहत चैत्यालय सूं श्री जी रथ उपरि विराजमान होइ, वा हाथी कै हौदे विराजमान होई, सहर कै वारैं तेरह द्वीप की रचना विषैं जाय विराजैगे। सो फागुण वदि 4 ताईं तहां ही पूजन होयगा। वा नित्य शास्त्र का व्याख्यान, तत्त्वा का निर्णय, पठन पाठन जागरण आदि शुभ कार्य चौथि ताईं उहां ही होयगा। पीछैं श्री जी चैत्यालय आय विराजैंगे। तहां पीछैं भी देश देश के जात्री पांच सात दिन पर्यन्त और रहैगे। ईं भांति उछव की महिमा जानोंगे। तातैं अपनें कृतार्थ कै अर्थि सर्व देस वा परदेस, के जैनी भायां कूं अगाऊ समाचार दे बाकूं साथि ले, संग वणाय, मुहूर्त्त पहली पांच सात दिन सीघ्र आवो। ए उछव फेरि ईं पर्याय मैं देखणां दुर्लभ है। ए कार्य दरबार की आज्ञा सूं हूवा है और ए हुकुम हुवा है जो ''थाकै पूजाजी कै

अर्थि जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सूं ले जावो।'' सो ए बात उचित ही है। ए धर्म राजा का चलायाही चालै। राजा का सहाय विनां ऐसा महत परम कल्याण रूप कार्य वर्णै नांही। अर दोन्यूं दीवान रतनचंद वा बालचंद या कार्य विषै अग्रेश्वरी हैं, तातैं विशेष प्रभावना होयगी और इहां बड़े-बड़े अपूर्व जिन मंदिर वणें हैं। सभा विषै गोम्मटसारजी का व्याख्यान होय है। सो बरस दोय तो हूवा, अर वरस दोय तांई और होइगा। एह व्याख्यान टोडरमल्लजी करै है। और इहां गोम्मटसार ग्रंथ की हजार अठसीस 38000, लब्धिसार क्षपणासार ग्रंथ की हजार तेरा 13000, त्रिलोकसार ग्रंथ की हजार चौदह 14000, मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ की हजार बीस 20000, बड़ा पद्मपुराण ग्रंथ की हजार बीस 20000 टीका वणी है ताका दर्शन होयगा। और इहां बड़े-बड़े संयमी पंडित पाईये हैं ता का मिलाप होइगा।

सिद्धान्त ग्रन्थों की प्राप्त्यार्थ जयपुर का प्रयत्न :

और दोय च्यारि भाई धवल महाधवल जयधवल लेनें कूं दक्षिण विषै जैनबद्री नगर वा समुद्र ताईं गए थे। उहां जैनवद्री विषै धवलादि सिद्धांत ताडपत्रां विषै लिख्या कर्णाटी लिपि मैं विराजै है। ताकी एक लाख सत्तरि हजार मूल गाथा है। ता विषै सत्तरि हजार धवल की, साठि हजार जयधवल की, चालीस हजार महाधवल की है। ताका कोई अधिकार कै अनुसारि गोमटसार लब्धिसार क्षपणासार वणे हैं। अर उहां के राजा वा रैति सर्व जैनी है। अर मुनि धर्म का उहां भी अभाव है। थोरे से वरस पहली यथार्थ लिंग के धारक मुनि थे। अबै काल के दोष करि नांही। अगल-बगल क्षेत्र घणां ही है, तहां होयगा और उहां कोड्यां रुपयां के काम के, सिंगी बंध, मौंघा मोल के पथरनिके वा ऊपरि सर्वत्र तांबा के पत्रा जड़े ताकैं तीन कोट ताका पाव कोस व्यास है ऐसे सोला बडा बडा जिन मंदिर विराजै हैं। ता विषै मूग्या लसण्या आदि रतन के छोटे जिन बिंब घणां विराजै है। और उहां, अष्टाह्निका का दिना विषै रथयात्रा का बड़ा उछव होइ है। और उहां एक अठारा धनुष ऊंचा, एक नौ धनुष ऊंचा, एक तीन धनुष ऊंचा कायोत्सर्ग जुदा जुदा तीन देशां विषैं तीन जिन बिम्ब तिष्ठै है। ता की यात्रा जुरै है। ता का निराभरण पूजन होय है। ता का नाम गोमट्टस्वामी है। ऐसा गोमट्टस्वामी आदि घणां तीर्थ है। वा उहां सीत काल विषै ग्रीष्म रितु की सी उष्णता पाइये है। उहां मुख्यापनै चावलों का भखन विशेष है। उहां की भाषा विषै इहां के समझैं नाही। इहां की भाषा विषै उहां के समझैं नाहीं। दुभाष्या तैं समझाया जाय है। सो सुरंगपट्टण पर्यंत तौ इहां के देश के थोरे बहुत पाईए हैं। तातैं इहां की भाषा कूं समझाय दे हैं। अर सुरंगपट्टण के मनुष्य भी वैसे ही बोलै हैं। तहां पर इहां का देस के लोग नाहीं। सुरंगपट्टण आदि सूं साथि ले गया जाय हैं सो ताका अवलोकन करि आए हैं।

इहां सूं हजार वारासै कोस परै जैनवद्री-नग्र है। तहां जिन मंदिर विषैं धवलादि सिद्धान्त नैं आदि दे और भी पूर्व वा अपूर्व ताडपत्रां मैं वा वास के कागदा मैं कर्णाटी लिपि मै वा मरहटी लिपि मैं वा

गुजराती लिपि मैं वा तिलंग देश की लिपि मैं वा इहां के देश की लिपि मैं लिख्या बहु गाडां के भार शास्त्र जैन के सर्व प्रकार के-यतियाचार या श्रावकाचार वा तीन लोक का वर्णन के वा विशेष वारीक चर्चा के, वा महत पुरुषां के कथन का पुराण, वा मंत्र, यंत्र, तंत्र, छंद, अलंकार काव्य, व्याकरण न्याय, एकार्थकोस नाम माला आदि जुदे जुदे शास्त्र के समूह उहां पाईए है। और भी उहां बड़ा बडा सहर पाइये है ता विषैं भी शास्त्रां का समूह तिष्ठै है। घणां शास्त्र तौ ऐसा है सो बुद्धि की मंदता करि कहीं सूं खुलै नाहीं। सुगम है ते बचै ही है। उहां के राजा वा रैतिभी जैनी है। वा सुरंगपट्टण विषै पचास घर जैनी ब्राह्मणां का है। वा का राजा भी थोड़ा सा बरस पहली जैनी था। इहां सूं साढा तीन सैं कोस परै नौरंगाबाद है। ताकै परैं पांच सैं कोश सुरंगपट्टण है। ताकै परैं दोय सै कोस जैनबद्री है। ता उरै बीचि बीचि घणां ही बड़ा बड़ा नग्र पाइये है। ता विषै बड़ें बड़ें जिन मंदिर विराजै हैं और जैनी लोग के समूह बसैं हैं। और जैनवद्री परैं च्यार कोस खाड़ी समुद्र है इत्यादि ताकी अद्भुत वार्ता जानोगे धवलादि सिद्धांत तौ उहां भी बचै नाहीं है। दर्शन करने मात्र ही है। उहां वाकी यात्रा जुरै हैं। अर देव वाका रक्षिक है। तातै ईं देश में सिद्धांता का आगमन हूवा नहीं। रुपया हजार दोय 2000) पांच सात आदम्यां कै जावै आवै खरचि पड्या। एक साधर्मी डालूराम की उहां ही पर्याय पूरी हुई। वां सिद्धांता के रक्षिकदेव डालूराम कै स्वप्नै आए थे। तानैं ऐसा कह्या-हे भाई तू यां सिद्धांता नैं लेनें कूं आया है सो ए सिद्धांत वा देश विषैं नाही पधारैंगे। उहां म्लेच्छ पुरुषां का राज हैं। तातैं जानें का नांही। बहुरि या बात के उपाय करनें में बरस च्यारि पांच लागा। पांच विश्वा औरूं भी उपाय वर्त्तै है।

मलयखेडा में भी तीनों सिद्धांत ग्रंथ थे

औरंगाबाद सूं सौ कोस परैं एक मलयखेड़ा है, तहां भी तीनू सिद्धांत विराजै है। सो नौरंगाबाद विषै बड़े बड़े लखेश्वरी, विशेष पुन्यवान, जाकी जिहाज चालै, अर जाका नवाब सहायक, ऐसा नेमीदास, अविचलराय, अमृतराय, अमीचन्द, मजलसिराय, हुकमचन्द, कौंलापति आदि सौ पचास पांणी पंथ्था अग्रवाले जैनी साधर्मी उहां है। ताकै मलयखेडा सूं सिद्धान्त मंगायबे का उपाय है सो देखिए ए कार्य वणनैं विषैं कठिनता विशेष हैं। ताकी वार्त्ता जानोगे।

भाई रायमल्ल की मेवाड़ यात्रा

और हम मेवाड़ विषें गये थे। सो उहां चीत्तोडगढ है ताकैं तलै तलहटी नग्र बसै है। सो उहां तलहटी विषै हवेली निर्मापणा कै अर्थि भोमि खणतै (भूमि खोदते हुए) एक भैहरा निकस्या। ता विषै सोला बिंब, फटिकमणि सादृश्य, महा मनोज्ञ उपमा रहित, पद्म आसण विराजमान पंद्रा-सोला बरस का पुरुष के आकार सादृश्य परिणाम नैं लीयां, जिनबिंब नीसरे। ता विषैं एक महाराजि बावन के साल का प्रतिष्ठ्या हुवा भौंहरा का अतिशय सहित नीसरे। और घणां जिनबिंब वा उपकरण धातु के नीसरे ता

विषैं सुवर्ण, पीतल सादृश्य दीसै, ते नीसरे। सो धातु का महाराजि तौ गढ उपरि भौंहरा विषै विराजै है। उपरि किल्लादार वा जोगी रहे है। ताकै हाथि ता भौंहरा की कूंची है। और पाषाण के विंव तलहटी के मन्दिर विषैं विराजै है। घर सौ उहां महाजन लोगा का है। ता विषै आधे जैनी है। आधे महेश्वरी है। सो उहां की यात्रा हम करि आए। ताके दरसण लाभ की महिमा वचन अगोचर है। सो भी वार्ता थें जानोंगे।

सातिशय ज्ञानी पण्डित टोडरमल्लजी :

और कोई थाकै मानविषै प्रश्न होय वा संदेह होय ताकी विशुद्धता होयगी। और गोम्मटसारादि ग्रंथां की अनेक अपूर्व चर्चा जानोंगे। इहां घणां भायां कै गोमटसारादि ग्रंथ का अध्ययन पाइये हैं। और घणी वायां कै व्याकरण वा गोमट्टसारजी की चर्चा का ज्ञान पाइये हैं; विशेष धर्म बुद्धि है ता का मिलाप होयगा। सारा ही विषै भाईजी टोडरमल्लजी कै ज्ञान का क्षयोपशम अलौकीक है; जो गोमट्टसारादि ग्रंथा की संपूर्ण लाख श्लोक टीका वणाई और पांच सात ग्रंथा की टीका वणायवे का उपाय है सो आयु की अधिकता हूंवा वणैंगा। अर धवल महाधवलादि ग्रंथा के खोलवा का उपाय कीया वा उहां दक्षिण देस सूं पांच सात और ग्रंथ ताडपत्रां विषै कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहां पधारे हैं ताकूं मल्लजी वांचै है, वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा कर्णाटी लिपि मैं लिखिले हैं। इत्यादि न्याय-व्याकरण, गणित, छंद, अलंकार का याकै ज्ञान पाइये है, ऐसे पुरुष महत बुद्धि का धारक ईं काल विषै होनां दुर्लभ है तातै यां सूं मिलें सर्व संदेह दूरि होइ है, घणी लिखवा करि कहा, अपणां हित का बांछीक पुरुष सीघ्र आय यासूं मिलाप करो। और भी देश-देश के साधर्मी भाई आवैंगे तासूं मिलाप होयगा।

जयपुर में जैन धर्म की प्रभावना के वे दिन :

और इहां दश वारा लेखक सदैव सासते जिनवाणी लिखते हैं वा सोधते हैं। और एक ब्राह्मण महैंनदार चाकर राख्या है सो बीस-तीस लड़के वालकन कूं न्याय, व्याकरण, गणित, शास्त्र पढ़ावै है। और सौ-पचास भाई वा बायां चर्चा व्याकरण का अध्ययन करै हैं। नित्य सौ-पचास जायगा जिन-पूजन होइ है-इत्यादि इहां जिन धर्म की विशेष महिमा जाननी।

जयपुर या जैनपुर :

और ईं नग्र विषै सात विसन का अभाव हैं। भावार्थ-ईं नग्र विषै कलाल, कसाई, वेश्या न पाइये है। अर जीव हिंसा की भी मनाई है। राजा का नाम माधवसिंह है। ताके राज विषै वर्तमान (इस समय) एते कुविसन दरवार की आज्ञातैं न पाइये है। अर जैनी लोग का समूह बसै है। दरबार कै मुतसद्दी सर्व जैनी है। और साहूकार लोग सर्व जैनी है। जद्यपि और भी हैं, परिगौणता रूप है, मुख्यता रूप नांही। छह सात वा आठ दस हजार जैनी महाजनां का घर पाइये है। ऐसा जैनी लागों का समूह और नग्र विषै नाहीं। और इहां के देश विषै सर्वत्र मुख्य पणै श्रावगी लोग वसै है। तातैं एह नग्र वा देश बहोत निर्मल

पवित्र है। तातैं धर्मात्मा पुरुष वसनें का स्थानक है। अवार तौ ए साक्षात् धर्मपुरी है। बहुरि देखो ए प्राणी कर्म-कार्य के अर्थि तौ समुद्र पर्यंत जाय हैं वा विवाहादिकार्य विषैं भी सौ-पचास कोस जाय है, अर मन-मान्या-द्रव्यादिक खरचै है। ताका फल तौ नर्क निगोदादि है। ता कार्य विषै तौ या जीव कै ऐसी आसक्तता पाइये है। सो ए तौ वासना सर्व जीवनि कै बिना सिखाई हुई स्वयमेव वणि रही है। परतु धर्म की लगनि कोई सत्पुरुषां कै ही पाइये है। विषय कार्य के पोषने वाले तौ पैंड पैंड विषै देखिए है। परमार्थ कार्य के उपदेशक वा रोचक महा दुर्लभ बिरले ठिकाणैं कोई काल विषै पाइये है। तातैं याकी प्रापति महा भाग्य के उदै काललब्धि कै अनुसारि होय है। यह मनुष्य पर्याय जावक खिनभंगुर ता विषै भी अबार के काल मैं जावक अल्प वीजुरी का चमत्कारवत थिति है। ता कै विषै नफा टोटा बहुत है। एकां तरफ नैं तौ विषय कषाय का फल नरकादिक अनंत संसार का दुख है। एकां तरफ नैं सुभ सुद्ध धर्म का फल स्वर्ग-मोक्ष है। थोड़ा-परणामां का विशेष करि कार्य विषै एता तफावत परै है। सर्व बात विषै एह न्याय है-बीज तो सर्व का तुच्छ ही होई है, अर फल वाका अपरंपार लागै है। तातैं ज्ञानी विचक्षण पुरुषन कै एक धर्म ही उपादेय है। अनंतानंत सागर पर्यंतकाल एकेंद्री विषैं वितीत करैं है तब एक पर्याय त्रस का पावै है। ऐसा त्रस-पर्याय का पायवा दुर्लभ है तौ मनुष्यपर्याय पायवा की कहा बात? ता विषैं भी उच्च कुल, पूरी आयु, इन्द्री प्रबल, निरोग शरीर, आजीवका की थिरता, सुभ क्षेत्र, सुभ काल, जिनधर्म का अनुराग ज्ञान का विशेष क्षयोपशम, परणामां की विशुद्धता, ए अनुक्रम करि दुर्लभ सूं दुर्लभ ए जीव पावै है। कैसे दुर्लभ पावै है? अबार ऐसा संयोग मिल्या है सो पूर्वैं अनादि काल का नहीं मिल्या होगा। जै ऐसा संजोग मिल्या होय तौ फेरि संसार विषै क्यां मैंनै रहे? जिनधर्म का प्रताप ऐसा नाहीं के सांची प्रतीति आयां फेरि संसार के दुख कूं पावै। तांतैं थे बुद्धिवान हौ। जामै अपना हित सधै सो करनां। धर्म के अर्थी पुरुष नैं तौ थोडा सा ही उपदेश घणां होइ परणमै है। घणी कहवा करि कहा?

और ईं चीठी की नकल दश बीस और चीठी उतराय उहां के आसि पासि जहां जैनी लोग बसते होइ तहां भेजनी। एक चीठी सर्व जैनी भायां कूं एकठे करि ताकै बीचि बांचणी। ताकूं या का रहस्य सर्व कूं समझाय दैना चीठी की पहोंचि सिताबी पाछी लिखनी। लिख्या बिनां चीठी पहोंची वा न पहौंची की खबरि पडै नांही। आवा न आवा की खबरि पडै नाही। मिती माह बदि 9 संवत् 1821 का।

भाई रायमल्ल के उक्त पत्र द्वारा पण्डित टोडरमलजी के समय की धार्मिक प्रगति और उनका प्रभाव आदि सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। सचमुच भाई रायमल्ल की धार्मिक लगन सराहनीय थी- पण्डित टोडरमलजी साहित्य लिखते और ये प्रचार करते जाते। दोनों का अपूर्व जोड़ा था। शान्तिनाथ पुराण के यह वाक्य बिल्कुल सत्य हैं कि -

जुगल मल्ल जब ये जुरैं, और मल्ल किहि काज।

संयोग की बात है कि पण्डित टोडरमलजी ने सर्व प्रथम साहित्य रचना-रहस्यमय चिट्ठी मुलतान के भाईयों को फाल्गुन मास में लिखी। उसके दस वर्ष पश्चात् संवत् 1821 में इसी फाल्गुन मास में जयपुर में मोती डूंगरी के पास इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव हुआ और 202 वर्ष बाद उसी मोती डूंगरी के समीप उसी फाल्गुन मास में दानवीर सेठ श्री पूरणचन्दजी गोदीका एवं उनके परिवार द्वारा 11 दिवसीय विशाल उत्सव आयोजन किया है; और फाल्गुन शुक्ला 2 को विशाल स्मारक भवन का उद्घाटन अध्यात्मप्रवक्ता श्री कानजीस्वामी द्वारा हो रहा है। यहाँ से अध्यात्मधारा सदा प्रवाहित होती रहे-यही कामना है। ●●

'वासी श्री जयपुर तनौ, टोडरमल्ल क्रिपाल।
ता प्रसंग को पाय के, गह्यो सुपंथ विशाल।।
गोमठसारादिक तने, सिद्धांतन मैं सार।
प्रबर बोध जिनके उदै, महा कवी निरधार।।
फुनि ताके तट दूसरो, राजमल्ल बुधराज।
जुगल मल्ल जब ये जुरे, और मल्ल किह काज।।
देश ढुंढाहार आदि दै, संबोधे बहु देस।
रचि रचि ग्रंथ कठिन किये, टोडरमल्ल महेश।।

- शान्तिनाथ पुराण, आरा-भवन'

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम.ए., पी-एच.डी.

पंडित टोडरमलजी गत दो शताब्दियों में होनेवाले प्रथम जैन विद्वान हैं, जिनकी सेवाओं के प्रति सारे जैन जगत का हृदय श्रद्धा एवं भक्ति से ओत-प्रोत है। उनके नाम के स्मरण-मात्र से एक आनन्दानुभूति होती है। वे एक ऐसे निस्वार्थ सेवी थे जिन पर किसी भी देश व समाज को गर्व हो सकता है। उन्होंने अपने अल्प-जीवन में जिस महान कार्य का सम्पादन किया, उस पर अच्छे से अच्छे कर्मठ कार्यकर्ता अथवा साहित्य-सेवी भी आश्चय कर सकते हैं। वे सरस्वती के वरद पुत्र थे। इसलिए उन्हें संस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषा का अल्पवय में ही गहरा ज्ञान हो गया। 15-16 वर्ष की अवस्था के पूर्व ही वे जैन-दर्शन एवं सिद्धान्त के प्रमुख वक्ता माने जाने लगे थे। जैसे श्री शंकराचार्य ने 32 वर्ष की अवस्था में सारे भारत का भ्रमण करके 'अद्वैत दर्शन' का जबरदस्त प्रचार किया। उसी प्रकार पंडित टोडरमलजी ने भी 26-27 वर्ष की अवस्था तक ही एक ही स्थान पर रहते हुए भी सारे देश में जैन-सिद्धान्तों का प्रचार किया। उत्तर में मुलतान एवं दक्षिण में 'मूढ़ बिद्री' तक उनकी रचनाएँ लोक-प्रिय हो गईं और जनता ने उनका तन्मय होकर होकर स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया।

जन्म :

टोडरमलजी पर राजस्थान और विशेषत: जयपुर नगर को गर्व है कि उन्होंने उसकी परिधि में जन्म लिया और ज्ञानाराधना एवं क्रान्तिकारी विचारों के आधार पर महान क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनकी जन्म तिथि के बारे में अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका, क्योंकि न तो स्वयं उन्होंने और न उनके पीछे होनेवाले विद्वानों ने ही इस संबंध में कोई उल्लेख किया है। लेकिन अबतक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनका जन्म सं० 1797 के आसपास हुआ था। उस समय जयपुर नगर को स्थापित हुए अधिक समय नहीं हुआ था। इसलिए 'नगर निर्माण' की प्रथम बेला में जन्म लेकर उन्होंने समाज को नवीन ढांचे में ढालने के लिए शिल्पकार का कार्य भी किया।

नव क्रान्ति का सूत्रपात :

उस समय देश मुगल-साम्राज्य के आधिपत्य से छुटकारा पा रहा था तथा राजस्थान में मराठों के आक्रमण से पूर्ण शान्ति नहीं थी। ऐसे संक्रमण काल में टोडरमलजी ने देश निवासियों का अज्ञानांधकार दूर करने का पूरा प्रयत्न किया। अन्ध विश्वास, कुरीतियों एवं शिथिलाचार ने जनमानस को गुलाम बना दिया था। पण्डितजी ने उनके विरुद्ध आवाज उठायी। सादा-जीवन एवं शुद्धाचरण उनके प्रवचन के प्रमुख अंग थे। उनके समय में जो पूजा-पाठ एवं धर्म-सेवन की परिपाटी चली आ रही थी, उस पर उन्होंनं गहरी टीका टिप्पण की, किंतु अपने प्रवचनों के द्वारा जीवन में विशुद्ध धर्म उतारने पर

जोर दिया। और अपने अल्प जीवन में ही पर्याप्त जागृति एवं स्फूर्ति फैला दी। इसलिए उन्हें 'क्रान्तिकारी' समाज-सुधारक आदि उपाधियों से संबोधित किया जाता रहा है।

विद्वानों द्वारा स्मरण :

'महा पंडित टोडरमलजी' अपने समय के इतने प्रतिभाशाली विद्वान थे कि उनके पीछे होनेवाले सभी विद्वानों ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। साधर्मी भाई रायमल्ल, जो टोडरमलजी के समय के अच्छे विद्वान ही नहीं, किंतु जिनके हृदय में धर्म प्रचार एवं साहित्य-प्रचार की उत्कट अभिलाषा थी-वे स्वयं टोडरमलजी से मिलने गये-उन्होंने टोडरमलजी का निम्न शब्दों में परिचय दिया है :-

''पीछे केताइक दिन रहि टोडरमल जयपुर के साहूकार का पुत्र ताकै विशेष ज्ञान जानि वासूं मिलने के अर्थि जैपुरि नगरी आइ सो इहां वाकूं नहीं पाया।''

''पीछे सेखावाटी विषैं सिंघाणा नग्र तहां टोडरमलजी एक दिल्ली का साहूकार साधर्मी ताकै समीप कर्म-कार्य कै अर्थि वहां रहै, तहां हम गए। अर टोडरमलजी सूं नाना प्रश्न किए। ताका उत्तर एक गोम्मट्टसार नामा ग्रंथ की साखि सूं देते भए। ता ग्रंथ की महिमा हम पूर्वैं सुणी थी तासूं विशेष देखी। अर टोडरमलजी के ज्ञान की महिमा अद्भुत देखी।''

''सभा विषै गोमट्टसारजी का व्याख्या होय है। सो वरस-दोय तो हुआ और वरस तीन ताई और होइगा। यह व्याख्यान टोडरमलजी करै है।''

उक्त कुछ उद्धरणों से पता चलता है कि टोडरमलजी कितने मेधावी थे और उनकी ज्ञान की शक्ति कितनी विशद एवं विशाल थी? जो भी एक बार उनसे मिल लेता, वह उनका होकर वहीं रह जाता।

राजस्थान के उत्साही विद्वान् पं० देवीदास गोधा ने अपने सिद्धांतसार संग्रह वचनिका में टोडरमलजी के सम्बन्ध परिचय देते हुए लिखा है :-

''सो दिल्ली पढ़ि कर बसुवा आय पाछै जयपुर में थोड़ा दिन टोडरमल्लजी महा बुद्धिमान के पासि शास्त्र-सुनने को मिल्या ..... सो टोडरमलजी के जो श्रोता विशेष बुद्धिमान दीवान रतनचन्दजी, अजबरायजी, तिलोकचन्दजी पाटणी, महारामजी, विशेष चरचावान ओसवाल, क्रियावान उदासीन तथा तिलोकचन्द सौगाणी, नयनचन्दजी पाटनी इत्यादि टोडरमलजी के श्रोता विशेष बुद्धिमान तिनके आगे शास्त्र का तो व्याख्यान किया।''

पंडित जयचन्दजी छाबड़ा तो टोडरमलजी की परम्परा में होनेवाले महान् साहित्यसेवी विद्वान् थे। इन्होंने साहित्य की जो सेवा की है - वह सदैव उल्लेखनीय रहेगी। टोडरमलजी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है-

'टोडरमल पंडित मतिखरी, गोम्मटसार वचनिकाकरी।
ताकी महिमा सब जन करे, वाचै पढ़े बुद्धि विस्तरै।।'

पारसदास निगोत्या जब जयपुर के विद्वानों की नामावली गिनाने लगे तो उन्होंने पंडित टोडरमलजी को निम्न शब्दों में प्रथम बताया।

प्रथमहि टोडरमल्लज जू भये तथा जयचन्द।
नन्दलाल हमरे पिता ऋषभदास गुणवृन्द।।

आरा के सिद्धांत भवन में संगृहीत 'शांतिनाथ पुराण' की प्रशस्ति में टोडरमलजी के बारे में जो वर्णन मिलता है, उससे उनका साहित्यिक व्यक्तित्व और भी निखर जाता है –

वासी श्री जयपुर तनौ, टोडरमल्ल क्रिपाल।
ता प्रसंग को पाय कै, गह्यो सुपंथ विशाल।।
गोमठसारादिक तने, सिद्धान्तन में सार।
प्रवर बोध जिनके उदैं, महाकवि निरधार।।
फुनि ताके तट दूसरो, राजमल्ल बुधराज।
जुगल मल्ल जब ये जुरे, और मल्ल किह काज।।
देश ढूंढाहड आदि दै, सम्बोधे बहु देस।
रचि रचि ग्रंथ कठिन किये, 'टोडरमल' महेश।।

बचपन –

टोडरमलजी का बाल्य जीवन अच्छी तरह व्यतीत हुआ था। अपने पिता जोगीदास के ये इकलौते पुत्र थे। इसलिए इनके लालन पालन पर पूरा ध्यान रखा गया। इनकी विलक्षण एवं व्युत्पन्न मति को देखकर माता-पिता ने इन्हें पढ़ा लिखाकर योग्यतम पुत्र बनाने का निश्चय किया। वाराणसी से एक विद्वान इन्हें व्याकरण, दर्शन आदि विषय पढ़ाने के लिए बुलाया गया। लेकिन अपने विद्यार्थी की व्युत्पन्नमति एवं स्मरण शक्ति को देखकर गुरुजी भी दंग रह गये और उन्होंने तब तो और भी आश्चर्य किया जब बालक टोडरमल अपने गुरु से भी अधिक स्पष्ट सूत्रों की व्याख्या करके उन्हें सुना दिया करते थे। छह मास में ही इन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण को पूर्ण कर लिया तथा उसके पश्चात समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, तत्वार्थसूत्र, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड और आत्मानुशासन आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय कर लिया।

प्रथम कृति –

इनकी मेधा शक्ति व सिद्धांत ज्ञान का पता शीघ्र ही तत्कालीन जयपुर समाज को ही नहीं किंतु मुलतान तक इनकी प्रसिद्धि फैल गयी और संवत् 1811 में रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखकर अपने अद्भुत

सिद्धान्त ज्ञान का प्रथम परिचय दिया। यह इनकी प्रथम कृति थी। यद्यपि यह अधिक बड़ी बात नहीं है, क्योंकि वह तो एक पत्र के रूप में है लेकिन उसमें कुछ उलझे प्रश्नों को उठाकर जिस प्रकार समाधान किया गया है, वह प्रत्येक पाठक को विस्मय में डालनेवाला है। यह घटना कोई उनके 15वें वर्ष की होगी।

सिंघाणा प्रवास –

अपना अध्ययन समाप्त होने के पश्चात् धनोपार्जन के लिये इन्हें सिंघाणा (शेखावटी) जाना पड़ा। इससे जान पड़ता है कि उस समय के पूर्व ही इनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था। वहाँ भी टोडरमलजी अपने कार्य के अतिरिक्त सारा समय शास्त्र स्वाध्याय में लगाते। कुछ समय पश्चात् ही तत्कालीन समाजसेवी एवं स्वाध्याय प्रेमी भाई रायमल्ल उनके पास अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिये सिंघाणा पहुंच गये। टोडरमलजी की नैसर्गिक प्रतिभा देखकर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए और उनसे गोम्मटसार नामक प्राकृत भाषा के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का भाषानुवाद करने का आग्रह किया। भाई रायमल्लजी के वे शब्द पढ़ने योग्य हैं –

''पाछै उनसू हम कही–तुम्हारै या ग्रंथ परचै निर्मल भया है, तुमकरि या की भाषा टीका होय तौ घणां जीवां का कल्याण होइ, और जिनधर्म का उद्योत होइ। अब ही अब काल के दोष करि जीवां की बुद्धि तुच्छ रही तो आगै यातैं भी अल्प रहेगी।''

फिर क्या था। दोनों ही महापुरुष इस साहित्य यज्ञ में जुट गये। यह कार्य लगातार तीन वर्ष तक चलता रहा। टोडरमलजी गोम्मटसार की भाषा टीका बनाते जाते और भाई रायमल्लजी उसे पढ़ते जाते। और इस प्रकार तीन वर्ष के अल्प समय में गोम्मटसार (38 हजार श्लोक प्रभाव) लब्धिसार क्षपणासार (13000) एवं त्रिलोकसार (14000) इन चारों ग्रंथों की भाषा टीका समाप्त कर ली। इस समय टोडरमलजी की कोई 18–19 वर्ष की अवस्था होगी, इतनी अल्पायु में 65 हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर पूर्ण कर देना प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विस्मय पैदा करनेवाला है। इस टीका का नाम सम्यग्ज्ञान चंद्रिका है। इसकी एक मूल पाण्डुलिपि जयपुर के बधीचन्दजी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है। पाण्डुलिपि के अवलोकन से पता चलता है कि उसमें अधिक Correction नहीं है। क्योंकि वे धारावाहिक रूप में लिखते थे तथा उनकी कलम में इतना जोर था कि फिर उसमें अधिक हेरफेर की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

गार्हस्थ जीवन –

सिंघाणा से भाई रायमल्लजी के साथ वे वापिस जयपुर आ गये और यहाँ आने के पश्चात् वे विवाह बन्धन में बँध गये। इनके दो लड़के हुए। इनमें बड़े का नाम हरिचन्द्र और छोटे का नाम गुमानीराम था। उस समय टोडरमलजी के व्यक्तित्व की छाप सारे समाज पर पड़ चुकी थी। चारों ओर

उनकी विद्वत्ता की चर्चा होने लगी थी। यहाँ उन्होंने समाज सुधार एवं शिथिलाचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने का बीड़ा उठाया। अपने शास्त्र प्रवचन एवं ग्रंथ निर्माण के माध्यम से उन्होंने समाज में एक नयी चेतना जागृत की। तेरह पंथी बड़े मंदिर में शास्त्र प्रवचन प्रारम्भ किया। उनके प्रवचन की शैली अत्यधिक आकर्षक थी। इसलिए श्रोताओं की संख्या बढ़ने लगी। खूब सैद्धान्तिक तत्त्व चर्चायें होतीं और उनमें श्रोताओं को अपार आनन्द आता। उनके श्रोताओं में दीवान रतनचंदजी, अजबरायजी, तिलोकचंदजी महारामजी जैसे विशिष्ट व्यक्ति थे, जो सैद्धांतिक ज्ञानी थे। सारे देश में उनका शास्त्र प्रवचन प्रसिद्ध हो गया और उसे सुनने के लिये कभी-कभी दूर-दूर से भी श्रावकगण आते।

प्रभाव –

पंडित टोडरमलजी का जादू जैसा प्रभाव कुछ लोगों को असह्य हो गया। वे उनकी कीर्ति से जलने लगे और इस प्रकार उनके विनाश के लिये नित्य प्रति सोचा जाने लगा। आखिर वे उसमें सफल भी हो गये। और अंत में भरी जवानी में जब उनकी कीर्ति अंतिम चरण में पहुँचने वाली थी, उन्हें सम्मान के स्थान पर मृत्यु का सामना करना पड़ा। संवत् १८२३ में जब वे केवल २६-२७ वर्ष के ही थे, उनने देश, समाज एवं साहित्य सेवा की बलि वेदी पर हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन कर लिया।

कृतियां –

पंडितजी ने अपने सारे जीवन के 26-27 वर्षों में 15 से अधिक वर्ष साहित्य-निर्माण में लगाये। उनकी सर्वप्रथम रहस्यपूर्ण चिट्ठी थी जो मुलतान समाज को लिखी गयी थी, इसके पश्चात् उन्होंने लब्धिसार क्षपणासार एवं गोम्मटसार की भाषा टीका बनायी, जिसमें उन्हें लिखने एवं अर्थ संशोधन करने में कोई 6 वर्ष लगे। इसके पश्चात् उन्होंने आत्मानुशासन की भाषा टीका की और मोक्षमार्गप्रकाशक की रचना में लग गये। टोडरमलजी की यह हार्दिक इच्छा थी कि वे एक ऐसा ग्रंथ तैयार करें जिसमें जैनधर्म के सिद्धांतों का, उसके इतिहास एवं मान्यताओं का विस्तृत वर्णन हो लेकिन अपनी आकस्मिक मृत्यु के कारण उसे पूरा नहीं कर सके। उन्होंने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की भाषा टीका लिखना भी प्रारंभ किया और उसे भी उन्हें अधूरा ही छोड़ना पड़ा, जिसे संवत् 1827 में कविवर दौलतरामजी कासलीवाल ने पूरा किया।

इस प्रकार टोडरमलजी ने देश में जो चेतना जागृत की उसके लिये सारा समाज उनका कृतज्ञ है। जयपुर वासियों को उनका नाम लेने में महा गर्व अनुभव होगा। उनकी मृत्यु के 200 वर्ष पश्चात् आज टोडरमल स्मारक भवन के रूप में सारा जयपुर नगर अपने संपूर्ण हृदय से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है। ●●

श्री टोडरमल स्मारक-भवन, बापूनगर, जयपुर

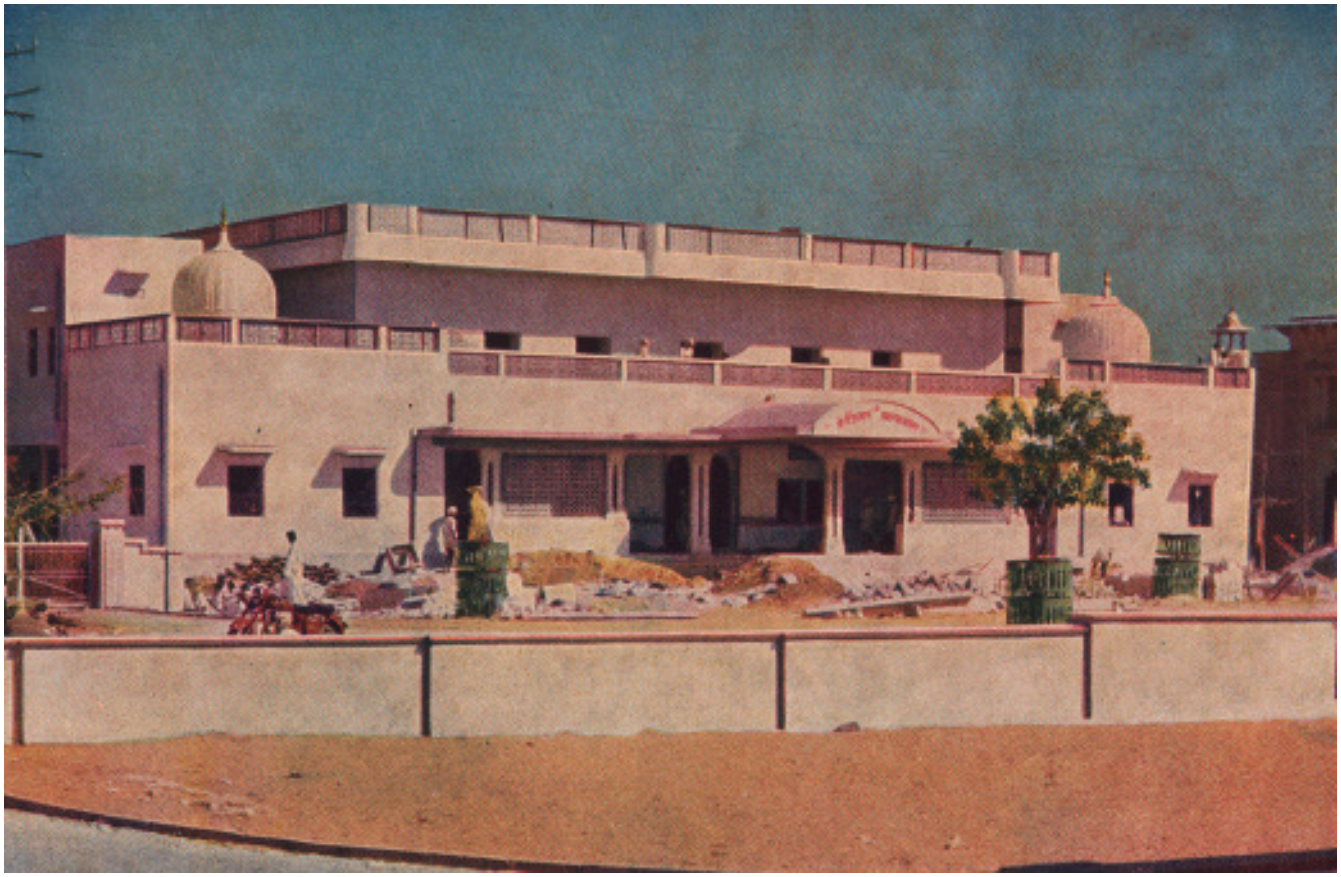

पूज्य श्री कानजीस्वामी के कर-कमलों द्वारा दिनांक १३ मार्च, १९६७ को उद्घाटन

पंडित टोडरमलजी के समय के विद्वान्

श्री पंडित मिलापचंदजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, जयपुर

लोग कहते हैं बदलता है जमाना हरदम
मर्द वह है जो जमाने को बदल देते हैं।

पंडित टोडरमलजी युग पुरुष थे। युगांतर उपस्थित करने की उनमें असाधारण क्षमता थी।

वे शब्द के ठीक अर्थ में जमाने को बदलनेवाले महापुरुष थे। उनकी प्रेरणा पाकर बहुत से विद्वान् बने, और न केवल विद्वान् ही बने अपितु उनके द्वारा अनेकों रचनाएं रची गईं। जिस प्रकार संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में पद्ययुग, गद्ययुग, चम्पूयुग की परंपरा देखने में आती है।, वैसे ही पंडितजी का युग भी टीका युग था और साथ ही यह भी कह दिया जाय कि वह हिन्दी गद्य का युग था तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। स्वयं पंडितजी की 11 रचनाएं हैं—उनमें सात टीका ग्रंथ एक स्वतंत्र ग्रंथ, एक आध्यात्मिक पत्र, एक अर्थ संदृष्टि और एक गोम्मटसार पूजा है। कहना न होगा कि वे उस युग के सबसे बड़े टीकाकार, एवं अलौकिक विद्वान् थे। उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से यह अनुभव किया कि समय ऐसा आता जा रहा है कि संस्कृत और प्राकृत के ज्ञाता धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। यदि आचार्यों द्वारा रचित प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के आध्यात्मिक ग्रंथों का तत्कालीन भाषा में अनुवाद नहीं किया गया तो उन आचार्यों का अपूर्व बलिदान व्यर्थ होकर मुमुक्षु उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकेंगे फलत: उन्होंने मार्गदर्शन किया। पंडितजी की कृतियों को आदर्श मानकर तथा उनकी शुद्धाम्नाय का सहारा पाकर जिन-जिन विद्वानों ने उनके पद चिह्नों का उस शताब्दी में अनुसरण किया उनमें से कतिपय मुख्य विद्वानों का परिचय एवं उनके कार्यों का यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जाता है:—

साधर्मी भाई रायमल्ल :—पंडित टोडरमलजी के समकालीन विद्वानों में भाई रायमल्ल प्रधान रहे हैं। आपका जन्म 1780 के करीब है। साहित्य सेवा आपके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। आप बड़े ज्ञानपिपासु थे। विद्यानुराग आप में कूट-कूट कर भरा था। धर्म प्रचार की आपके हृदय में अटूट लगन थी-इसके लिए आप जगह-जगह घूमकर धर्म प्रचार करते रहे। जहाँ भी इनको किसी आध्यात्मिक विद्वान् के होने की खबर मिलती वे वहाँ पहुँच जाते। उन्हें प्रेरणा देते ओर उनसे प्रेरणा प्राप्त करते। आप पंडित दौलतरामजी से मिलने उदयपुर गए थे और पंडित टोडरमलजी की खबर पाकर आप सिंघाणा भी जा पहुँचे थे। तथ्य है कि इन्हीं की प्रेरणा से पंडितजी ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, तथा त्रिलोकसार की 65 हजार श्लोक प्रमाण प्रमाण वचनिका लिखी। ज्ञानानंद श्रावकाचार इनकी स्वतंत्र रचना है। चर्चासंग्रह ग्रंथ अप्रकाशित है। संवत् 1821 में जयपुर में जो इन्द्रध्वज मिला हुआ था-उसकी चिट्ठी को इन्होंने लिखी थी, वह अपने आप में एक इतिहास है।

पंडित दौलतरामजी कासलीवाल : — ये भी पंडित टोडरमलजी के समकालीन थे। आपका जन्म संवत् 1745 में बसवा ग्राम में हुआ था। आपके पिताजी का नाम आनंदराम था, जाति खण्डेलवाल गोत्र कासलीवाल था। जयपुर के महाराजा से इनका विशेष परिचय था। ये उदयपुर राज्य में जयपुर के वकील बनकर गए थे। आप वहाँ 30 वर्ष तक रहे। आप संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। आपने हिन्दी जैन साहित्य का ही नहीं, अपितु समस्त हिन्दी गद्य साहित्य का महान् उपकार किया है। आपने विपुल साहित्य लिखा है। अब तक प्रकाश में आए हुए आपके 17 ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जो इस प्रकार हैं — (1) पुण्यास्रव वचनिका, (2) क्रियाकोष भाषा (3) अध्यात्म बारह खडी (4) वसुनन्दि श्रावकाचार टब्बा (5) पद्मपुराण वचनिका (6) आदि पुराण वचनिका (7) परमात्मप्रकाश वचनिका (8) हरिवंश पुराण वचनिका (9) श्रीपाल चरित्र (10) विवेक विलास (11) तत्वार्थसूत्र भाषा (12) चौबीस दंडक (13) सिद्ध पूजा (14) आत्म बत्तीसी (15) सार समुच्चय (16) जीवंधर चरित्र (17) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जो पंडित टोडरमलजी पूर्ण नहीं कर पाए थे।

पंडित जयचंदजी छाबड़ा : — पंडित टोडरमलजी के समकालीन विद्वानों में पंडित जयचंदजी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। आपका जन्म फागी में संवत् 1805 के आसपास हुआ था। आपकी बचपन से ही धार्मिक रुचि थी। आप पंडित टोडरमलजी के संपर्क में रहे। आप बड़े ही निरभिमानी विद्वान् और कवि थे। वृन्दावन विलास में इनकी एक पद्यात्मक चिट्ठी प्रकाशित है जिससे मालूम होता है कि आप कितने प्रतिभाशाली थे। आप पंडित टोडरमलजी के समान ही प्राकृत और संस्कृत भाषा के प्रौढ़ विद्वान थे। अध्यात्म और न्याय विषय पर आपका पूर्ण अधिकार था। आपने 13 ग्रंथों पर वचनिकाएँ लिखी हैं। (1) तत्त्वार्थसूत्र भाषा (2) सर्वार्थसिद्धि वचनिका (3) प्रमेयरत्न माला टीका (4) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका (5) द्रव्य संग्रह टीका (6) समयसार टीका (7) देवागम स्तोत्र टीका (8) अष्टपाहुड़ भाषा (9) ज्ञानार्णव भाषा (10) भक्तामर स्तोत्र (11) पद संग्रह (12) चन्द्रप्रभ चरित्र (न्यायविषयक अंश) भाषा (13) धन्यकुमार चरित्र। इनके अलावा भी फुटकर कई चीजें आपने लिखी हैं।

बखतराम साह : — आपको भी पंडित टोडरमलजी का समकालीन होने का गौरव प्राप्त हुआ था। ये मूल निवासी चाकसू के थे पर बाद में जयपुर ही इनका कार्यक्षेत्र रहा। आप शास्त्रीय संगीत के अच्छे ज्ञाता थे। आपने भजन बहुत लिखे हैं। आपने संस्कृत की 'मिथ्यात्व खंडन' पुस्तक का अनुवाद किया जिसमें 1423 छन्द हैं। इसका रचना काल संवत् 1821 है। संवत् 1827 में इन्होंने 'बुद्धि विलास' लिखा। इसमें जयपुर तथा आमेर का वर्णन खूब मिलता है। यही एक ऐसी पुस्तक है। जिसमें पंडित टोडरमलजी की मृत्यु का और तत्कालीन जयपुर की परिस्थिति का यथार्थ वर्णन प्राप्त होता है।

पंडित टेकचन्दजी : — ये भी पंडित टोडरमलजी के समकालीन जरूर थे पर दुर्भाग्य से इनका कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। इनका धार्मिक ज्ञान विशाल था। इनने पूजा ग्रंथ ही ज्यादातर लिखे हैं। आपकी रचनाएं इस प्रकार है। तीन लोक पूजा सुदृष्टि तरंगिणी की वचनिका, सूत्रजी की वचनिका, कर्मदहन पूजा, नंदीश्वर पंचमेरु पूजा, रत्नत्रय पूजा, पंच परमेष्टी पूजा, पंच कल्याणक पूजा, सोलहकारण पूजा, दशलक्षण पूजा, कथाकोष भाषा आदि।

पंडित गुमानीरामजी भांवसा : — ये पंडित टोडरमलजी के लघुपुत्र थे। जन्म संवत् 1818 के करीब हुआ। आप शास्त्रों के अच्छे जानकार थे। आप बड़े क्रांतिकारी वक्ता थे। शिथिलाचार के विरोध में आप पिताजी से भी बढ़कर थे। आपने ही गुमान पंथ चलाया था जो शुद्धाम्नाय का पोषक माना जाता है। आपने 'सत्ता स्वरूप' ग्रंथ लिखा है। आपके बनाए हुए कुछ भजन भी उपलब्ध हैं। सुना जाता है आप फारसी के बहुत बड़े विद्वान् थे।

पंडित खुशालचंदजी काला : — ये देहली के निवासी थे पर ज्यादातर सांगानेर (जयपुर) में रहा करते थे। इनके पिताजी का नाम सुन्दरदासजी माता का नाम अभिधा था। इनने प्राय: पद्य रूप में ढूंढारी में ग्रंथ लिखे हैं। इन्होंने भट्टारक लक्ष्मीदास के पास विद्याध्ययन किया था। आपके इस प्रकार ग्रंथ उपलब्ध होते हैं — (1) हरिवंशपुराण (2) पद्मपुराण (3) यशोधर चरित्र (4) उत्तर पुराण (5) जम्बूस्वामी चरित्र (6) वर्द्धमान पुराण, (7) सद्भाषितावली (8) चौबीस महाराज पूजा (9) पद संग्रह। इनके अलावा कुछ फुटकर रचनाएं भी हैं।

पंडित दीपचंदजी कासलीवाल : — यह सांगानेर के रहनेवाले थे पर बाद में आमेर रहने लगे थे। ये आध्यात्मिक विद्वान थे। भाषा इनकी ढुंढारी है पर सरस और सरल है। इनका समय 18 वीं शती का उत्तरार्द्ध है। आपकी निम्न रचनाएं हैं : — चिद्विलास, आत्मावलोकन, गुणस्थान भेद, अनुभव प्रकाश, भाव दीपिका, परमात्मपुराण, ये ग्रंथ तो गद्य में हैं और अध्यात्मपच्चीसी, द्वादशानुप्रेक्षा, ज्ञानदर्पण, स्वरूपानन्द, उपदेश सिद्धांत आदि पद्य में हैं। इनके आत्मावलोकन का उद्धरण पंडित टोडरमलजी ने अपनी रहस्यपूर्ण चिट्ठी में दिया है।

श्री थानसिंहजी ठोलिया: — यह सांगानेर के रहनेवाले थे। यह साहित्य के पूर्ण रसिया थे। आप जयपुर का वातावरण खराब देखकर पहले भरतपुर जाकर रहे और बाद में करोली चले गए थे, वैसे ज्यादातर आपका कार्यक्षेत्र जयपुर ही रहा। आपकी केवल दो रचनाएं ही उपलब्ध हो सकी हैं। संभवत: और भी हों। पहली रचना रत्नकरण्ड श्रावकाचार और दूसरी सुबुद्धि प्रकाश है।

श्री नवलरामजी : — बसवा के रहनेवाले थे। आप शास्त्रीय संगीत में निष्णात थे। आपने भजन खूब बनाए हैं। आपके पदों में ज्यादातर भक्तिरस प्रधान है। आपकी रचनाएँ इस प्रकार हैं। वर्द्धमान पुराण भाषा, बुद्धिविलास, जय पच्चीसी, बारह भावना, भद्रबाहु चरित्र एवं पद संग्रह।

श्री पंडित लालचंदजी : — ये थे तो सांगानेर के रहनेवाले पर बाद में बयाना जाकर रहने लगे थे। इनकी रचनाएँ जो उपलब्ध हैं षट्कर्म उपदेश रत्नमाला भाषा, वरांग चरित, विमलनाथ पुराण भाषा, शिखर विलास, इन्द्रध्वज पूजा भाषा, पंच परमेष्ठी पूजा, त्रिलोकसार पूजा, तेरह द्वीप पूजा, समवसरण पूजा पंच कल्याणक पूजा और सम्यक्त्व कौमुदी।

श्री बुधजनजी बज (संवत् 1830 से 1895) : — आप जयपुर नगर के रहनेवाले थे, जाति खण्डेलवाल गोत्र बज था। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ जिसने इनको अविस्मरणीय किया है बुधजन सतसई है। इसमें 700 दोहे हैं। ये बहुत अच्छे कवि थे। शास्त्रीय संगीत के आप पूर्ण ज्ञाता थे। आपका साहित्य सेवा काल 40 वर्ष रहा, आपकी दूसरी रचना छहढाला हे जो बहुत ही उत्तम है। इनके अलावा 15 रचनाएँ और हैं जो इस प्रकार हैं : — तत्वार्थ बोध, बुधजन विलास, संबोध पंचाशिका, पंचास्तिकाय, योगसार भाषा, वर्द्धमान पुराण, भक्तामर स्तोत्रोत्पत्ति कथा, इष्ट छत्तीसी, चर्चाशतक, रामचन्द्र चरित्र, दर्शन पाठ, पदसंग्रह, वंदना जकड़ी, मृत्यु महोत्सव, पंच मंगल एवं पूजा सरस्वती पूजा-आपकी और भी रचनाएँ हो सकती हैं।

पंडित सदासुखजी कासलीवाल : — आपका जन्म संवत् 1852 है। आपका जन्म जयपुर नगर में हुआ था। उन्नीसवीं शती के विद्वानों में आपका नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम दूलीचन्द था — आपका वंश डेडाका नाम से प्रसिद्ध है। पंडित सदासुखजी बड़े ही अध्ययनशील थे। दस रुपये मासिक राज्य की वृत्ति में निर्वाह करते थे। आपने पंडित मुन्नालालजी सांगा का तथा पंडित जयचंदजी छाबड़ा से अध्ययन किया था। इनकी भाषा परिष्कृत और खड़ी बोली के निकट है। इनका समाधिमरण संवत् 1923 में हुआ था। आपकी रचनाए इस प्रकार हैं : — (1) भगवती आराधना वचनिका, (2) सूत्रजी की लघुवचनिका (3) अर्थ प्रकाशिका स्वतंत्र ग्रंथ (4) अकलंकाष्टक वचनिका (5) रतनकरंड श्रावकाचार वचनिका (6) मृत्युमहोत्सव वचनिका (7) नित्य नियम पूजा (8) समयसार नाटक पर भाषा वचनिका, (9) न्याय दीपिका वचनिका, (10) ऋषि मंडल पूजा वचनिका।

इनके अलावा भी बहुत से विद्वान हुए हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों से जैन साहित्य को पल्लवित,पुष्पित और फलित किया है; और आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी की परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखा है। आज द्विशताब्दी समारोह पर उस महान आत्मा को शत-शत श्रद्धांजलियाँ। ●●

श्री पूरणचंदजी गोदीका

और उनकी धर्मपत्नी

श्रीमती कमला देवी

श्री नेमीचंदजी पाटनी
मंत्री

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
संपादक

श्री महेन्द्रकुमार सेठी
संयुक्त मंत्री

श्री टोडरमल स्मारक महोत्सव कमेटी

गोम्मटसार के भाषा टीकाकार

श्री कैलाशचंद शास्त्री, वाराणसी

(पंडित टोडरमलजी गोम्मटसार के एक सफल टीकाकार हैं, उन्होंने ग्रंथगत विषय को इतना सुस्पष्ट और सरल किया है कि उससे अधिक सरल और सुस्पष्ट करना शक्य ही नहीं था। उनका क्षयोपशम अद्‌भुत था और थी सर्वोपकारिणी पवित्र भावना। उसी भावनावश उन्हें इस महान ग्रंथ की भाषा टीका करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। आधुनिक युग गोम्मटसार में प्रतिपादित विषय के अनुशीलन के लिये पंडित टोडरमलजी का सदा ऋणी रहेगा। हमारे पास शब्द नहीं हैं कि जिनसे हम अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकें। अत: हम उस महा विद्वान् के चरणों में नत होकर ही अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं।)

पंडितप्रवर आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने पांडित्य का अनुगम उनकी रचनाओं का अनुगम करने से विज्ञजनों को स्वत: हो जाता है। यह सच है कि वे गृहस्थ थे और यह भी सच है कि उन्होंने जो कुछ लिखा वह तत्कालीन ढूंढारी भाषा में लिखा, संस्कृत या प्राकृत में नहीं लिखा। किंतु इससे उनकी ज्ञान-गरिमा का मूल्यांकन कम नहीं होता। त्रिलोकसार और गोम्मटसार जैसे करणानुयोग के महान प्राकृत ग्रंथों की संस्कृत टीकाओं के आधार पर भाषा टीका करने से यह स्पष्ट है कि वे प्राकृत और संस्कृत भाषा के साथ ही करणानुयोग के महान ज्ञाता थे। उनकी भाषा टीका के होते हुए भी जिन संदृष्टियों का आज समझ लेना भी दुष्कर लगता है; उन्हें उन्होंने उस समय अपने बुद्धि-कौशल और विशिष्ट क्षयोपशम से समझकर इतना स्पष्ट कर दिया है कि विषय का साधारण जानकार भी सतत अध्ययन करके उन्हें हृदयंगम कर सकता है। आज जो पंडित समाज में भी करणानुयोग के ज्ञान की परंपरा प्रवर्तित है, उसका मूल पंडित टोडरमलजी की टीकाएं हैं। उन्हीं की टीका का अध्ययन करके गुरुवर्य गोपालदासजी ने अपने शिष्यों को गोम्मटसार और त्रिलोकसार का अध्ययन कराया था। और उन्हीं की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा में वर्तमान जैन विद्वान आते हैं। अत: पंडित टोडरमलजी की भाषागत और विषयगत विद्वत्ता तो निर्विवाद है, रही गृहस्थ होने की बात, तो गृहस्थ भी यदि निर्मोही हो तो मोक्षमार्गी है और साधु यदि मोही हो तो संसारमार्गी है, यह बात आचार्य समंतभद्र ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कही है। पंडित टोडरमलजी कितने निरभिमानी और आगम की आसादना से भीरु थे, यह उनके ग्रंथों में आगत वक्तव्यों से प्रकट है। अपनी गोम्मटसार की भाषा टीका की पीठिका में वह लिखते हैं - 'बहुरि कोऊ कहै कि - तुम कही सो सत्य, परंतु इस ग्रंथ विषैं जो चूक होइगी ताके शुद्ध होने का किछू उपाय भी है? ताकौ कहिये है - एक उपाय यह यहु कीजिये है - जो विशेष ज्ञानवान पुरुषनि का प्रत्यक्ष संयोग नाहीं, तातैं परोक्ष ही तिनिसौं ऐसी विनती करौ हौं कि मैं मंदबुद्धि हौं, विशेष ज्ञान रहित हौं, अविवेकी हौं, शब्द न्याय गणित धार्मिक अदि ग्रंथनि का विशेष अभ्यास मेरे नाहीं है तातैं शक्ति हीन हौं, तथापि धर्मानुराग के वशतैं टीका करने का विचार किया सो या विषैं जहां चूक होई,

अन्यथा अर्थ होई, तहां तहां मेरे ऊपरि क्षमा करि तिस अन्यथा अर्थ को दूरि करि यथार्थ अर्थ लिखना, ऐसैं विनती करि जो चूक होइगी ताके शुद्ध होने का उपाय किया है।'

इससे पहले लिखा है— 'बहुरि कोऊ कहै कि इस कार्य विषै विशेष हित हो है सो सत्य, परन्तु मन्दबुद्धितैं कहीं भूल करि अन्यथा अर्थ लिखए, तहां महत् पाप उपजनैतै अहित भी तो होइ? ताकौ कहिये है-यथार्थ सर्व पदार्थनिका ज्ञाता तौ केवली भगवान है, औरनि कैं ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसारी ज्ञान हैं, तिनिकौं कोई अर्थ अन्यथा भी प्रतिभासैं परन्तु, जिनदेव का ऐसा उपदेश है - कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रनि के वचन की प्रतीतिकरि वा हठकरि वा क्रोध मान माया लोभ करि वा हास्य भयादिक करि जो अन्यथा श्रद्धान करै वा उपदेश देइ सो महापापी है, अर विशेष ज्ञानवान गुरु के निमित्त बिना, वा अपने विशेष क्षयोपशम बिना कोई सूक्ष्म अर्थ कौं अन्यथा श्रद्धहै वा उपदेश देई तौ याकौं महत् पाप न होई सोई इस ग्रंथ विषैं भी आचार्य ने कहा है।'

उक्त उद्धरणों से पंडितजी के वीतरागभाव के दर्शन होते हैं। यही आंशिक वीतरागता मुनिपद में प्रकट होकर आचार्यत्व प्रदान करती है। अत: उक्त प्रकार के आंशिक वीतराग भाव के होते हुए मात्र गृहस्थदशा के कारण उनके जैसे आगम के ज्ञाता विद्वान के वचनों की अवहेलना नहीं की जा सकी। वे उसी तरह आचार्यकल्प थे जिस तरह शास्त्रों में उत्तम सामायिक में लीन वस्त्र-वेष्ठित गृहस्थ को भी यति के तुल्य कहा है।

यहाँ हम उनकी गोम्मटसार की भाषा टीका को ही उनकी विद्वत्ता की कसौटी के रूप में उपस्थित करते हैं। गोम्मटसार करणानुयोग का एक अत्यन्त महत्वशाली तथा गहन चर्चाओं से परिपूर्ण ग्रंथ है। इसके दो भाग हैं - जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड की प्राकृतभाषा में निबद्ध गाथा संख्या 734 है, कर्मकाण्ड की गाथा संख्या 972 है। इसके आगे का भाग लब्धिसार क्षपणासार है उसकी गाथा 653 है। यह गाथा संख्या हमने पंडित टोडरमलजी की टीका के साथ मुद्रित गोम्मटसार में अंकित संख्या के आधार से दी है। इस महाग्रंथ पर केशववर्णी की कर्नाटकवृत्ति के आधार पर नेमिचंद्र नामक आचार्य ने संस्कृत टीका रची थी। यह टीका जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा लब्धिसार की गाथा संख्या 391 पर्यंत ही उपलब्ध है। इसी संस्कृत टीका के आधार हर पंडित टोडरमलजी ने भाषा टीका रची थी। गाथा 391 से आगे संस्कृत टीका भी नहीं है, किंतु उनमें आगम विषय से सम्बद्ध एक संस्कृत क्षपणसार है जो आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती के ही शिष्य माधवचंद्र द्वारा रचित है, उसकी सहायता से मल्लजी ने उसकी भाषा टीका रची है।

संस्कृत टीका भाषा की दृष्टि से तो दुरूह नहीं है; किंतु विषय की दृष्टि से दुरूह है। फिर उसमें जो संदृष्टियाँ आई हैं और उनको जिन चिह्नों के द्वारा समझाया गया है उनसे उसकी दुरूहता बढ़ ही गई

है। विषय और भाषा का जानकार भी एक बार उन सबको देखकर असमंजसता का अनुभव किये बिना नहीं रहता। पंडित टोडरमलजी ने अपनी सहज प्रतिभा, क्षयोपशम और संलग्नता से संस्कृत टीका का जो भाषानुवाद किया, वह इतना स्पष्ट और सरल है कि उसे समझने में विशेष आयास नहीं करना पड़ता। ढूंढारी भाषा होने से आज के समय में उसे समझने में थोड़ी कठिनाई हो सकती है। किंतु उनकी भाषा और शैली में थोड़ा सा भी हेरफेर नहीं है, वह एक ऐसी परिष्कृत पगडंडी है जिस पर बालक भी बिना भूले भटके जा सकता है। दूसरे, उन्होंने संस्कृत टीका में आगम संदृष्टियों को एक अर्थ-संदृष्टि अधिकार के रूप में पृथक रखकर तो उसे और भी अधिक सुगम बना दिया है। और पाठक उनके बिना भी गोम्मटसार के रहस्य को हृदयंगम कर सकता है। यह पंडितजी के विषयगत पाण्डित्य के साथ शैलीगत सौष्ठव की विशेषता है। इसी विशेषता के कारण संस्कृत और प्राकृत के अनभिज्ञजनों में भी गोम्मटसार प्रिय हुआ और उसका पठन पाठन स्वाध्याय बराबर चालू रहा।

आज नवीन शैली से सम्पादित ग्रंथों में प्रस्तावना का बड़ा महत्व माना जाता है। जरा गोम्मटसार की टोडरमलजी लिखित पूर्व पीठिका पढ़कर देखिये। यद्यपि उसमें आजकल की तरह ग्रंथगत और विषयगत इतिहास का विवेचन नहीं है; तथापि उसके पढ़ने से ग्रंथ का पूरा हार्द खुल जाता है और पाठक की समस्त कठिनाइयां दूर हो जाती हैं। उनकी पीठिका गोम्मटसाररूपी नदी में तैरने के लिये लघुतरणी के समान है।

संक्षेप में सार यह है कि पंडित टोडरमलजी गोम्मटसार के एक सफल टीकाकार हैं। उन्होंने ग्रंथगत विषय को इतना सुस्पष्ट और सरल किया है कि उससे अधिक सरल और सुस्पष्ट करना शक्य ही नहीं था। उनका क्षयोपशम अद्भुत था और सर्वोपकारिणी पवित्र भावना। उसी भावनावश उन्हें इस महानग्रंथ की भाषा टीका करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। आधुनिक युग गोम्मटसार में प्रतिपादित विषय के अनुशीलन के लिये पंडित टोडरमलजी का सदा ऋणी रहेगा। हमारे पास शब्द नहीं हैं कि जिनसे हम अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकें। अत: हम उस महाविद्वान के चरणों में नत होकर ही अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं और आज के स्वाध्याय-प्रेमियों से निवेदन है कि वे पंडित टोडरमलजी की इस टीका का अनुगम करके संसार समुद्र से पार उतरने का कौशल प्राप्त करें। समयसार के अध्ययन से जिस भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है उस भेदविज्ञान का आनन्द लेने के लिये गोम्मटसार में प्रतिपादित बीस प्ररूपणाओं का और कर्म सिद्धांत में सम्बद्ध कर्मों की दस दशाओं तथा उनकी क्षपणा का विस्तार जानना आवश्यक है। उनके जाने बिना भेदविज्ञान की ज्योति प्रदीप्त नहीं हो सकती। मोह के उतार चढ़ाव की क्रीड़ास्थली गुणस्थान और कर्म तथा जीव के संयोग से निर्मित मार्गणाएं ये सब अध्यात्मवाद के ही पूरक हैं। ●●

मोक्षमार्ग का उद्घाटन

(श्री कानजीस्वामी का एक प्रवचन)

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़

> जिसको निश्चयसम्यक्त्व का परिणमन है, उसे ही सम्यग्दर्शन है, जहाँ निश्चय नहीं वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं। अत: पहले व्यवहार व पीछे निश्चय-इस सिद्धांत में बड़ी भूल है,-इसमें एकान्त व्यवहार हो जाता है। निश्चय और व्यवहार दोनों साथ साथ हैं, इनमें भी मुख्यता निश्चय की है। स्वभाव की शुद्धता रूप निश्चय की साथ उस भूमिका के योग्य जो रागादि है, वह व्यवहार है।....

जयपुर के महान आध्यात्मिक विद्वान पंडित श्री टोडरमलजी का एक सूत्र है - 'सम्यक्त्वी को व्यवहारसम्यक्त्व में निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, सदैव गमनरूप है।' ऐसा लगता है कि इस सूत्र के द्वारा हमारे जैसे साधर्मियों को आपने निश्चय सम्यक्त्वरूपी रत्न ही दिया है - जिसके द्वारा मोक्षमार्ग का उद्घाटन होता है। यह सूत्र मुलतानवाले साधर्मियों के ऊपर की चिट्ठी में लिखा गया था, उसी मुलतान नगर के हमारे सैकड़ों साधर्मीजन आज जयपुर में बसे हुये हैं; और पंडितजी के द्विशताब्दि महोत्सव में आनंद से भाग ले रहे हैं - यह भी हर्ष की बात है। उसी प्रकार यह भी हर्ष की बात है कि उपरोक्त सूत्र का रहस्य खोल के मोक्षमार्ग का उद्घाटन करनेवाले श्री कानजीस्वामी भी इस प्रसंग पर सौराष्ट्र से संघ सहित जयपुर पधारे हैं। अब, श्री पंडितजी के सूत्र के ऊपर श्री कानजीस्वामी का विवेचन आप पढ़िये.... और मोक्षमार्ग का उद्घाटन कीजिये।

'सबसे पहले बात यह है कि मोक्षमार्ग का उद्घाटन निश्चय सम्यक्त्व से होता है। व्यवहार वही सच्चा कि जिसके साथ में निश्चय हो। हमारे पंडितजी ने कहा है कि 'सम्यक्त्वी को व्यवहार-सम्यक्त्व में निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, सदैव गमनरूप है।' देखो, इसमें महत्व का सिद्धान्त है; इससे निश्चय-व्यवहार का स्पष्ट खुलासा हो जाता है। कोई कहे कि चतुर्थ गुणस्थान में निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता - तो यह सच्ची बात नहीं है। चौथे गुणस्थान से ही निश्चय सम्यक्त्व का निरंतर परिणमन है। व्यवहार-सम्यक्त्व के साथ ही निश्चय-सम्यक्त्व यदि विद्यमान न हो तो वह व्यवहार-सम्यक्त्व भी सच्चा नहीं है। अर्थात् वहाँ सम्यक्त्व ही विद्यमान नहीं परन्तु मिथ्यात्व है।

यहाँ व्यवहार-सम्यक्त्व में निश्चय-सम्यक्त्व गर्भित है - ऐसा कहा; एक वस्तु के कहने से दूसरी वस्तु उसमें आ ही जाये - ऐसा यहाँ 'गर्भित' का अर्थ समझना। देव गुरु शास्त्र की श्रद्धा आदि को जहाँ व्यवहार सम्यक्त्व कहा वहाँ शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व भी साथ में विद्यमान है - ऐसा समझना। यदि ऐसा शुद्धात्म श्रद्धान न हो तब तो वहाँ सम्यक्त्व ही नहीं है; वहाँ तो मिथ्यात्व है; और मिथ्यादृष्टि को तो व्यवहार-सम्यक्त्व होने का भी यहाँ इन्कार किया है।

किसी का ऐसा मत है कि पहले व्यवहार और बाद में निश्चय; तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसे व्यवहार के साथ निश्चय का परिणमन है, अत: अकेला शुभराग है; उसे यहाँ सम्यक्त्व नहीं कहते।

जिसको निश्चय सम्यक्त्व का परिणमन है, उसे ही सम्यग्दर्शन है, जहां निश्चय नहीं वहां सम्यग्दर्शन नहीं। अत: पहले व्यवहार व पीछे निश्चय – इस सिद्धांत में बड़ी भूल है – इसमें एकांत व्यवहार हो जाता है। निश्चय और व्यवहार दोनों साथ साथ हैं, इनमें भी मुख्यता निश्चय की है। स्वभाव की शुद्धता रूप निश्चय के साथ उस भूमिका के योग्य जो रागादि है, वह व्यवहार है।

चौथे गुणस्थान में निश्चय नहीं होता, वहाँ अकेला व्यवहार होता है' – ऐसी जिनकी मान्यता है, वे शुद्धात्मा को दूर रखकर अकेले राग से धर्म करना चाहते हैं – परंतु ऐसे धर्म नहीं होता। निश्चय सम्यक्त्वपूर्व ही धर्म का या मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है। निश्चय सम्यक्त्व के बिना किसी को चतुर्थ गुणस्थान भी नहीं हो सकता, तब फिर मुनिदशा तो कहाँ से हो?

विशेष यह है कि चतुर्थादि भूमिका में जो निश्चय-व्यवहार एक साथ है उनमें भी, जो निश्चय-सम्यक्त्वादि है वह अराग भाव है, और जो व्यवहार सम्यक्त्वादि है वह सराग भाव है। वे दोनों एक भूमिका में एक साथ विद्यमान रहते हुए भी उनमें जो रागभाव है; वह साथ के अरागभाव को मलिन नहीं करता, एवं वह रागभाव अरागभाव का कारण भी नहीं होता। दोनों की धारा ही अलग-अलग है; दोनों के कार्य भी जुदे हैं। रागभाव तो बंध का कारण होता है और अरागभाव मोक्ष का कारण होता है। साधक को ऐसी दोनों धारा का प्रवाह एक साथ चलता है; परंतु जहाँ अकेला शुभराग है, रागरहित भाव बिल्कुल नहीं है – वहां धर्म नहीं है। शुद्धता व राग – ये दोनों धारायें साधक के एकसाथ रहती हैं, तो भी वे दोनों एक नहीं हो जाती।

चतुर्थ गुणस्थान में अकेला व्यवहार होता है और निश्चय नहीं होता – ऐसा यदि कोई माने तो वह मान्यता सच्ची नहीं है। एवं व्यवहार आश्रय से निश्चय होगा – ऐसा कोई माने तो वह भी सच नहीं। निश्चय तो शुद्ध आत्मा के आश्रित है और व्यवहार पर के आश्रित है। अत: निश्चय सम्यग्दर्शन, वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है, वह मोक्षमार्ग में कोई बार सहकारी (साथ में चलनेवाला) भले हो, परंतु वह स्वयं तो मोक्षमार्ग नहीं है।

व्यवहार के बिना अकेला निश्चय तो हो सकता है, परंतु निश्चय के बिना व्यवहार अकेला नहीं होता; अत: यहां 'निश्चय सम्यक्त्व में व्यवहार-सम्यक्त्व गर्भित है', ऐसा न कहा, परंतु 'व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है' – ऐसा कहा। केवलज्ञानी आदि के व्यवहार सम्यक्त्व तो नहीं है, अत: निश्चय के साथ व्यवहार का परिणमन सदैव होना चाहिए – ऐसा नियम नहीं है। परंतु व्यवहार के साथ तो निश्चय होना ही चाहिए – तभी उस व्यवहार को सच्चा व्यवहार कहने में आयेगा। अत: कहा कि 'सम्यग्दृष्टि के व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।' परंतु मिथ्यादृष्टि के निश्चय के बिना जो व्यवहार है वह वास्तव में व्यवहार नहीं है परंतु व्यवहाराभास है। जो सर्वज्ञदेव आदि के

आत्मा को सचमुच में पहचानेगा वह अपने आत्मा को भी अवश्य पहचानेगा, अत: सच्चे व्यवहार के साथ निश्चय अवश्य होगा। सम्यग्दृष्टि के निरन्तर (अर्थात् पूजनादि शुभ या भोजनादि अशुभ क्रिया के समय में भी) निश्चय सम्यक्त्व का परिणमन चालू ही है; यदि वह न हो तो सम्यग्दृष्टिपना ही नहीं रहता।

देखिये, यह सम्यग्दर्शन सच्ची खोज! व्यवहार मार्गणा के कथन में ऐसा आवे कि सम्यग्दर्शन चारों गतियों में होता है, संज्ञीपंचेन्द्रियों के होता है, त्रसकाय वालों के होता है - इत्यादि; यहाँ कहते हैं कि शुद्धात्मा की जहाँ प्रतीति हो वहीं सम्यग्दर्शन होता है, और शुद्धात्मा की प्रतीति जहाँ न हो वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं होता। अत: सम्यग्दर्शन को खोज तेरे शुद्धात्मा में, यह निश्चयमार्गणा है। शुद्धात्मा की प्रतीति के बिना गति-इंद्रिय-काय आदि में सम्यग्दर्शन को खोजे तो वह मिलने का नहीं। जिस सम्यग्दर्शन को शोधने का है, उसका सच्चा स्वरूप ही जो नहीं जानता वह उसको खोजेगा कैसे? इसलिए मोक्षार्थी को सबसे पहले ऐसे सम्यग्दर्शन का स्वरूप पहचान के, इसकी आराधना करनी चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग का पहला डग है, इसके बिना मोक्षमार्ग में एक डग भी नहीं चला जा सकता।

साधक के सम्यक्त्व के साथ राग हो तो भी, उस समय भी सम्यग्दर्शन स्वयं तो रागवाला हुआ नहीं है। भले ही कदाचित् उस वक्त 'सराग-सम्यक्त्व' नाम दिया जाये, तो भी वहां दोनों का भिन्नपना समझ लेना कि सम्यग्दर्शन अलग परिणाम है और राग अलग परिणाम है; एक ही भूमिका में 'राग' व 'सम्यक्त्व' दोनों साथ होने से वहां 'सराग-सम्यक्त्व' कहा है। कहीं राग वह सम्यक्त्व नहीं है, और न सम्यक्त्व स्वयं सराग है। चौथे गुणस्थान का सम्यक्त्व परिणाम वह भी वीतराग ही है; और वीतरागभाव ही मोक्ष का साधन होता है, सरागभाव मोक्ष का साधन नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि के एक साथ दोनों धारायें होने पर भी, एक मोक्ष का कारण व दूसरा बंध का कारण - इन दोनों को भिन्न-भिन्न रूप से पहिचानना चाहिए। बन्ध-मोक्ष के कारण भिन्न-भिन्न हैं, उनको यदि एक दूसरे में मिला दें तो तत्त्व श्रद्धान में भूल हो जाये। सम्यग्दर्शन के पास के राग को भी जो मोक्ष का कारण मान ले, उसने तो बन्ध के कारण को ही मोक्ष का कारण मान लिया; अत: उसे मोक्षमार्ग नहीं होता, वह मोक्षमार्ग के बहाने में भ्रम से बंध का ही सेवन कर रहा है।

चतुर्थ गुणस्थान में परिणति में आंशिक शुद्धता सदैव रहती है। परिणति में जितनी शुद्धता है उतना ही धर्म है, उतना ही मोक्षमार्ग है। जीव जब अंतर्मुख होके अपूर्व धर्म का प्रारंभ करता है - साधक भाव की शुरुआत करता है, तब उसे निर्विकल्प शुद्ध उपयोग होता है। ऐसे निर्विकल्प स्वानुभव के द्वारा ही मोक्षमार्ग के दरवाजे खुलते हैं।

नमस्कार हो.... मोक्षमार्ग के उद्घाटन करनेवाले महात्माओं को! ●●

सम्यक्त्व के विभिन्न लक्षणों का समन्वय

(सात तत्त्व की श्रद्धा कहो, स्व-पर भेद विज्ञान कहो, आत्म-श्रद्धान कहो वा सच्चे देव गुरु धर्म की श्रद्धा कहो - सब एकार्थ हैं। धर्मात्मा को चारों लक्षण होते हैं।)

श्री खीमचंद जेठालाल सेठ

पंडितप्रवर आचार्यकल्प श्री टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में सम्यक्त्व के चार लक्षण कहे हैं-

(1) विपरीताभिनिवेश रहित जीवादिक तत्त्वार्थ श्रद्धान, (2) स्वपर श्रद्धान, (3) आत्मश्रद्धान, (अरिहन्तदेव, निर्ग्रंथ गुरु, अहिंसामय धर्म के श्रद्धान उनको सम्यक्त्व कहा है।)

इस प्रकार सम्यक्त्व के विभिन्न लक्षण होने पर भी सबका प्रयोजन एक ही है। भावभासन सहित यथार्थ दृष्टिपूर्वक किसी एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण होता है।

(1) जहाँ सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा, वहां सातों तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान इसप्रकार करें कि जीव ज्ञानानंदस्वरूप है, शरीर कर्मादि अजीव हैं, आस्रव-बंध अहितकर हैं, संवर-निर्जरा हितकर है, मोक्ष परम हितकर है - ऐसी श्रद्धा करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना - यह मुख्य प्रयोजन विचार करके तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण कहा।

(2) स्वपर भिन्नता को सम्यग्दर्शन का लक्ष्ण कहा। तत्त्वार्थ श्रद्धान का हेतु स्वपर की भिन्नता का ज्ञान करके स्वरूप में स्थिरता करने का है। मैं जीव हूं - स्व हूं, शरीरादि अजीव हैं - पर हैं, इसलिए स्व-पर त्रिकाल भिन्न है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता हर्ता स्वामी नहीं है, आस्रव-बंध पर हैं क्योंकि वे पर के आस्रव से होता है - ऐसी श्रद्धा करके दोनों को हेय समझना चाहिए तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष स्वभाव का लक्ष्य से होते हैं अत- स्व में अभेद हैं - ऐसी श्रद्धा करके उनको उपादेय समझना चाहिए। राग को छोड़कर, ज्ञानानंद में लीनता करने का प्रयोजन है। स्व-पर की भिन्नता का श्रद्धान होने पर, स्व द्रव्य के आश्रय के बल द्वारा पर वस्तु में राग द्वेष करने योग्य नहीं हैं - ऐसी श्रद्धा होती है और स्व में स्थिरता करने का प्रयोजन सिद्ध होता है, स्वपर की भिन्नता की श्रद्धा में सातों तत्त्वों की श्रद्धा गर्भित है।

तत्त्वार्थ श्रद्धान में प्रयोजन स्वपर की भिन्नता करने का है, अत: स्व-पर भिन्नता को सम्यक्त्व का लक्षण कहा है। जीव-अजीव को जानकर हित-अहित का ज्ञान कर मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना - यह प्रयोजन स्व-पर की भिन्नता द्वारा सिद्ध होता है। अत: उनको भी सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

(3) आत्म-श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा। स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है, अन्य कोई पर की क्रिया मेरी नहीं है, इस प्रकार स्व को जानकर, पर का विषय कार्यकारी नहीं है, ऐसी श्रद्धा होती

है। ये अजीव है, मेरे से भिन्न है, पुण्य-पाप भाव आस्रव-बंध हैं, मेरे में नहीं हैं। अत: पर संबंधी विकल्प नहीं करना चाहिए।

पर वस्तु का ग्रहण-त्याग आत्मा के स्वभाव में हो, तो मिथ्यात्व कायम रहे। पर वस्तु को जीव ग्रहे या छोड़े ऐसा कभी बनता नहीं, पर वस्तु आवे या जावे उनको ज्ञान जानता है, ऐसा न मानकर मैं पर को ग्रहता हूँ वा छोड़ता हूँ ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। उनका नाश किये बिना स्व में स्थिरता कभी भी नहीं हो सकती। मैं आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप हूँ ऐसे ज्ञान बिना सम्यक् श्रद्धा होती ही नहीं।

आत्म-श्रद्धान में स्व-पर की भिन्नता सिद्ध होती है। स्व को स्व जानने पर अजीव संबंधी विकल्प करने की आवश्यकता न रही; और आस्रव बंध की गौणता हो गई, ऐसा प्रयोजन की प्रधानता विचारकर आत्म श्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण कहा।

(4) सर्वज्ञ देव, निर्ग्रंथ गुरु और अहिंसामय धर्म की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा, वहां बाह्य साधन की मुख्यता की है। सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा तत्त्वार्थ श्रद्धान का निमित्त कारण है। सच्चे देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान न हो और तत्त्वार्थ श्रद्धान हो ऐसा असंभव है तथा सच्चे देव गुरु धर्म का राग है इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धान बने ही बने ऐसा भी नियम नहीं। यदि सत्य तत्त्वार्थ श्रद्धान करे तो अरहंतादि की श्रद्धा को निमित्त कहने में आवे। द्रव्यलिंगी मुनि सच्चे देवादि की श्रद्धा तो करता है; किंतु आत्मा की यथार्थ श्रद्धा करता नहीं है, अत: उनको देवादि की श्रद्धा निमित्त भी नहीं कही जा सकती। जीव ज्ञान स्वभावी त्रिकाल उपादेय है, आस्रव-बंध हेय है, संवर-निर्जरा-मोक्ष प्रकट करने के लिये उपादेय है, इत्यादि श्रद्धा हो तो देवादि की श्रद्धा को निमित्त कहा जाता है। इस प्रकार सर्वज्ञ देव, निर्ग्रंथ गुरु और अहिंसामय धर्म की श्रद्धा तत्त्वार्थ श्रद्धान में बाह्य निमित्त है। ऐसा प्रयोजन विचारकर उनकी श्रद्धा को सम्यक्त्व का लक्षण कहा।

उपरोक्त प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रयोजन की मुख्यता पूर्वक भिन्न-भिन्न लक्षण कहा। तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण में सात तत्त्वों का ज्ञान करके, हिताहित की श्रद्धा करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना- यह हेतु है। स्व-पर की भिन्नता रूप लक्षण में तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन सिद्ध होता है, आत्मश्रद्धान रूप लक्षण कहा वहाँ आत्मा की श्रद्धा में पर का विकल्प करना नहीं, यह प्रयोजन है, तथा अरहंतादि की श्रद्धा में कुदेवादि की श्रद्धा छोड़नी और सच्चे देवादि की श्रद्धा ग्रहण करनी-यह प्रयोजन विचार कर बाह्य लक्षण की अपेक्षा यह लक्षण कहा है। यदि सच्चे लक्षण सहित देवादि का निर्णय करे तो स्वसन्मुख होने का बल मिलता ही है और सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता।

विचार करने में किसी समय मुख्यतया सात तत्त्वों को भिन्न-भिन्न विचारे अथवा स्व-पर को विचारे अथवा मैं ज्ञायक स्वभावी हूँ-ऐसा विचार कर अथवा अरहंतादि का स्वरूप का विचार करे -

इस प्रकार विचार में क्रम पड़ता है किंतु प्रतीति में चारों लक्षण एक ही साथ हैं।

श्रद्धान में सर्वत्र परस्पर सापेक्षता होती है। सच्चे देवादि की श्रद्धा हो वहां आत्मश्रद्धान, स्वपर श्रद्धान तथा तत्त्वार्थ श्रद्धान होना चाहिए। आत्मश्रद्धान हो वहां अरहंतादि का, स्वपर का तथा तत्त्वार्थ का श्रद्धान होना चाहिए, वैसे ही स्वपर श्रद्धान में तथा तत्त्वार्थ श्रद्धान में भी सापेक्षता समझनी चाहिए। जहां एक की सच्ची श्रद्धा हो वहां चारों की सच्ची श्रद्धा होती है। सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में भाव निक्षेप से चारों लक्षण एक साथ होते हैं; जिनके यथार्थ तत्त्वार्थ-श्रद्धान है, उनको चारों लक्षण हैं। सात ही तत्त्व की श्रद्धा कहो, स्व पर भेद विज्ञान कहो, आत्म-श्रद्धान कहो वा सच्चे देव गुरु धर्म की श्रद्धा कहो, सब एकार्थ है। धर्मात्मा को चारों लक्षण होते हैं। ●●

भाईजी टोडरमलजी के ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है जो गोमट्टसारादि ग्रंथों को संपूर्ण लाख श्लोक टीका बणाई। और पांच सात ग्रंथां की टीका बणायवे का उपाय है सो आयु की अधिकता हुवा बणैंगा। अर धवल महाधवलादि ग्रंथां के खोलबा का उपाय कीया वा उहां दक्षिण देस सूं पांच सात और ग्रंथ ताड पत्रों विषैं कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहां पधारे हैं ताकू मलजी बांचैं है, वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा कर्णाटी लिपि मैं लिखाले हैं इत्यादि न्याय व्याकरण गणित छंद अलंकार का याकैं ज्ञान पाईए है। ऐसे पुरुष महंत बुद्धि के धारक ईं काल विषै होना दुर्लभ है।

– जयपुर के इंद्रध्वज पूजा महोत्सव का निमंत्रण

मोक्षमार्ग एक ही है,व्यवहार मोक्षमार्ग तो उसका निमित्तमात्र है

श्री रामजी माणिकचंद दोशी, सोनगढ़

विद्वानों के एक वर्ग की ऐसी मान्यता है कि 'निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग दोनों मोक्ष के मार्ग हैं।' लेकिन आचार्यकल्प, आत्मज्ञानी, पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी साहब ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रंथ में 'मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, उसकी प्ररूपणा दो प्रकार की है' - ऐसा कहा है। वे विद्वान् श्री टोडरमलजी साहब के उक्त कथन को आगमानुकूल नहीं मानकर उसके विरुद्ध प्रचार करते हैं; इसलिए इस लेख द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'निश्चय मोक्षमार्ग ही एक मोक्ष का मार्ग है, व्यवहार मोक्षमार्ग तो उस निश्चय मोक्षमार्ग का (उदासीन) निमित्त मात्र सहचारी मात्र है।'

2. मोक्षमार्ग दो नहीं हैं किन्तु उसकी प्ररूपणा दो प्रकार की है। उसमें व्यवहार पद्धति हेय क्यों है-उसका आधार समयसार गाथा 414 की टीका में है। उस विषय का विवेचन पीछे किया है।

3. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में व्यवहार मोक्षमार्ग का निरूपण निम्न प्रकार से किया है :-

(1) मोक्षमार्ग तो कुछ दो नहीं हैं - किंतु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहां सच्चा मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण किया है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है तथा जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, किंतु मोक्षमार्ग का निमित्त है वा सहचारी है उसको उपचार से मोक्षमार्ग कहिये, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

(अ. 1 पृ. 366 दिल्ली से प्र.)

(2) बाह्य सहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। (अ. 7, पृष्ठ 373)

(3) व्यवहार मोक्षमार्ग पर-द्रव्याश्रित है और सच्चा मोक्षमार्ग स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय समझना चाहिए। (अ. 7, पृष्ठ 373)

(4) वह शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, परंतु वस्तु विचार से देखने पर शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है। इस प्रकार जो बंध का कारण है, वही मोक्ष का घातक है ऐसी श्रद्धा करना। (अ. 7, पृष्ठ 373)

(5) एकदेश वा सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावक-मुनिदशा होती है। कारण कि वह एकदेश-सर्वदेश वीतरागता और इस श्रावक-मुनिदशा के निमित्त-नैमित्तिकपना होते हैं। (अ. 7, पृष्ठ 373)

इस प्रकार मोक्षमार्ग तो कुछ दो नहीं है..... यह सब कथन आगमानुकूल है।

4. (अ) श्री प्रवचनसार गाथा 88 तथा 166 इस विषय में स्पष्ट है। गाथा 82 का तात्पर्य यह

है कि – जिसकी मति व्यवस्थित हुई है, वह एक ही मोक्षमार्ग मानते हैं और वह निश्चय मोक्षमार्ग है। व्यवहार मोक्षमार्ग है, वह निर्वाण का अन्य भी कारण है ऐसा नहीं है। अत: निश्चय मोक्षमार्ग के सिवा अन्य किसी मार्ग को अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग को निमित्तमात्र न मानकर सच्चा मोक्षमार्ग मानना वह व्यर्थ प्रलाप है।

(ब) गाथा 199 का सार यह है कि – 'एक ही मोक्ष का मार्ग है–द्वितीय नहीं है।' इस ही प्रकार एक ही मोक्षमार्ग है ऐसा आचार्यदेव ने अवधारित किया है। और 'अलं च प्रपंचेन' कहकर ऐसा सूचित किया है कि व्यवहारमोक्षमार्ग को सच्चा मोक्षमार्ग मानना, वह निरर्थक काल–व्यय है।

यह आगम वचन इतना स्पष्ट है कि इस विषय में विशेष विवेचन करना, वह आचार्य की आज्ञा का भंग है।

5. (अ) विचारणीय प्रश्न यह है कि निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग एक साथ उत्पन्न होते हैं, या आगे पीछे? 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रंथ में दोनों एक साथ होने का कथन है। वर्तमान में कई मनीषी ऐसा कहते हैं कि प्रथम तो अकेला मात्र व्यवहार मोक्षमार्ग होता है और पीछै आठवें गुणस्थान से निश्चय मोक्षमार्ग शुरु होता है।

(ब) कोई कहते हैं कि बारहवें गुणस्थान से निश्चय मोक्षमार्ग शुरु होता है और उसके पूर्व अकेला व्यवहार मोक्षमार्ग ही होता है, ऐसा कहकर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में कहे हुए कथन को आगम विरुद्ध कह देते हैं। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का कथन परम सत्य और पूर्णतया आगमानुकूल है, यह बतलाने में आता है।

6. (अ) इस विषय में श्री द्रव्यसंग्रह गाथा 47 और सं. टीका देखिये–

दुविहं पि मोखहेउं झाणे पाउणादि मुणी नियमा।
तम्हा पयत्त चित्ता जूयं झाणं समब्भसह।।47।।

अर्थ – ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं। इस कारण तुम चित्त को एकाग्र करके उस ध्यान का अभ्यास करो।

(ब) यह गाथा कितनी स्पष्ट है? वह स्पष्टतया कहते हैं कि दोनों मोक्षमार्ग एक साथ ध्यान में प्राप्त होते हैं। ऐसी परिस्थिति में अष्टम गुणस्थान के पहले अकेला व्यवहार मोक्षमार्ग है – यह श्रद्धा आगम विरुद्ध सिद्ध हो गई।

(फ) दोनों मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त होते हैं, यह कथन परम सत्य है। करणानुयोग के शास्त्र कहते हैं कि मुनित्व प्रथम सप्तम गुणस्थान में ही प्राप्त होता है। उस समय प्रथम की तीन कषाय का अभाव

है और संज्वलन कषाय का सद्भाव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि मुनि को तीन कषाय का अभावरूप निश्चय मोक्षमार्ग और एक कषाय का सद्भावरूप व्यवहार मोक्षमार्ग एक साथ होते हैं।

(ड) गाथा 47 की उत्थानिका और टीका इस बात को दृढ़ कराती है, उसकी उत्थानिका में कहते हैं कि–

'निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसाधकध्यानाभ्यासं कुरु यूयमित्युपदिशति'

अर्थ – निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग को साधनेवाले ध्यान का अभ्यास करो – ऐसा उपदेश देते हैं –

उसकी टीका में आचार्य श्री ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं कि –

'द्विविधमपि निर्विकार–स्वसंवित्यात्मक–परमध्यानेन मुनि:प्राप्नोति।।'

अर्थ – उन दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को मुनि–निर्विकार स्वसंवेदन स्वरूप परम ध्यान द्वारा प्राप्त होते हैं।

यहाँ यह बात खास याद रखनेयोग्य है कि निर्विकार स्वरूप परम ध्यान साधन है और उसका फल भावलिंगी मुनि के योग्य निश्चय और व्यवहार दोनों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति है। निश्चय मोक्षमार्ग को निश्चय रत्नत्रयात्मक, निश्चय मोक्षहेतु और व्यवहार मोक्षमार्ग को व्यवहार रत्नत्रयात्मक, व्यवहार मोक्षहेतु कहते हैं। (देखो, बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 47 टीका, पृ. 195) इस गाथा और टीका में ऐसा भी कहा है कि – यह नियम है कि सब भावलिंगी मुनि दोनों प्रकार से मोक्षमार्ग को पाते हैं, उनके लिए दूसरी कोई गति है नहीं अर्थात् इस नियम में कोई अपवाद नहीं है।

तात्पर्य

7. इसका तात्पर्य यह है कि – अकेला व्यवहार मोक्षमार्ग कोई भी भावलिंगी मुनि को तीन काल और तीन लोक में होते ही नहीं हैं, किंतु मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि को ही होते हैं।

इस तात्पर्य का समर्थक श्रीसमयसार और श्री तत्त्वानुशासन है।

8. (अ) श्री समयसार, गाथा 414 निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग संबंध की है। उसकी टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि –

'न हि शालितंदुलस्य बहिरंगतु ते विद्यमाने सत्यभ्यंतरतुषस्य त्याग: कर्तुमायाति।'

अभ्यंतरतुषत्यागे सति बहिरंगतुषत्याग: नियमेन भवत्येव।

अनेन न्यायेन सर्वसंगपरित्यागरूपे बहिरंगद्रव्यलिंगे सति भावलिंग भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यंतरे तु भावालिंगे सति सर्वसंगपरित्यागरूपद्रव्यलिंग भवत्येवेति।

अर्थ – शालितंदुलका बहिरंग छिलका विद्यमान हो वहाँ अभ्यंतर तुष का त्याग किया है ऐसा नहीं है, किंतु अभ्यंतर (ललाई) का त्याग हो वहाँ बहिरंग तुष का त्याग नियम से होते हैं, इस न्याय के अनुसार सर्वसंग परित्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिंग (अपरनाम व्यवहार मोक्षमार्ग) हो, वहाँ भावलिंग (अपरनाम निश्चय मोक्षमार्ग) हो और न भी हो, कोई नियम नाहिं है, किंतु अभ्यंतर में जहाँ भावलिंग हो (निश्चय मोक्षमार्ग हो) वहाँ सर्वसंग परित्यागरूप, द्रव्यलिंग (व्यवहार मोक्षमार्ग) होता ही है।

(मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि के सर्वसंग परित्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिंग है किंतु भावलिंग अभ्यंतर में नहीं है, इसलिये वह प्रथम गुणस्थानवर्ती है और असंयत सम्यग्दृष्टि का दर्जा उससे ऊंचा है।)

(ब) श्री तत्त्वानुशासन गाथा 33 निम्न प्रकार है:-

सच मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियं सदाऽप्यास्यपाऽऽलस्यम्।।33।।

अर्थ – यह दो प्रकार के मोक्षमार्ग ध्यान से ही प्राप्त होते हैं। इसलिए हे सुबुद्धिमानो! आलस का त्याग करके सदा ध्यान का ही अभ्यास करो।

यहाँ यह बताया है कि जो सुबुद्धि जीव है, वह निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग एक साथ होते हैं – ऐसा स्वीकार करते हैं और व्यवहार मोक्षमार्ग को तुष समान और निश्चय मोक्षमार्ग को अभ्यंतर शुद्ध शालि समान मानते हैं। दोनों को समान रूप से नहीं मानते।

उपरोक्त कथन का श्री प्रवचनसार से समर्थन :-

9. इस संबंध में श्री प्रवचनसार की गाथा 240, 241, 242 स्पष्ट है।

संयत श्रमण की व्याख्या गाथा 240 में है। इन सबका विवेचन करने से लेख का प्रमाण बढ़ जायेगा, इसलिए यहाँ उसकी उत्थानिका और टीका का आवश्यक भाग दिया जाता है।

10. गाथा 240-की संस्कृत उत्थानिका निम्न प्रकार है – 'अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धासंयतत्त्वयौग-पद्यात्मज्ञान यौगपद्यं साधयति।' (श्री अमृतचंद्राचार्य टीका)

अर्थ – अब आगमज्ञान-तत्त्वार्थ श्रद्धान-संयतत्त्व के युगपत्पने का (व्यवहार मोक्षमार्ग का) और आत्मज्ञान का (निश्चय मोक्षमार्ग का) युगपद्पना साधते हैं।

श्री जयसेनाचार्य टीका की उत्थानिका निम्न प्रकार है – ''यथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्त्वानां त्रयाणां यत्सविकल्पं यौगपद्यं तथा निर्विकल्पं आत्मज्ञानं चेति द्वयो: संभवं दर्शयति:-

अर्थ – अब आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान, संयमत्व का जो सविकल्प युगपद् तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान उन दोनों का संभव दर्शाते हैं।''

11. गाथा 240 – संस्कृत (श्री प्रवचनसार)

पंचसमितिस्त्रिगुप्त: पंचेन्द्रियसंवृतो जितकषाय:।
दर्शनज्ञानसमग्र: श्रमण: स संयतो भणित:।।280।।

(श्री अमृतचंद्राचार्य की टीका के अन्तिम भाग में से)

'...साक्षात् संयत एव स्यात्। तस्यैव चागमज्ञान-तत्त्वार्थवश्रद्धानसंयतत्त्वयौगपद्यं सिद्ध्यति।।'

अर्थ – वह साक्षात् संयत ही है। उनको ही आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान-संयतपना का युगपद्पना तथा आत्मज्ञान का युगपद्पना सिद्ध होता है।

12. श्री जयसेनाचार्य की टीका में व्यवहार समिति निश्चय समिति, व्यवहार गुप्ति निश्चयगुप्ति, व्यवहार पंच इंद्रिय संवृत, निश्चय से अतीन्द्रिय सुखास्वाद में रत, व्यवहार से जित कषाय, निश्चय से अकषाय आत्मभावनारत और दर्शन शब्द से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से स्वसंवेदन ज्ञान से समग्र ऐसा गुण विशिष्ट श्रमण संयत है – ऐसा कहा गया है। (श्री प्रवचनसार, गाथा 280)

13. उस टीका के अंत में कहा है –

'अत एतदायातं व्यवहारेण बहिर्विषये व्याख्याकृते तेन सविकल्पसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयं यौगपद्यं ग्राह्यम्। अभ्यंतरव्याख्यानेन तु निर्विकल्पात्मज्ञानं ग्राह्यमिति सविकल्पयौगपद्ये निर्विकल्पात्मज्ञानं च घटति इति।'

अर्थ – उपरोक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि – व्यवहार से बहिर्विषय का व्याख्यान करने पर सविकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रय का एकत्व समझना। अभ्यंतर व्याख्यान में तो निर्विकल्प आत्मज्ञान समझना। इस प्रकार सविकल्प का युगपत्पना निर्विकल्प आत्मज्ञान के साथ घटित होता है।

14. प्रवचनसार, गाथा 241-42 की उत्थानिकाओं के तथा टीका के अंत में दोनों आचार्य निश्चय मोक्षमार्ग व्यवहार मोक्षमार्ग का युगपद्पना बतलाते हैं।

भावलिंगी मुनि को व्यवहार महाव्रत के पालन के काल में सविकल्प दशा होने पर निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग युगपत् होते हैं इसलिए व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का सहचारी है।

15. श्री नियमसार शास्त्र में व्यवहार चारित्र अधिकार है, वहाँ गाथा 60 में श्री कुंदकुंदाचार्य ने कहा है कि –

सव्वेसि गंथाणं तागो णिरवेखभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स।।60।।

अर्थ – निरपेक्ष भावना पूर्वक (अर्थात् जिस भावना में पर की अपेक्षा नहीं होती है, ऐसी शुद्ध निरालंबन भावना सहित) सर्व परिग्रह का त्याग उस चारित्र भार वहन करनेवाले को पाँचवाँ व्रत कहा है।

16. यहां भावलिंगी मुनि को चारित्र भार वहन करनेवाला कहा है।

इस गाथा की टीका में भावलिंगी मुनि को परमजिन योगीश्वर और सदैव निश्चय-व्यवहार चारित्रभर वहन करनेवाले कहा है। उसका तात्पर्य यह हुआ कि सदैव अर्थात् हर समय वह भावलिंगी-भाव संयमी मुनि है; जिसको निश्चय-व्यवहार चारित्र एक साथ होते हैं। उसके बिना सदैव निश्चय व्यवहार बन सकता नहीं, अब उसकी संस्कृत टीका 'इह हि पंचमव्रतस्वरूपमुक्तम्। सकलपरिग्रहत्याग लक्षणनिज-कारणपरमात्म-स्वरूपोऽवस्थितानां परमसंयमिनां परमजिनयोगीश्वराणां सदैवनिश्चय-व्यवहारात्मकचारुचारित्रभरं वहतां, बाह्यान्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्यागएव परंपरया पंचमगतिहेतुभूतं पंचमव्रतमिति।'

अर्थ – टीका – 'यहाँ (इस गाथा में) पाँचवें व्रत का स्वरूप कहा गया है। – सकल परिग्रह के परित्याग स्वरूप निज कारण परमात्मा के स्वरूप में अवस्थित परमसंयमियों को-परम जिन योगीश्वरों को सदैव निश्चय-व्यवहारात्मक सुंदर चारित्र भर वहन करनेवालों को बाह्य अभ्यंतर चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही परंपरा से पंचगति के हेतुभूत हैं, ऐसा पाँचवाँ व्रत है।'

17. यहाँ स्पष्ट बतलाया है कि – भावलिंगी मुनि पंच महाव्रत का व्यवहार चारित्र के काल में भी (सविकल्प दशा में भी) निज शुद्धात्मा का स्वरूप में अवस्थित रहते ही हैं। वह एक समय भी अपना शुद्धात्म स्वरूप का आश्रय छोड़ दे तो मिथ्यादृष्टि हो जाये।

18. श्री परमात्म प्रकाश, अध्याय 2, गाथा 133 में यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि – जिस काल में मुनि आहार लेते हैं, उस काल निश्चय रत्नत्रय में स्थित हैं या नहीं हैं! उसका उत्तर रूप में कहा है कि – 'यतीनां तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यं।

अर्थ – यति को यह योग्य है कि – निश्चय व्यवहार रत्नत्रय में ठहरकर व्यवहार चारित्र के बल से महातप करना।'

19. यह टीका श्री कुंदकुंदाचार्य कृत श्री प्रवचनसार गाथा 226-27 के अनुसार है। वहाँ कहा है कि – मुनि युक्त आहार विहारी होते हैं और इसलिए वह साक्षात् अनाहारी विहारी होता है। उस बात

को स्पष्ट करते हुए श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि – '...युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबंधा-भावात्अनाहार एव भवन्ति...'

अर्थ – वह आहार करता हुआ भी आहार नहीं करनेवाले ऐसा होने से साक्षात् अनाहारी ही है। कारण कि युक्ताहारी होने के कारण उसको स्वभाव के – परभाव के निमित्त से बंध होते नहीं है।

20. इस सब आगम आधारों से सिद्ध हुआ है कि – मुनिदशा में वह मुनि निर्विकल्प दशा में हो या सविकल्प दशा में हो उनको निश्चय-व्यवहार दोनों मोक्षमार्ग एक ही साथ सदैव रहता है। इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का सहचारी है, वह 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का कथन सर्वथा आगमानुकूल ही है।

व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का निमित्त है, ऐसा पंडित टोडरमलजी का कथन है, वह आगमानुकूल है।

21. व्यवहार मोक्षमार्ग का उदासीन निमित्तपना जिनागम में इतना प्रसिद्ध है कि धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय आदि का उदासीन-अप्रेरक निमित्तपना को सिद्ध करने के लिये उसको दृष्टान्तरूप में दिया गया है।

(अ) धर्मास्तिकाय का अप्रेरक निमित्तपना बतलाने के लिये व्यवहार मोक्षमार्ग का निमित्तपना को दृष्टांत बनाकर पंचास्तिकाय गाथा 85 की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि – 'जिस प्रकार रागादि दोष रहित शुद्धात्मानुभूति सहित निश्चय धर्म सिद्धगति के लिये उपादान कारण भव्यों का होता है; तथा निदान रहित परिणाम से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम संहननादि विशिष्ट पुण्यरूप धर्म भी सहकारी कारण होते हैं, उसी प्रकार जीव-पुद्गल को गतिपरिणति में स्वकीय उपादान कारण होते हैं, तथापि धर्मास्तिकाय भी सहकारी कारण होते हैं।'

(ब) अधर्मास्तिकाय का अप्रेरक निमित्तपना बतलाने के लिये – व्यवहार मोक्षमार्ग का अप्रेरकपना का दृष्टांत देकर पंचास्तिकाय, गाथा 87 की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि – 'अथवा शुद्धात्मस्वरूप स्थिति उसका उपादान कारण निश्चय से वीतराग निर्विकल्प स्व-संवेदन है, व्यवहारनय से पुनः अर्हन्तसिद्धादि परमेष्ठी का गुणों का स्मरण है। उस प्रकार निश्चयनय से जीव पुद्गलों की अपने स्वरूप से ही स्थिति उपादान कारण है, व्यवहारनय से अधर्म द्रव्य है ऐसा सूत्र तात्पर्य है।।86।।'

22. यह व्यवहार मोक्षमार्ग अशुद्धरत्नत्रय है, पुण्य बंध उसका फल है, ऐसा श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय, गाथा 164 की टीका में निम्न शब्दों में कहा है –

''एवं शुद्धाशुद्धरत्नत्रयाभ्यां यथाक्रमेण मोक्ष-पुण्य बंधोभवत इति कथनरूपेण गाथा गता।'' यह सहकारी कारण अत्यंत उदासीन है, और निमित्तमात्र है ऐसा श्री जयसेनाचार्य तथा पांडे हेमराजजी ने श्री पंचास्तिकाय ग्रंथ की गाथा 88 की टीका में कहा है।

23. इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग अशुद्धरत्नत्रय होने से बंधरूप परिणमते हैं; वह संवर निर्जरारूप कभी भी नहीं परिणमते किंतु उसके साथ रहनेवाला निश्चय शुद्धरत्नत्रय अपना शुद्ध उपादान कारणरूप परिणमन करके संवर-निर्जरारूप होते हैं। इसलिए 'एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग है ऐसा दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है' - ऐसा जो मोक्षमार्ग प्रकाशक का कथन पृष्ठ 367 में है, वह परम सत्य और आगम की रक्षा करनेवाला है, ऐसा सिद्ध हुआ।

24. व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप श्री कुंदकुंदाचार्य ने श्री पंचास्तिकाय गाथा 160 में निरूपित किया है। उस पर श्री अमृतचंद्राचार्य तथा श्री जयसेनाचार्य कृत टीका का सार श्री पांडे हेमराजजी ने निम्न शब्दों में कहा है -

''क्योंकि अपने ही उपादान कारण से स्वयमेव निश्चयमोक्षमार्ग की अपेक्षा शुद्ध भावों से परिणमते हैं। यहाँ यह व्यवहार निमित्तकारण की अपेक्षा साधन कहा गया है। जैसे सोना यद्यपि अपने अपने शुद्ध पीतादिगुणों से प्रत्येक आँच में शुद्ध अवस्थाओं धरे है, तथापि बहिरंग निमित्त अग्नि आदिक वस्तु का प्रयत्न है, तैसे ही व्यवहार मोक्षमार्ग है।।160।।''

25. श्री जयसेनाचार्य भी कहते हैं कि यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का बहिरंग साधक होता है, यह सूत्रार्थ है। (यह संस्कृत टीका का सार हिन्दी भाषा में आ गया है। अत: यहाँ नहीं दिया है)।

नोंध - निमित्त कारण, बहिरंग निमित्त, बहिरंग साधक, भिन्न साधक सब एकार्थ हैं।

(देखिये आगे पैरा 28)

26. इन आगमों के आधार से श्री पंडितजी कृत 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' संबंधी सब कथन तथ्यपूर्ण एवं आगमानुकूल है, ऐसा सिद्ध हुआ। इससे विरुद्ध कथन जो-जो कहने में आते हैं, वह सब भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य, श्री अमृतचंद्राचार्य और श्री जयसेनाचार्य से विरुद्ध है।

(2)

बाह्यसहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा यह कथन आगमानुकूल है।

27. श्री परमात्मप्रकाश, अध्याय 1, गाथा 98 की टीका में व्यवहार मोक्षमार्ग को बहिरंग सहकारी कारण कहा है। यह कथन निम्न प्रकार है ''तद्यथा, वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा यस्य

शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्र पुराणतपश्चरणानिनिरर्थकानि भवन्ति।'' अर्थ - 'वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप शुद्धात्मभावना जिसके नहीं है, उसे शास्त्रपुराण-तपश्चरणादि निरर्थक है।' आगे कहते हैं कि -

''वह क्या सर्वथा निष्फल है? ऐसा नहीं है। यदि वीतराग सम्यक्त्वरूप स्वशुद्धात्मा उपादेय ऐसी भावना सहित हो तो मोक्ष का बहिरंगसहकारी कारण होते हैं, उसके अभाव में पुण्य बंध के कारण होते हैं। मिथ्यात्व रागादि सहित जीव को पाप बंध के कारण भी होते हैं, जैसे - रुद्र आदि विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व तक शास्त्र पढ़ कर भ्रष्ट हो जाते हैं।''

यहाँ शास्त्र पुराण-तपश्चरण आदि जो व्यवहार मोक्षमार्ग है उसको, जो उसके साथ निश्चय मोक्षमार्ग हो तो, निमित्त कहा है बहिरंगसहकारी कारण कहा है। पुरुषार्थसिद्धि उपाय, गाथा 220 में शुभोपयोगरूप व्यवहार मोक्षमार्ग को 'अपराध' कहा है। अपराध सदा अशुद्ध भाव ही होता है।

व्यवहार मोक्षमार्ग को बहिरंग सहकारी कारण कहो कि उपचार मोक्षमार्ग कहो, यह दोनों एक ही बात है। पु.सि. 3 गाथा 4 तथा 222 में व्यवहार को 'उपचार' और गाथा 5-6-7 में 'अभूतार्थ' कहा है। व्यवहार को माणवक (बिल्ली) और निश्चय को सिंह की उपमा दी गई है। उपचार मोक्षमार्ग वास्तव में मोक्षमार्ग हो सकते नहीं इसलिए मोक्षमार्ग एक ही है, व्यवहार तो उसका निमित्त मात्र है।

(इस विषय में प्रथम पैरा - 21 से 25 में आया है - उसको यहाँ भी पढ़ना)।

(3)

'व्यवहार मोक्षमार्ग पर द्रव्याश्रित है और सच्चा मोक्षमार्ग स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय समझना' यह कथन आगमानुकूल है।

29. इस विषय में श्री समयसार गाथा 272 की टीका में कहा है कि -

''यहाँ निश्चयनय आत्मा के आश्रित है, पर के आश्रित व्यवहाररूप है।

इसलिए जिसे अध्यवसान पराश्रित है, उसी तरह व्यवहारनय भी पराश्रित है, इसमें विशेष नहीं है। अत: ऐसा सिद्ध हुआ कि यह व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य ही है, क्योंकि जो आत्माश्रित निश्चयनय के आश्रित है; उनके ही कर्मों से मुक्तपना है और पराश्रित व्यवहारनय के तो एकान्त से कार्य से नहीं छूटनेवाले अभव्य को भी आश्रीयमाणपन है।''

30. 'व्यवहारनय प्रतिषेधने योग्य ही है' - ऐसा कहा उसका अर्थ वह त्याज्य है, हेय है - ऐसा समझना।

31. श्री समयसार कलश 173 में भी कहा है कि -

''तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोप्यन्याश्रयस्त्याजित:'' अर्थ - आचार्य कहते हैं हम ऐसा मानते हैं कि सभी व्यवहार पर के आश्रय से प्रवर्तनेवाला होने से त्याज्य है - हेय है।

32. श्रद्धा-मान्यता किस प्रकार की करनी चाहिए, वह आचार्यदेव कहते हैं। आचार्यदेव की श्रद्धा सब व्यवहार को त्याज्य हेय माननेरूप है, इसलिए आचार्यदेव का उपदेश जिसको मान्य है, उसे अपनी श्रद्धा में व्यवहार मोक्षमार्ग को हेय त्याज्य मानना चाहिए।

सच्चे मोक्षमार्ग को अपनी भूमिकानुसार व्यवहार होता ही है, यदि न हो तो उसको त्याग करने का प्रश्न उत्पन्न होता ही नहीं है।

इसलिए व्यवहार मोक्षमार्ग को श्रद्धा में हेय समझना और उसका अभाव करने का तथा आत्माश्रित भाव की वृद्धि करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार मोक्षमार्ग को हेय समझकर उसको छोड़कर अशुभ भाव करना। आत्माश्रित भाव की वृद्धि करने हेतु निश्चय मोक्षमार्ग को उपादेय मानकर, व्यवहार मोक्षमार्ग को हेय मानना।

मोक्षार्थी को सेवन करने योग्य सिद्धांत

33. श्री कुंदकुंदाचार्य तथा श्री अमृतचंद्राचार्य अत्यंत स्पष्ट रूप से मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करके मोक्षार्थी को उसका सेवन करने का उपदेश देते हुए श्री समयसार मोक्ष अधिकार गाथा 297 से 300 तथा कलश 185 द्वारा कहते हैं कि -

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा।।297।।

''टीका - निश्चयकर जो निश्चित स्वलक्षण को अवलंबन करनेवाली प्रज्ञा है, उसकर चैतन्यस्वरूप आत्मा को भिन्न किया था कि -

यह मैं हूँ और जो ये अवशेष अन्य अपने लक्षण से पहचानने योग्य व्यवहार रूप भाव हैं, वे सभी आत्मा का व्यापक जो चेतकपन उसके व्याप्यपने में नहीं आते, वे मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए मैं ही अपने कर ही, अपने लिये, अपने में ही, अपने को ही, ग्रहण करता हूँ।।''

(देखो, समयसार, रायचंद्र जैन शास्त्रमाला, पृ. 393)

34. यहाँ व्यवहार मोक्षमार्ग जो 28 मूलगुण के पालनरूप शुभराग है, उसका स्वामित्व ज्ञानी को नहीं है ऐसा स्पष्ट कहा है। उस भावों की मूल गाथा में अवशेष जो भाव हैं, वह मेरे से पर हैं ऐसा निज अनुभव से श्री कुंदकुंदाचार्य स्वयं कहते हैं, वह व्यवहार भावों भावलिंगी मुनि को अपनी कमजोरी से आये बिना रहते नहीं, किंतु हेयरूप होने से वे अपने से पर-बाह्य मानते हैं।

35. जो अपने से पर है उसके द्वारा जीव को संवर-निर्जरारूप मुनि धर्म कभी भी हो सकता नहीं है।

36. श्री समयसार, गाथा 300 की टीका में यह सिद्धांत निम्न शब्दों में कहा है कि सर्वथा एक चिद्भाव ही ग्रहण करनेयोग्य है - उपादेय है, अवशेष सर्व भाव त्यागने योग्य-हेय है। टीका - ''जो पुरुष अत्मा और पर के निश्चित स्वलक्षणों के विभाग में पड़ने वाली प्रज्ञा द्वारा ज्ञानी होता है, वह पुरुष निश्चयकर एक चैतन्यमात्र अपने भाव को अपना जानता है और शेष सभी भावों को पर का जानता है - ऐसा जानता हुआ पर के भावों को ये मेरे हैं ऐसे किस प्रकार कह सकते हैं? - ज्ञानी तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि पर और आप में निश्चय से स्व-स्वामी संबंध का असंभव है। इसलिए सर्वथा चिद्भाव ही एक ग्रहण करनेयोग्य है, अवशेष सभी भाव त्यागने योग्य है ऐसा सिद्धांत है।''

37. इस सिद्धांत को दृढ़ करते हुए कलश 185 में श्री अमृतचंद्राचार्य फिर कहते हैं कि -

''सिद्धान्तोऽयं उदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यताम्
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहं।
एते येतु समुल्लसंति विविधाः भावाः पृथग्लक्षणाः
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रामपि।।185।।

अर्थ - जिनके चित्त के चारित्र उदात्त उज्ज्वल हैं ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धांत का सेवन करो कि - मैं तो शुद्ध चैतन्यमय परम ज्योति ही सदा हूँ और यह जो लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वह मैं नहीं हूँ क्योंकि ये सब पर द्रव्य हैं।''

38. सर्वथा चिद्भाव ही एक ग्रहण करनेयोग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य है ऐसा सिद्धांत मोक्षार्थी स्वीकारते हैं -

सब व्यवहार भावों पर द्रव्याश्रित होने से पर द्रव्य है - ऐसा कलश में स्पष्ट कहा। ऐसा स्पष्ट कथन होने पर भी व्यवहार मोक्षमार्ग से जीव को संवर-निर्जरारूप धर्म मानना, वह बड़ी विपरीतता है।

(श्री समयसार गाथा 314 और उसकी टीका में उपरोक्त सिद्धांत को दृढ़ किया है।)

39. इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग पर-द्रव्याश्रित है और सच्चा मोक्षमार्ग स्वद्रव्याश्रित है - इस कारण व्यवहार मोक्षमार्ग को असत्यार्थ और हेय समझना, ऐसा पंडितजी का कथन यथार्थ है, ऐसा सिद्ध हुआ।

(4)

''वह शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है परंतु वस्तु विचार से देखने पर शुभोपयोग

मोक्ष का घातक ही है। इस प्रकार जो बंध का कारण है, वह ही मोक्ष का घातक है, ऐसी श्रद्धा करनी'' यह कथन भी सर्वथा आगमानुकूल है।

40. श्री श्रुत में निपुण बुद्धिवाले सब साधु क्या कहते हैं, वह श्री पद्मनंदी आचार्य धर्मोपदेश अमृत नामक प्रथम अधिकार में निम्न प्रकार कहते हैं :-

''अपने शुद्ध आत्मरूप में रुचि उत्पन्न होने का नाम सम्यग्दर्शन है। इसी आत्मस्वरूप के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इसी आत्म-स्वरूप में लीन होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। ये तीनों एक साथ उत्पन्न होकर बंध का नाश करते हैं।

बाह्य रत्नत्रय केवल बाह्य पदार्थों को ही विषय करता है और उससे शुभ अथवा अशुभ कार्य का बंध होता है, जो संसार परिभ्रमण का कारण है, इस प्रकार श्रुतनिपुण बुद्धि धारक साधु कहते हैं।'' (नोंध - घाति कर्म जो व्यवहार मोक्षमार्ग में बँधते हैं, वह अशुभ कर्म हैं, पाप प्रकृति है।)

41. श्री पंचास्तिकाय गाथा 164 जयसेनाचार्य टीका में उसी सिद्धांत को निम्न प्रकार सिद्ध किया है-

(1) भूमिका - ''दर्शन-ज्ञान-चारित्र - पराश्रितैर्बन्धः स्वाश्रितैर्मोक्षो भवतीति समर्थयतीति''

अर्थ - दर्शन-ज्ञान-चारित्र पराश्रित हो तो बंध और स्वाश्रित हो तो मोक्ष होते हैं। उसका समर्थन करते हैं -

(2) ते हि दु बंधो व मोखोवा-तेस्तु पराश्रितैः बंधः स्वाश्रितैर्मोक्षो वेति इतो विशेषः। अर्थ - इसमें पराश्रित (व्यवहार रत्नत्रय है वह) बंध का कारण है और स्वाश्रित (निश्चय मोक्षमार्ग है वह) मोक्ष का कारण है। उसका विशेष -

(3) ''शुद्धात्माश्रितानि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षकारणानि भवन्ति, पराश्रितानि बंधकारणानि भवन्ति च।''

अर्थ - शुद्धात्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वे मोक्ष के कारण होते हैं, पराश्रित (रत्नत्रय) बंध के कारण होते हैं।

(4) ''केन दृष्टांतेनेति चेत्। यथा घृतानि स्वभावेन शीतलान्यपि पश्चादग्निसंयोगेन दाहकारणानि भवन्ति।'' अर्थ - किस दृष्टांत से? जैसे घी स्वभाव से शीतल है तो भी पीछे अग्नि संयोग से दाह उत्पन्न करता है।

(5) ''तथा तानि (शुद्ध रत्नत्रय) अपि स्वभावेन मुक्तिकारणानि अपि पंचपरमेष्ट्यादिप्रशस्त-द्रव्याश्रितानि साक्षात् पुण्यबंधकारणानि भवन्ति-'' अर्थ - वह (शुद्ध रत्नत्रय) भी स्वभाव से मुक्ति के कारण हैं तो भी पंच परमेष्ठी आदि प्रशस्त द्रव्य के आश्रय से साक्षात् पुण्यबंध के कारण होते हैं।

(6) 'मिथ्यात्वविषयकषायनिमित्तभूतपरद्रव्याश्रितानि पुनः पापबंधकारणान्यपि भवन्ति।' अर्थ – मिथ्यात्व विषय कषाय निमित्तभूत परद्रव्य के आश्रय से तो पाप बंध कारण होते हैं।

(7) 'तस्मात् ज्ञायते जीवस्वभावनियतचरितं मोक्षमार्गः इति।' अर्थ – इस कारणों से जानना कि – जीव स्वभाव चारित्र मोक्षमार्ग है।

(8) 'एवं शुद्धाशुद्धरत्नत्रयाभ्यां यथाक्रमेण मोक्षपुण्यबंधी भवत इति कथनरूपेण गाथा गता।' अर्थ – इस प्रकार शुद्ध और अशुद्ध (व्यवहार) रत्नत्रय से यथा क्रम से मोक्ष और पुण्य बंध होते हैं, इस कथन की गाथा पूर्ण हुई।

42. इससे सिद्ध हुआ कि –

(1) निश्चय मोक्षमार्ग को शुद्ध रत्नत्रय कहते हैं और वह एक ही सच्चा मोक्षमार्ग है।

(2) भावलिंगी मुनि के व्यवहार मोक्षमार्ग को अशुद्ध रत्नत्रय कहते हैं और वह पुण्य बंध का कारण है। इसलिए वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

(3) व्यवहार मोक्षमार्ग पर–द्रव्याश्रित है।

(4) सच्चा मोक्षमार्ग स्वद्रव्याश्रित है।

(5) इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग असत्यार्थ मोक्षमार्ग–अशुद्ध रत्नत्रय होने से असत्यार्थ और निश्चय से हेय है।

(6) व्यवहार मोक्षमार्ग को शुभोपयोग कहते हैं, इसलिए वह मोक्ष का घातक है, क्योंकि वह पुण्यबंध का कारण है, और पुण्य बंध जब होता है, तब घाती कर्म जो पाप प्रकृति है, वह भी बँधती है।

43. इस प्रकार वस्तु विचार से देखने पर व्यवहार मोक्षमार्ग रूप शुभोपयोग मोक्ष का घातक है ऐसा पंडितजी का कथन निर्दोष सिद्ध हुआ।

'एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावक मुनिदशा होती है कारण कि वह एकदेश–सर्वदेश वीतरागता और श्रावक–मुनिदशा के निमित्त नैमित्तिकपना होते हैं।' अतः यह कथन आगमानुकूल है।

44. यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि श्रावक जो पंचम गुणस्थान का धारक है, उसे भी निश्चय और व्यवहार मार्ग होते ही हैं। इस विषय में श्री समयसार गाथा 414 पर्याप्त आधार है। वह निम्न प्रकार है :–

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्ख पहे।
णिच्छय णओ ण इच्छदि मोक्ख पहे सव्वलिंगाणि।।414।।

अर्थ – व्यवहारनय तो मुनि-श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिंगों को मोक्ष का मार्ग कहता है, और निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं कहता। इस गाथा की भूमिका में श्री जयसेनाचार्य का कथन बड़ा सुंदर है; वह कहते हैं कि – भावलिंगी श्रावक और भावलिंगी मुनि दोनों निर्विकार शुद्धात्मा संवित्ति लक्षण भावलिंग सहित हैं और निर्ग्रंथ यतिलिंग, कोपिन करणादि बहुत भेद सहित गृहलिंग-वे दोनों मोक्षमार्ग हैं ऐसा व्यवहारनय कहते हैं।

45. पंचम गुणस्थान के धारक को निर्विकार शुद्धात्म संवित्ति लक्षण शुद्धभाव नियम से होता है। जिस श्रावक को निर्विकार शुद्धात्म संवित्ति लक्षण शुद्धभाव नहीं है, वह श्रावक मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी श्रावक कहलाते हैं और जो मुनि को उपरोक्त निश्चय मोक्षमार्ग नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि कहलाता है; यह प्रथम गुणस्थानधारी है।

46. इस गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं –

(1) ''ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपरे।''

अर्थ – व्यवहारनय दोनों लिंग मोक्ष पंथ में कहते हैं। 'केन कृत्वा! निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षण-भावलिंगस्य बहिरंगकारिकारणत्वेनेति।'

अर्थ – निर्विकारस्वसंवित्ति लक्षण भावलिंग का बहिरंग सहकारी कारणपना होने से। नोंध – यहाँ मुनि और श्रावक का निश्चय मोक्षमार्ग को निर्विकारस्य संवित्ति अर्थात् निर्विकार स्वानुभव कहा है और बाह्यलिंग को तो निमित्त कारण कहा है।

इस प्रकार सर्वदेश-एकदेश वीतरागभाव को बाह्यलिंग के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध सिद्ध हुआ।

(2) पश्चात् निम्न प्रकार संस्कृत में टीका है –

''णिच्छयणयो दु णेच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि' (टीका) निश्चयनयस्तु निर्विकल्प-समाधिरूप-त्रिगुप्तिगुप्त बलेन अहं निर्ग्रंथ: कोपिनधारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यविकल्परागादिविकल्पवत् नेच्छति। कस्मात्? स्वयमेव निर्विकल्पस्वभावात् इति।

अर्थ – निर्विकल्प समाधिरूप त्रिगुप्तिगुप्त बल द्वारा मैं निर्ग्रंथ, मैं कोपिन धारक इत्यादि मानसिक सर्व द्रव्य विकल्पों-रागादि विकल्प की भाँति जो निश्चयनय है, वह इच्छते नहीं।''

47. इससे निम्न सिद्धांत सिद्ध हुआ –

(1) भावलिंगी मुनि और श्रावक दोनों को अपने योग्य निर्विकल्प समाधिरूप (निश्चय धर्मरूप) त्रिगुप्ति बल होते हैं, ऐसा टीकाकार आचार्य स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। इस आगम वचन से यह

मान्यता आगम विरुद्ध सिद्ध हुई जो 'निर्विकल्प समाधिरूप त्रिगुप्ति बल का प्रारंभ अष्टम गुणस्थान से ही शुरु होता है। निर्विकल्प समाधि कहो या निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहो - दोनों एकार्थ है।'

(2) निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग परस्पर विरुद्ध हैं। कारण कि निश्चय मोक्षमार्ग स्वद्रव्याश्रित ही है और व्यवहार मोक्षमार्ग पर-द्रव्याश्रित है।

अत: वह उपादान कारण नहीं है किंतु निमित्त कारण (बहिरंग सहकारी कारण, उपचार कारण) है।

(3) पाँचवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक निश्चय मोक्षमार्ग रहित मात्र अकेला व्यवहार मोक्षमार्ग ही है, ऐसी मिथ्या मान्यता का अर्थ यह होता है कि - उपादान कारण के बिना ही अकेला व्यवहार कारण उन गुणस्थानों में होता है - जो असंभव ही है। अत: अकेला निमित्त अर्थात् व्यवहार कारण मोक्षमार्ग में माना जाये तो दोनों कारण एक साथ होना चाहिए यह सिद्धांत मिथ्या हो जाता है।

(4) कार्य-कारण की, प्रमाण दृष्टि से, प्ररूपणा करना चाहिए, वह जिनागम की निश्चित पद्धति है। श्री नियमसार कलश नं. 3 में कहा है कि दोनों नयों के आश्रित कथन करने की पद्धति है। (1) उपादान कारण और (2) निमित्त अर्थात् व्यवहार कारण, इस प्रकार प्रत्येक कारण का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। दोनों में हर समय के कार्य काल में उचित योग्यता होनी ही चाहिए, ऐसे कथन से दो मोक्षमार्ग हो नहीं जाते। अत: तत्त्वदृष्टि से दो सच्चे मोक्षमार्ग नहीं हो सकते, किंतु (1) निश्चय मोक्षमार्ग का ही दो कारणों द्वारा निरूपण सर्वत्र होता है।

यह सिद्धांत समयसार गाथा 414 श्री अमृतचंद्राचार्य ने विशेष स्पष्टतया टीका में निम्न प्रकार कहा है-

''श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग हैं - इस प्रकार का जो प्ररूपण-प्रकार (अर्थात् जो प्ररूपण) है, वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं है।'' श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में पंडितजी ने कहा है कि ''परमार्थ से मोक्षमार्ग दो नहीं है, निरूपण दो प्रकार से है'' और यह नियम यहाँ भी सिद्ध हो जाता है और व्यवहार मोक्षमार्ग कथनमात्र है ऐसा बताने के लिये उसको केवल व्यवहार ही है, परमार्थ (सत्यार्थ) नहीं है ऐसा आचार्यदेव निर्भयता से स्पष्ट कहते हैं।

(5) व्यवहार मोक्षमार्ग परमार्थ-सत्यार्थ नहीं है, उसका कारण श्री अमृतचंद्राचार्य ने निम्न प्रकार कहा है-

''क्योंकि वह प्ररूपण स्वयं अशुद्ध द्रव्य का अनुभव स्वरूप है इसलिए उसको परमार्थ का अभाव है। देखो- यह कथन कितना सुस्पष्ट है? संपूर्ण स्पष्ट है।

क्या अशुद्ध द्रव्य का अनुभव स्वरूप जो व्यवहार मोक्षमार्ग वीतरागी जैनधर्म में संवर-निर्जरा स्वरूप हो सकते हैं? कभी नहीं हो सकते। वीतरागी जैनधर्म में तो वीतरागता से संवर-निर्जरा हो सकते हैं, किंतु अशुद्ध द्रव्य के अनुभव रूप व्यवहार मोक्षमार्ग कभी भी (एक समय भी) संवर-निर्जरा का कारण वास्तव में हो सकते नहीं हैं।''

(6) व्यवहार मोक्षमार्ग को श्री जयसेनाचार्य पंचास्तिकाय में गाथा 164 की टीका में 'अशुद्धरत्नत्रय' कहते हैं। अशुद्धता को वीतरागी धर्मरूप संवर-निर्जरा मानना गंभीर अन्याय ही है।

(7) श्री पंचास्तिकाय गाथा 166 की टीका के अंत में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि - ''यहाँ निरास्रव शुद्ध निज आत्मतत्त्व संवित्ति (संवेदन) से मोक्ष होता है, यह हेतु है। पराश्रित परिणाम से मोक्ष का निषेध है। यह सूत्रार्थ है।'' यह कितना सुंदर वीतरागी सिद्धांत है!

(8) कर्मक्षय निमित्तरूप व्यवहार मोक्षमार्ग से नहीं होते हैं, किंतु उपादान कारण से ही होते हैं, ऐसा पंचास्तिकाय गाथा 155 की भूमिका में श्री जयसेनाचार्य ने निम्न प्रकार कहा है -

''अथ स्वसमय-उपादानेन कर्मक्षयो भवतीति हेतो जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्ग भवत्येव भण्यते'' यह बात भी विशेष स्पष्ट है।

(9) श्री पंचास्तिकाय गाथा 166 में 4 अरिहंत, सिद्ध, चैत्यालय, प्रतिमा, प्रवचन (सिद्धांत) मुनिगण और ज्ञान की भक्ति से बहुत पुण्य बंध होते हैं परंतु यह कर्मक्षय नहीं करते - ऐसा स्पष्ट श्री कुंदकुंदाचार्य स्वयं कहते हैं। गाथा 167 में कहा है कि - ''गुणस्थानसोपानक्रमेण रागादि रहित निजशुद्धात्म में स्थित होकर अरहंतादि विषय में भी राग त्याज्य है ऐसा अभिप्राय है।''

(48) राग से सदाकाल बंधन ही होता है और वीतराग भाव से साधक जीव को सदा संवर-निर्जरा होते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग की कणिका (आंशिक स्वाश्रयरूप निश्चय धर्म) प्रगट होती है। इसलिए वहाँ से निजात्मा का आश्रय होता है और उतने अंश में निरंतर राग का त्याग वर्तता है। पंचम गुणस्थान में विशेष संवर निर्जरा है। इसलिए उसको स्वद्रव्य का आलंबन के विशेष बल से एक देश निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग प्रगट होते हैं। और मुनि को 6-7 गुणस्थान में उससे विशेष निर्जरा होती है और जितना परद्रव्य का आलंबनरूप राग है उतना अंश में बंधन भी होता है। अत: (स्वाश्रयरूप) संवर-निर्जरा निश्चय मोक्षमार्ग और शुभोपयोग रूप भावबंध व्यवहार मोक्षमार्ग है। उसको निमित्त जानकर व्यवहारनय से साधक कहने का प्रयोजन यह है कि पंचम गुणस्थान में उस भूमिका के योग्य देशव्रतरूप शुभराग होना चाहिए और छठवें गुणस्थान में उसके योग्य महाव्रत होना चाहिए। जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग हो वहाँ निमित्त नैमित्तिक व्यवहार ऐसा ही होना चाहिए। जो कोई अन्यथा माने, वह जिनागम से विरुद्ध ही है।

छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों की अवस्था

47. श्री समयसार गाथा 5 की टीका में श्री कुंदकुंदाचार्य के संबंध में श्री अमृतचंद्राचार्य ने निम्न प्रकार कहा है -

(अ) हमारे गुरु उपदेश काल में भी निर्मल विज्ञान घन आत्म-स्वभाव में अंतर्मग्न थे। (ब) निरंतर झरते आस्वाद में आता हुआ जो सुंदर आनंद उसकी मुद्रा से युक्त प्रचुर संवेदन स्वरूप स्वसंवेदन से निज वैभव का जन्म हुआ है। छठवें-सातवें दोनों में सुंदर आनंद और प्रचुर संवेदन रहते हैं ऐसा बतलाने के लिये 'निरंतर' शब्द आया है। (क) श्री समयसार, गाथा 17-18 कलश 20 में आचार्य कहते हैं कि ''अनंत (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी इस आत्मज्योति का हम निरंतर अनुभव करते हैं; क्योंकि उसके अनुभव के बिना साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती....''

यहाँ अपना उपादान रूप निश्चय साधक तो आत्मा का निरंतर अनुभव और साध्य तो निजात्मा की सिद्धि कही है। और आगम में जहाँ व्यवहार को साधक कहा है, वहाँ वह तो निमित्तरूप साधक है - ऐसा समझना चाहिए।

अंतरंग निश्चय मोक्षमार्ग के बिना मात्र निमित्त-व्यवहार को संवर-निर्जरा का सच्चा कारण मानना अर्थात् उसको बहिरंग साधक-बहिरंग सहकारी कारण निमित्त कारण, उपचार कारणरूप साधन न मानकर अंतरंग साधक, अंतरंग सच्चा कारण, उपादान कारण, मुख्य (अनुपचार) कारण मानना, वह तो सैद्धांतिक मूलभूत बड़ी गलती है।

श्री पूज्यपादाचार्य समाधितंत्र में अनेक स्थान में कहते हैं कि हम आत्मा का अनुभव निरंतर करते हैं।

श्लोक नं. 3 में 'सम्यक् समीक्ष्य' शब्द है, उसका अर्थ :- 'सम्यक् रूप से जानकर अनुभव करते हैं,' ऐसा टीकाकार आचार्य ने कहा है।

श्लोक 31 में टीकाकार कहते हैं कि, ''जो स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है, अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा है वह ही मैं हूँ। जो स्वसंवेदन से प्रसिद्ध मैं अंतरात्मा वह परम अर्थात् परमात्मा हूँ।'' - श्लोक 32 में कहते हैं कि - ''मेरा आत्मा को विषयों से हटाकर मेरा आत्मा से ही मैं मेरे में स्थित परमानंद से निवृत्त ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ।''

श्लोक 51 में ''जो उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनंदमय ज्ञान ज्योति को अंतरंग में देखता हूँ - उनका अनुभव करता हूँ, वह मेरा वास्तविक स्वरूप है।'' टीकाकार प्रभाचंद्राचार्य भी कहते हैं कि ''मैं स्वसंवेदन से अनुभव करता हूँ।'' (नोंध) क्या उपरोक्त वर्णन व्यवहार मोक्षमार्ग का है? क्या यह

आचार्यश्री को मात्र व्यवहार अर्थात् पर द्रव्याश्रित मोक्षमार्ग ही था? नहीं, वर्तमान में जो कोई जीव पंचम काल के मुनियों को केवल व्यवहार मोक्षमार्ग मानते हैं, वह मान्यता ठीक नहीं है।

श्री प्रवचनसार गाथा 33-34 की टीका में श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि - ''हम भी क्रम से परिणमता हुआ कतिपय चैतन्य विशेषशाली श्रुतज्ञान से अनादि निधन निष्करण-असाधारण स्वसंवेद्यमान चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है; तथा चेतक स्वभाव से एकपना होने से जो केवल (निर्मल) है ऐसा आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली हैं। विशेष की आकांक्षा के क्षोभ से वश हो, स्वरूप निश्चल ही रहते हैं।''

कोई कहते हैं कि निश्चय सम्यक्त्व और निश्चय अनुभूति का निर्णय नहीं होता - तो ऐसा नहीं। श्रमणों को आत्मानुभव और स्वरूप निश्चलता स्वयं ज्ञात होती है, ऐसा आचार्यदेव निज अनुभव से प्रसिद्ध करते हैं।

श्री प्रवचनसार गाथा 33 की टीका में आचार्य कहते हैं कि - ''वह ज्ञप्ति केवली और श्रुत केवली के आत्मानुभव में तुल्य ही है, इसलिए ज्ञान में श्रुत उपाधिकृत भेद नहीं है।'' यहाँ सर्व भावलिंगी मुनि को श्रुतकेवली और आत्मानुभव में केवली और सिद्ध भगवान तुल्य कहा है।

श्री प्रवचनसार गाथा 2 की टीका में कहा है कि 'सर्वज्ञ आचार्य, सर्व उपाध्याय, सर्व साधु श्रमण हैं और वह परम शुद्ध उपयोग भूमिका को प्राप्त हैं।'

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो मुनि हैं, उनको इस पंचम काल में मात्र शुद्धोपयोग भूमिका नहीं है, परंतु वे परम शुद्धोपयोग भूमिका को प्राप्त हैं; क्योंकि 4-5 गुणस्थानवर्ती जीव भी शुद्धोपयोग को अल्प काल के लिये प्राप्त होते हैं।

(देखो, श्री महावीरजी के प्रकाशित परम अध्यात्मतरंगिणी, पृष्ठ 81- आस्रव अधिकार कलश, 9)

श्री प्रवचनसार गाथा 92 टीका में कहा है कि - 'जयवंत वर्तो-परमवीतराग चरित्ररूप शुद्धोपयोग, जिसके प्रसाद से हमें स्वयमेव धर्म हुआ।।टेर।।' छठवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक का राग होता है, किंतु उस कारण निश्चय मोक्षमार्ग से वे वंचित नहीं हो जाते और अल्प काल में ही निर्विकल्प दशा सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, उसको गौण करके सब मुनियों का लक्षण परम शुद्धोपयोगी करने में आया है।

श्री जयसेनाचार्य प्रवचनसार गाथा 104 की टीका पृष्ठ 262 अध्याय 3 गाथा 48 में मुनियों को 'शुद्धोपयोगी' मुख्यता से कहते हैं। वहाँ कहा है कि प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानवत् अंतर्मुहूर्त पुनः अंतर्मुहूर्त परावर्तन रूप 'ध्यान संतान' होते हैं। उस ही प्रकार परमशुद्धोपयोग भूमिका संतानरूप ही होते हैं।''

श्री नियमसार कलश 111 में कहा है कि – ''अति तीव्र मोह की उत्पत्ति से जो पूर्व उपार्जित कर्म है, उसको प्रतिक्रमण कर मैं सद्बोधात्मक ऐसा आत्मा में आत्मा से नित्य वर्तता हूँ।''

नियसमार, गाथा 18 में कलश 34 में कहा है कि ''विभाव असत् होने से उसकी हमको चिंता नहीं है, हम तो हृदयकमल में स्थित सर्व प्रकार से विमुक्त शुद्ध आत्मा का एक का सतत अनुभव करते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है।''

50. ये सब आगम वचनों से सिद्ध होता है कि – सब मुनि परम शुद्धोपयोग भूमिका को प्राप्त हैं – आत्मा का सतत अनुभव करते हैं, वह एक ही सच्चा मोक्षमार्ग है। व्यवहार मोक्षमार्ग तो केवल निमित्त है, व्यवहार है, परमार्थ नहीं है – सत्यार्थ नहीं है, किंतु परमार्थ अर्थात् सत्यार्थ मोक्षमार्ग का सहकारी कारण है। जिसके निश्चय मोक्षमार्ग जरा भी प्रगट नहीं हुआ है, उसको व्यवहार मोक्षमार्ग कैसा? अनुपचार-निश्चय बिना उपचार-निमित्त कैसा? अत: निश्चय मोक्षमार्ग शुरु हुए बिना अकेला व्यवहार मोक्षमार्ग बाह्य सहकारी कारण कैसे हो सकते है? कोई पहले पीछे तो है नहीं। 'सहकारी' शब्द ही घोषणा करता है कि जिसको अंतरंग निश्चय कारण है उसका सहचर रूप व्यवहार को निमित्त कारणपना का नाम दिया है।

'उपरोक्त कथन का सार'

इस प्रकार श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में मोक्षमार्ग संबंधी जो सब कथन हैं, वे जैन सिद्धांत के अनुकूल हैं – ऐसा सिद्ध हुआ। ●●

''गोत्रकर्म के उदयतें नीच ऊंच कुल विषै उपजै है। तहां ऊंच कुल विषैं उपजैं आपको ऊँचा मानै है। अर नीच कुल विषैं उपजैं आपको नीचा मानै है। सो कुल पलटने का उपाय तो याकूं भासै नहीं। तातैं जैसा कुल पाया तैसा ही कुल विषै आपौ मानै है। सो कुल अपेक्षा आपकौं ऊंचा नीचा मानना भ्रम है। ऊंचा कुल का कोई निंद्य कार्य करै तो वह नीचा होइ जाय, अर नीचा कुल विषैं कोई श्लाघ्य कार्य करै तो वह ऊंचा होई जाय।'' (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 90)

पंडित टोडरमलजी की परम्परा के :-

महाविद्वान् पंडित सदासुखजी कासलीवाल, जयपुर

आचार्यकल्प पंडित टोडरमल : गणित विषयक पांडित्य

ज्योतिषाचार्य डॉ. नेमिचंद्र शास्त्री, एम.ए., पीएच.डी., डी.लिट्.

साहित्य-साधना का लक्ष्य आत्मतृप्ति, अंत:तृप्ति एवं स्वरूप-प्राप्ति है। गणित साधना का भी मौलिक ध्येय आत्मा को उद्बुद्ध करना, बाहरी प्रवृत्तियों का निरोधकर उन्हें अंतर्मुखी बनाना और मन को एकाग्र करना है। सिद्धांत ग्रंथों में गणित के विषय इसी कारण लिखे जाते हैं कि साधक गणित की समस्याओं द्वारा अपने मन को अधिक से अधिक एक वस्तु पर स्थिर रख सके। गुणस्थानारोहण क्रम में आत्म-परिणामों की शुद्धि को गणित प्रक्रिया द्वारा समझाये जाने या लिखे जाने का लक्ष्य भी ध्यान की स्थिरता है। गणित प्रक्रिया में इस प्रकार का रस विद्यमान है जिससे साधक या पाठक अपनी प्रवृत्तियों को आत्माभिमुख बनाने में सहज सफलता प्राप्त कर सकता है। गोम्मटसार एवं त्रिलोकसार जैसे सिद्धांत ग्रंथों के टीकाकार पंडित टोडरमलजी ने सिद्धांत विषयों का रहस्य गणित विधियों द्वारा निरूपित किया है। यहाँ हम पंडितजी के गणित विषयक अगाध पांडित्य का विश्लेषण उपस्थित करेंगे। पंडितजी ने गणित द्वारा आध्यात्मिक गुत्थियों को तो सुलझाया ही है, साथ ही गणित विधियों में अपनी मौलिक प्रतिभा का भी परिचय दिया है।

उत्थानिका :

संसार के समस्त ज्ञान विज्ञान को मूलत: दो विद्याओं में विभक्त किया गया है - अक्षर विद्या और अंक विद्या। अक्षर विद्या से तात्पर्य व्याकरण, साहित्य, न्याय प्रभृति विभिन्न प्रकार के शास्त्रीय ज्ञान से है और अंक विद्या का अर्थ तर्कसम्मत विज्ञान, अर्थशास्त्र, व्यवसाय और वाणिज्यशास्त्र एवं निगमन और आगमन विधियों द्वारा सैद्धांतिक विषयों की व्याख्या से है। अंक की महत्ता के संबंध में महावीराचार्य ने अपने 'गणित सार संग्रह' में बताया है कि सांसारिक, वैदिक तथा धार्मिक आदि सभी कार्यों में अंक विद्या उपयोगी है। कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीत-नाट्यशास्त्र, पाकशास्त्र, औषधिशास्त्र, वास्तुकला, मूर्तिकला, छंद अलंकार, तर्क, व्याकरण, काव्य आदि सभी कलाओं और शास्त्रों में अंक विद्या की आवश्यकता निहित रहती है। सूर्य, चंद्र, द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि के माप और परिमाण भी अंक विद्या द्वारा ही ज्ञात किये जाते हैं। अत: समस्त ज्ञान-विज्ञान के परिपक्व ज्ञान के हेतु अंक विद्या या गणित ज्ञान अपेक्षित है।[1] श्री पंडित टोडरमलजी ने भी त्रिलोकसार ग्रंथ के आरंभ में लिखे गये परिशिष्ट में

1. लौकिके वैदिके वापि तथा सामायिकेऽपि य:।
व्यापारस्तत्र सर्वत्र संख्यानमुपयुज्यते।।9।।
कामतन्त्रेऽर्थशास्त्रे च गान्धर्वे नाटकेऽपि वा।
सूशास्त्रे तथा वैद्ये वास्तुविद्यादिवस्तुषु।।10।।
छन्दोऽलंकारकाव्येषु तर्कव्याकरणादिषु।
कलागुणेषु सर्वेषु प्रस्तुतं गणितं परम्।।11।।
सूर्यादिग्रहचारेषु ग्रहणे ग्रहसंयुतौ।
त्रिप्रश्ने चन्द्रवृत्तौ च सर्वत्राङ्गीकृतं हि तत्।।12।।
द्वीपसागरशैलानां संख्याव्यासपरिक्षि:।
भवनव्यन्तर ज्योतिर्लोककल्याधिवासिनाम्।।13।।
बहुभिर्विप्रलापै: किम् त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सर्व गणितेन विना न हि।।14।।
(गणितसारसंग्रह, संज्ञाधिकार, शोलापुर, 1963)
यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।।
(ज्यौतिषवेदांग, 1908, वाराणसी, याजुषज्यौतिष, पद्य 4)

बताया है – 'सर्व शास्त्रनिका ज्ञान होने को कारणभूत दोय विद्या हैं। एक अक्षरविद्या एक अंकविद्या। सो व्याकरणादि करि अक्षर ज्ञान भये अर गणित शास्त्रनि करि अंकज्ञान भए अन्य शास्त्रनि का अभ्यास सुगम हो है। पहले ऋषभदेवजी एक पुत्री को अक्षरविद्या, एक पुत्री को अंकविद्या सिखाई। सो दोउ ही विद्या कार्यकारी हैं।[1] स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न विज्ञानों के कारणीभूत गणित का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उसके शिक्षात्मक मूल्यों के प्रसार में पंडित टोडरमलजी का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका विश्वास है कि दर्शन और अध्यात्म-क्षेत्र की जटिल समस्याओं का समाधान भी गणित ज्ञान के बिना संभव नहीं है। करणानुयोग ही एक ऐसा शास्त्र है जो शेष तीनों अनुयोगों को किसी न किसी प्रकार से प्रभावित करता है। अत: जो व्यक्ति अध्यात्म शास्त्र में प्रवेश पाना चाहता है, उसे गणित ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। पण्डितजी ने स्वयं लिखा है – ''बहुरि इस करणानुयोग रूप शास्त्र के अभ्यास करने से अर्थि गणित का ज्ञान अवश्य चाहिए जातै अलंकारादिक जानैं प्रथमानुयोग का, गणितादिक जानैं करणानुयोग का, सुभाषितादिक जानैं चरणानुयोग का, न्यायादिक जानैं द्रव्यानुयोग का विशिष्ट ज्ञान हो हैं तातैं गणित ग्रंथनि का अभ्यास करना[2]।''

पंडितजी ने गोम्मटसार की पूर्वपीठिका में बताया है कि जो व्यक्ति संस्कृत भाषा के विशेषज्ञ हैं, पर जिन्हें गणित और आम्नाय का ज्ञान नहीं है, उनके लिए यह टीका लिखी जा रही है। वास्तव में पंडितजी ने त्रिलोकसार और गोम्मटसार के समस्त विषयों को गणित के सरल उदाहरणों द्वारा समझाने का पूरा प्रयास किया है। यदि उनकी सम्यक् ज्ञानचंद्रिका टीका उपलब्ध न होती तो गणित और सिद्धांत की गुत्थियों को समझना बहुत ही कठिन होता। आज पंडितजी की टीका ही गणित एवं सिद्धांत के मर्म को समझने के लिए मील का पत्थर बनी है। पंडितजी ने स्वयं लिखा है – ''बहुरि जे जीव संस्कृतादि ज्ञान सहित हैं, परंतु गणित आम्नायादिक के ज्ञान का अभावतैं मूल ग्रंथ वा संस्कृत टीकाविषैं प्रवेश न पावैं हैं, ते इस भाषा टीका तैं अर्थ कौं धारि मूल ग्रंथ व संस्कृत टीका विषैं प्रवेश करहु[3]।''

परिकर्माष्टक :

परिकर्माष्टक गणित में जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन एवं घनमूल आते हैं। परिकर्माष्टक के गणित ज्ञान बिना गणित विषय की जानकारी तो प्राप्त होती ही नहीं, सिद्धांत विषय भी नहीं समझे जा सकते हैं। इसी कारण पंडितजी ने लिखा है –

''अर न बनैं तौ परिकर्माष्टक तौ अवश्य जान्या चाहिये। जातैं याकौं जाणैं अन्य गणित कर्मनिका भी विधान जानि तिनकौं जानैं अर इस शास्त्र विषैं प्रवेश पावैं। तातैं इस शास्त्र का अभ्यास करने का प्रयोजन मात्र परिकर्माष्टक वर्णन है।[4]''

---

1. त्रिलोकसार, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, 1918 परिशिष्ट, पृष्ठ 1।
2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, पूर्वार्द्ध, जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, पीठिका, पृष्ठ 58।
3. वही, पीठिका, पृष्ठ 4 ।
4. वही, पीठिका, पृष्ठ 58 ।

संकलन और गुणन :

जोड़ और गुणा एक जाति है। दो समूह को राशियों में योगात्मक प्रक्रिया द्वारा योग किये जाने को संकलन या योग कहते हैं। जिस राशि को जोड़ा जाता है, उसे धनराशि और जिसमें जोड़ते हैं, वह मूलराशि कहलाती है। मूलराशि धनराशि से बड़ी होती है। मूलराशि के ऊपर धनराशि को लिखकर संकलन की क्रिया संपन्न करनी चाहिए। संकलन में यथास्थान संख्या के मूल्य का ज्ञान आवश्यक होता है। इस ज्ञान के अभाव में संकलन-क्रिया गलत हो जाती है। गणित के इतिहास पर दृष्टिपात करने से अवगत होता है कि जब प्राकृतिक संख्याओं का कोई युगल किसी विशिष्ट क्रम में पाया जाये, तो दोनों को सम्मिलित कर एक संख्या कर ली जाती है। यथा (4+3+2) अर्थात् इस संकलन में प्रथम 4+3 का योग होगा = 7, अनंतर 7+2 का युगल होगा। धनात्मक संख्याओं के संकलन में संख्याओं के परिवर्तित होने पर भी परिणामों में अंतर नहीं आता, पर ऋणात्मक राशियों में परिवर्तन करने पर अंतर आ जाता है। पंडित टोडरमलजी संकलन के इस सिद्धांत से पूर्ण परिचित थे। उनका कथन है 'मूलराशि धनराशि के अंकनि कों यथास्थान जोड़िये। इकबाई का अंक दाहाकी का अंक विषै दाहकी का ऐसे क्रमतैं जोड़िए जो इकवाई आदिक के अंक जोड़ें अधिक प्रमाण आवै तौ तहाँ इकवाई का अंक मांडि दाहकी आदिकका अंक अवशेष रहै ताकों दाहकी आदिक के अंकनि विषै जोड़ि दीजिए। याका नाम प्रकृत्ति विषै हाथिलागा कहिए है।''[1]

प्राचीन काल में ही लोगों के मस्तिष्क में विचार आया होगा कि एक तरह की कई राशियों को बारबार जोड़ने की अपेक्षा एक ऐसा नियम निकाल लेना अधिक उपयुक्त है, जो उक्त संकलन क्रिया को सरल और सहज बना दे। यथा 3+3+3+3 में चार बार 3 का संकलन करते समय 3 की चार बार भावनाएँ प्राप्त हुईं। इन भावनाओं के परिणामस्वरूप ही गुणा के सिद्धांत का विकास हुआ। अत: गुणा की परिभाषा है - यदि क, ख, स्वाभाविक संख्याएँ हों तो दोनों के गुणनफल का अर्थ होगा क बार ख। अर्थात् तीन बार चार। चूंकि किसी भी संख्या का गुणनफल एक स्वाभाविक संख्या ही होता है, अत: क × ख का अर्थ है = (3+3+3+3)=(3×4 या 4×3), अत: व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से गुण्य और गुणक राशियों का क्रम ज्ञात कर परस्पर में क्रम या उत्क्रम से गुणा करना। वस्तुत: गुणक संख्या के तुल्य स्थानों में स्थित गुण्य का योग ही गुणनफल कहलाता है। यथा गुण्य अ गुणक क, गुणनफल = अ×क; यहाँ यदि क = ग+घ तब गुणफल=अ×घ = अ×(ग+घ)=अ×ग+अ×घ। पंडित टोडरमलजी ने उक्त सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए लिखा है=''बहुरि एकादिक की पाटिनि की पद्धति है सो गुणनरूप जाननी-जैसे पच्चीस आठ दोयसै, ऐसा कह्या तहां पच्चीस को आठकरि गुणें दोयसै हो है। ऐसै, अर्थ जाननां। तहां जाकों गुणिए ताका नाम गुण्य है। जाकरि गुणिए ताका नाम गुणक वा गुणाकार है। बहुरि गुण्य हूवा राशिका नाम गुणित वा हत वा हन इत्यादि जाननें। सो गुण्य आगैं गुणक कौं लिखिए जैसैं चौसठि गुणां एक सो अठाईसकों ऐसैं लिखिए 128/64, अब गुणनेका विधान

1. त्रिलोकसार, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, बम्बई 1918, परिशिष्ठ, पृष्ठ 21। 2. वही, पृष्ठ 2-3

कहिए है। गुणकार के अंकनिकरि पहलैं गुण्य का अंत अंक को गुणिए तहां गुणकार वा इकवाईका अंक करि गुणें अंक आवैं तिन विषै इकवाई का अंककौं तिस अंत अंक के उपरि लिखिए[1]।''

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जहाँ एक ही श्रेणी में जोड़ और गुणा दोनों हों, वहाँ गुणा पहले किया जाता है और जोड़ पीछे। यथा : 2+(3×4)=14, (2+3)4=20, 2×3(+4)=10, यदि क=ख, ग=घ, क+ग=ख+घ। यदि समान का समान से गुणा किया जाये तो फल समान ही होता है। यथा क, ख, ग तीन स्वाभाविक राशियां हैं; (ख+ग)क=खक+गक। पंडित टोडरमलजी भी इस सिद्धांत से पूर्ण परिचित थे। उन्होंने लिखा है - ''बहुरि इहां इतना जाननां गुण्यगुणाकार विषैं कोई राशि विषैं एक घटाईए वा बधाईए तो अन्य राशि एक ही होइ तौ तितने ही घटे वधैं। अर अन्य राशि बहुत होइ तौ तिनकों परस्पर गुणें जितने होइ तितने घटे बधै[2]।''

इस कथन का विश्लेषण निम्न प्रकार है - गुण्य=अ। गुणक=क। अत: गुणनफल=अ×क= अ×क ± अ×इ ± अ×इ=अ (क ± इ) ± अ×इ।

व्यवकलन और भजन :

वस्तुओं का अंतर ज्ञात करने के लिए घटाव व व्यवकलन की आवश्यकता होती है। एक राशि समूह दूसरे राशि समूह से कितना अधिक है, इसकी जानकारी व्यवकलन सिद्धांत द्वारा संभव है। यथा- क और ख स्वभाविक संख्याएँ हैं, तो क–ख का अर्थ होगा=ग स्वाभाविक संख्या। इसी तरह ख+ग=क; ग को क–ख अर्थात् क और ख के बीच का अंतर कहा जायेगा। यदि एक स्वाभाविक संख्या ग इस प्रकार की है कि ख+ग=क के है, तब क को ख से बड़ी संख्या माना जायेगा या ख को क से छोटी संख्या माना जायेगा। आशय यह है कि छोटी संख्या में अंतर को जोड़ दें तो बड़ी संख्या और बड़ी संख्या में से अंतर को घटा दें तो छोटी संख्या आती है। इस व्यवकलन के सिद्धांत को पंडित टोडरमलजी ने निम्न प्रकार लिखा है - 'बहुरि व्यवकलनविषैं घटावनेयोग्य राशि का नाम ऋण है। मूलराशिकौं तिस ऋणकरि हीन वा न्यून वा शोधित वा स्फोटित कहिए। जैसैं पांचकरि हीन कोटि व त्रसराशि हीन संसारी इत्यादि जानने। कहीं 'मूलराशि का नाम घन भी कहिए है।''[3]

बहुरि व्यवकलनविषैं मूलराशि के एक स्थानीय आदि अंकनिविषैं ऋणराशिक के एकस्थानीय आदि अंकनिकौं यथाक्रम घटाइए। जो मूलराशि के एकस्थानीय आदि अंकतें ऋणराशि के एकस्थानीय आदि अंक अधिक प्रमाणलीए होंइ तौ धनराशि के दशमस्थानीय आदि अंकविषैं एक घटाइ धनराशि के एक स्थानीय आदि अंकविषैं दश जोडि तामैं ऋणराशि का अंक घटावना[4]।

---

1. त्रिलोकसार, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, बम्बई 1918, परिशिष्ठ, पृष्ठ 2-3।
2. त्रिलोकसार, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, बम्बई 1918, परिशिष्ठ, पृष्ठ 21।
3. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, पूर्वार्द्ध, जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता-पीठिका, पृष्ठ 60
4. वही, पीठिका, पृष्ठ 61-62

भाग सम्बन्धी गणित का निरूपण पंडितजी ने निम्न प्रकार किया है - ''बहुरि भागहारविषै भाज्य के जेते अंकनिविषै भागहार का भाग देना सम्भवै तितनै अंकनि कौ ताका भागदेइ पाया अंक कौ जुदा लिखि तिस पाया अंककरि भागहारकौं गुणै जो प्रमाण होई तितना, जाका भाग दीया था तामैं घटाय अवशेष तहां लिखना, बहुरि तैसे ही भागदीए जो अंक आवै ताकौ पूर्वै लिख्या था अंक, ताके आगे लिखि ताकरि भागहारकौं गुणि तैसे ही घटावना। ऐसे यावत् भाज्यराशि नि:शेष न होइ तावत् कीए जुदे लिखे अंक प्रमाण एक भाग आवै है[1]।'' इस सूत्र का विश्लेषण करने पर निम्न फल प्राप्त होता है -

यदि क और ख स्वाभाविक संख्याएं हैं तो क ÷ ख=ग अर्थात् भागफल भी स्वाभाविक संख्या ग होगा, यत: ख×ग=क।

वर्ग और वर्गमूल :

दो समान राशियों का परस्पर गुणा करने से वर्ग उत्पन्न होता है। इस वर्ग को कृति भी कहते हैं। पंडित टोडरमलजी ने गुण की प्रक्रिया को वर्ग में नियोजित करने का विधान किया है। उनका विशेष अभिमत यह है कि 'वर्गराशि के गुणाकार वा भागहारि वर्गरूप ही हो है[2]।' इस सिद्धांत को निम्नलिखित सूत्र द्वारा अवगत किया जा सकता है। यथा -

$(अ+क)^2=(अ+क)\times(अ+क) = अ\times अ+अ\times क+अ\times क+क\times क=अ^2+2अ\times क+क^2$। दो राशियों के योग और अंतर का गुणा वर्गांतर रूप होता है। इस तथ्य की जानकारी भी पंडितजी को थी। यथा - राशि=रा, इष्ट=इ, अत: $र^2-इ^2=(रा+इ)\times रा=इ$। अत: $रा^2=2\ (रा+इ)\times(रा-इ)+इ^2$।

वर्गमूल के संबंध में श्री पंडित टोडरमलजी का वही विचार है जो महावीर गणितसार संग्रह और भास्कराचार्य के लीलावती ग्रंथ में वर्णित है। उन्होंने लिखा है - ''बहुरि जाका वर्ग किया था तिस अंक को जुदा लिखए, बहुरि घटाइए, पीछै जै अंक रहै तिनकै आगै सम अंक होइ तिन करि जो प्रमाण भया ताकों जो अंक जुदा लिख्या था, तातैं दूणा प्रमाण का भाग दीजिए जो लब्धि अंक होइ ताकों तिस जुदा लिख्या अंक के आगै लिखिए अर तिस अंक करि जाका भाग दिया था ताकों गुणें जो प्रमाण आया सो जाकों भाग दिया था तामें घटाय अवशेष वहाँ लिखिए[3]।'' यह सूत्र वर्ग विधायक नियम का विरोधी सूत्र है। अत:

$$\sqrt{अ^2+2\ अ\ क+क^2} = अ+क \qquad \text{(टि. 4)}$$

1. वही पीठिका, पृष्ठ 63 इसकी तुलना निम्नलिखित भास्कराचार्य के सूत्र से की जा सकती है - 'भाज्याद्धर शुध्यति यदगुण: स्यादन्त्यात्' ...इत्यादि-लीलावती परिक. सूत्र 4।
2. त्रिलोकसार, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई 1918 परिशिष्ट, पृष्ठ 7 इसकी तुलना भास्कराचार्य के निम्न सूत्रों से की जा सकती है - 'समद्विघात: कृतिरुच्यतेऽथ स्थाप्यो.... स्यादिष्टस्य वर्गेण समन्वितो वा।' - लीलावती-परिकर्माष्टक सूत्र 5-6।
3. त्रिलोकसार, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग बम्बई, 1918, परिशिष्ट, पृष्ठ 8।
4. लीलावती, भास्कराचार्य विरचित, वाराणसी, संवत् 1994, परिकर्माष्टक, सूत्र 7।

घन और घनमूल :

घन की परिभाषा स्पष्ट करते हुए पंडितजी ने लिखा है ''समानरूप तीन राशिन का परस्पर गुणना ताका नाम घन है।'' घनराशि के गुणाकार भागहार घनरूप ही होई[1]। यथा –

$(अ+क)^3=(अ+क)\times(अ+क)\times(अ+क)=अ^3+अ^3\times क^3+क^3\times अ^3+क^3 = (अ+क)\times अ\times क^3\times अ^3+क^3$। यदि राशि वर्गात्मक हो तो घन $(अ^3)^3 = अ^6 = अ^3\times अ^3$ होगा।

अन्तिम घनस्थान तक के अंकों द्वारा निरूपित संख्या में से सबसे अधिक संभव घनसंख्या घटाये, तब भाज्य स्थान द्वारा निरूपित अंक को स्थिति में रखने के अनंतर उसे उस घन के घनमूल के वर्ग की तिगुनी राशि द्वारा विभाजित करे। अग्रिम शोध्य स्थान द्वारा निरूपित अंक को स्थिति में रखने के पश्चात् उसमें से उपर्युक्त भजनफल के वर्ग की त्रिगुणित राशि को उक्त मूल द्वारा गुणित करने से प्राप्त राशि को घटा दे। तब घनस्थान द्वारा निरूपित अंक को स्थिति में रखने के पश्चात् उसमें से ऊपर प्राप्त हुए भजनफल को घटावे। इस प्रकार उत्तरोत्तर क्रिया करने से घनमूल आता है। यथा –

$\sqrt[3]{3अ^2क+3अ\ क^2+अ^3+क^3}= (अ+क)$

$\sqrt{अ^2+(ब+स)+३अ\ (ब+स)^2+अ^3+(ब\ स)^3} = (अ+ब+स)$।

शून्य गणित :

श्री पंडित टोडरमलजी ने शून्य के गणित का भी विचार किया है। शून्य में किसी भी संख्या को जोड़ने से तत्संख्या प्रमाण ही जोड़ आता है। इसी प्रकार किसी राशि में से शून्य घटाने पर तद्राशि प्रमाण ही अवशेष रह जाता है। किसी संख्या को शून्य से गुणा करने पर शून्य और किसी संख्या द्वारा भाग देने पर शून्यफल आता है, पर यह शून्य अव्यक्त प्रमाण होता है। शून्य का वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल भी शून्य प्रमाण ही आता है। यथा— $5+0=5$, $(0)^2=0$, $\sqrt{0}=0$, $(0)^3=0$, $\sqrt[3]{0}=0$, $5\times0=0$, $10\div0=$ अव्यक्त।

भिन्न परिकर्माष्टक :

पंडित टोडरमलजी ने 'त्रिलोकसार' एवं 'गोम्मटसार' की टीकाओं में भिन्न परिकर्माष्टक का भी प्रयोग किया है। भिन्न वह राशि है, जिससे दो स्वाभाविक संख्याओं का भागफल व्यक्त किया जाय। यथा $\frac{क}{ख}=ग$ यहाँ 'क' हर और 'ख' अंश है। क, ख और ग तीन स्वाभाविक संख्याएँ हैं, तो $\frac{क\times ग}{ख\times ग}=$ कख उसका अर्थ यह हुआ कि किसी एक ही संख्या से हर और अंश दोनों में अपवर्तन दे सकते हैं। दो बराबर भिन्नों

1. त्रिलोकसार – हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय हीराबाग, बम्बई, 1918, पृष्ठ 7 । इसकी तुलना भास्कराचार्य विरचित लीलावती के परिकर्माष्टक के सूत्र 8, 9, 10, से तथा श्रीमहावीराचार्य विरचित गणित सार संग्रह के परिकर्मव्यवहार के 43वें सूत्र से की जा सकती है।

में एक ही अंश रखा जाय, तो उनका हर भी बराबर होगा। यथा $\frac{2}{3}=\frac{2}{3}\times\frac{15}{15}=\frac{30}{45}$ इसी प्रकार दो भिन्न $\frac{क}{ख}$, $\frac{ग}{घ}$ उसी समय बराबर हो सकते हैं, जब कघ=खग। $\frac{24}{32}$, $\frac{30}{40}$ दोनों बराबर हैं या नहीं, यह तभी ज्ञात हो सकता है, जब किसी समान अंश के रूप में रखकर हर को मिलाया जाये। यथा—

$\frac{24}{32}=\frac{24}{32}\times\frac{5}{5}=\frac{120}{160}$ इसी प्रकार। $\frac{30}{40}=\frac{30}{40}\times\frac{4}{4}=\frac{120}{160}$ यहाँ यह भी विचारणीय है कि 24×40 = 30×32 । जब हर और अंश दोनों में से साधारणांश (Common) को निकाल दें, तो हम उसे भिन्न का सरल रूप कहेंगे। अर्थात् कोई भिन्न उस समय अपने सरलतम रूप में रहती है जब कि उसके हर और अंश दोनों इतने संक्षिप्त कर दिये जायें जितने संभव हों। अपने सरलरूप में दो भिन्नें तभी बराबर मानी जाती हैं, जब उनके हर और अंशों का मान समान हो।

संकलन और व्यवकलन के नियमों का प्रतिपादन करते हुए पंडितजी ने लिखा है 'तहां भिन्न संकलन व्यवकलन के विधान विषैं भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबंध, भागापवाह, ऐसे च्यारि प्रकार हैं। तिन विषैं इहां विशेष प्रयोजनभूत जानि समछेद विधान करि संकलन व्यवकलन कहिए है। अनेक राशिनि के जैसे छेद समान होंइ तैसे विधान करना सो समछेद विधान जानना। तहां अनेक राशिन के जुदे जुदे अंश हार लिखि तिन विषैं एक एक राशि के अंश हारनि को अन्य राशिनि के हारनि करि गुणिए। तहां छेदनि का परस्पर गुणन होने तैं सबनि के छेद समान होइ। बहुरि जो संकलन करना होइ तौ एक राशि के अंशनि विषैं अन्य राशि के अंशनि को जोड़ दीजिए। अर व्यवकलन करना होइ तौ महत राशि के अंशनि विषै अन्य राशिनिके अंश घटाइ दीजिए[1]।'

हर अंशों को परस्पर गुणा कर जोड़ करने से भिन्न का संकलन आता है। यथा $\frac{3}{1}+\frac{1}{5}+\frac{1}{3}=\frac{45}{15}+\frac{3}{15}+\frac{5}{15}=\frac{53}{15}=3\frac{8}{15}$ (यहां अंश 1, 3 और 5 हैं।) इनका गुणा किया तो गुणनफल 15 हुआ। इस 15 गुणनफल से प्रत्येक हर को गुणा कर सजातीय बना लिया और जोड़ कर दिया तो उक्त फल प्राप्त हुआ। आधुनिक गणित में अंशों का लघुत्तम निकाल और प्रत्येक अंश का लघुत्तम में भाग देकर और फल प्राप्त हो, उसका प्रत्येक हर से गुणा करने पर तथा इस प्रकार समस्त संख्याओं के गुणनफल को जोड़ देने पर भिन्नों का योग आता है। साधारणत: त्रिलोकसार की टीका में भाग (साधारण भिन्न), प्रभाग (संयुक्त भिन्न–Compund Fraction) भागाभाग (मिश्रित भिन्न–Complex Fraction) भागानुबन्ध (सम्मिलित भिन्न) भागाप्रवाह (असम्मिलित भिन्न) और भागमातृ (दो या अधिक प्रकार के संयुक्त भिन्न–Combinations) भिन्नों का प्रयोग पाया जाता है। यथा $\frac{क}{ख}$ इसे ग से गुणा किया और घ से भाग दिया तो $\frac{क\times ग}{ख\times घ}$, इसको पुन: च से गुणा कर ज से भाग दिया तो $\frac{क\times ग\times च}{ख\times घ\times ज}$ (प्रभागजाति); $\frac{अ}{क}\times\frac{त}{प}$ यहां

1. त्रिलोकसार, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, 1918, परिशिष्ट पृ. 11।

यदि $\frac{अ}{क} = च\frac{त}{प}$, तब अ=क×च। त=प×ज, ∴अ×प=क×च×प। त×क=प×ज×क ∴ $\frac{अ×प}{क×प} \pm \frac{त×क}{क×प} = च \pm ज$ (भागजाति) क $\pm\frac{ग}{घ} = \frac{क×घ \pm ग}{घ} = \frac{क}{1} \pm \frac{ग}{घ}$। यदि $\frac{क}{ग}$ अपना ही $\frac{च}{ज}$ धन-ऋण हों, तो $\frac{क}{ग} \pm \frac{क×च}{ग×ज}$ यहां 'ग' से अपवर्तन देने पर $\frac{क×ज}{ग×ज} \pm \frac{क×च}{ग×ज} = \frac{क×(ज \pm च)}{ग \times ज}$ (भागानुबन्ध और भागप्रवाह) भिन्नों का गुणा करने के लिए उनके अंश से अंश का और हर से हर का गुणा किया जाता है। यथा $\frac{1}{2} \times \frac{1}{3} = \frac{1}{6}$ = यथागुण्य = या = $\frac{अ}{ग}$, गुणक = का = $\frac{घ}{च}$ अत: अ=या×ग। घ=क×च। अत: अ × घ = या × ग × क × च।

∴ $\frac{अ×घ}{ग×च}$ = या × का।

भाजक के अंश को हर और हर को अंश बनाने के लिए अनंतर गुणा की रीति द्वारा भाग क्रिया संपन्न की जाती है। यथा - भा = $\frac{क}{ग}$, ह= $\frac{घ}{च}$ तब भा×ग=क। ह × च =घ ∴ $\frac{भा \times ग}{ह \times च} = \frac{क}{घ}$ दोनों पक्षों में च का गुणा कर ग का भाग दिया तो $\frac{भा}{ह} = \frac{क}{ग} \times \frac{च}{घ}$ ।

भिन्न के वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल निकालने के लिए भिन्न के अंश और हरों का क्रमश: वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल निकालना चाहिए। यथा - $\frac{अ}{क}$वर्ग = $\frac{अ \times अ}{क \times क} = \frac{अ^2}{क^2}$ इसी प्रकार घन आदि भी निकाले जाते हैं।

त्रैराशिक :

त्रैराशिक[1] गणित में तीन राशियां रहती हैं - प्रमाण, प्रमाणफल और इच्छा। फलराशि के इच्छा राशि से गुणा कर दें। और प्रमाण राशि से भाग दें तो लब्ध इच्छा फलराशि होती हैं। पंडितजी ने लिखा है - ''बहुरि त्रैराशिक का स्वरूप इस शास्त्र विषैं प्रयोजन भूत जानि कहिए है। तहां प्रमाण फल इच्छा ए तीन राशि जाननैं। जिस प्रमाण करि जो फल निपजै सो तौ प्रमाण राशि अर फल राशि हैं। बहुरि जितनी इच्छा होइ ताका नाम इच्छा राशि है। इहां प्रमाण राशि इच्छा राशि की तौ एक राशि है। अर फल राशि की अन्य जाति है। सो ऐसे ए तीन राशि स्थापि तिन विषैं फल राशि कों इच्छाराशि करि गुणिए बहुरि ताकों प्रमाण राशि का भाग दीजिए, जो प्रमाण आवै सो इहां लब्ध प्रमाण जानना। फलराशि की अर इस लब्धराशि की एक जाति जाननी[2]।'' पंडितजी के सूत्र का स्पष्टीकरण -

---

1. समानार्थक सूत्र -
   त्रैराशिकफलाशिं तमथेच्छाराशिनां हतं कृत्वात्।
   लब्धं प्रमाणभाजितं तस्मादिच्छाफलमिदं स्यात्।।26।। (आर्यभटीयम्, बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना, पृ. 50)
   भास्कराचार्य ने लिखा -
   प्रमाणमिच्छा च समानजाती आद्यन्तयोस्तत्फलमन्यजाति।
   मध्ये तदिच्छाहतमाद्यहृत् स्यादिच्छाफलं व्यस्तविधिर्विलोमे।। (लीलावती, त्रैराशिक प्रकरण, सूत्र 1)
2. त्रिलोकसार, परिशिष्ट, पृष्ठ 17

$\frac{\text{प्रमाणफल}}{\text{प्रमाण}} = \frac{\text{इच्छाफल}}{\text{इच्छा}}$ अत: $\frac{\text{प्रमाणफल इच्छा}}{\text{प्रमाण}} = \text{इच्छाफल}$

पंचाराशि, सप्तराशि आदि बहुराशियों के गणित की प्रक्रिया भी पंडितजी ने लिखी है। उनका अभिमत है–

''बहुरि पांच राशि सप्तराशि आदि विषै प्रमाण राशि संबंधी दोय तीन आदि राशि होय सो तो एक तरफ नीचैं नीचैं लिखिए अर वाही के नीचैं फलराशि लिखिए। अर इच्छा राशि संबंधी दोय तीन आदि राशि होइ सो दूसरी तरफ लिखिए। बहुरि प्रमाण का फलराशि होइ ताकों इच्छा राशि कौ तरफ लिखि दोऊ तरफ जे राशि होइ तिनका जुदा परस्पर गुणन करि बहुत प्रमाण को स्तोक प्रमाण का भाग दीएं जो प्रमाण आवै सो इच्छा राशि का फलभूत लब्धराशि जाननां[1]।''

स्पष्टीकरण – $\left.\begin{array}{l}\text{प्र का / इ का}\\ \text{प्र ध / इ ध}\\ \text{प्र फ / ×}\end{array}\right]$ यहाँ अनुपात किया कि प्रमाण काल से प्रमाण फल प्राप्त होता है तो इष्टकाल से क्या? अत: इफ $= \frac{\text{प्र फ x इ का}}{\text{प्र का}}$ यदि प्रमाण धन से यह फल प्राप्त होता है तो इष्ट धन से क्या? $= \frac{\text{प्र फ x इ का x इ ध}}{\text{प्र का x प्र ध}}$ = इष्ट धन संबंधी फल।

श्रेणी व्यवहार –

धनात्मक और ऋणात्मक प्रचयवाली समानान्तर राशियों के गणित को श्रेणी व्यवहार का गणित कहते हैं। पंडित टोडरमलजी ने इस गणित प्रक्रिया का विवेचन बहुत ही सरल रूप में किया है। उन्होंने लिखा है – ''जहां अनेक राशिनि विषैं समानरूप वधता व घटता प्रमाण होइ अथवा गुणकार होइ तहां श्रेणी व्यवहार गणित का विधान हो है। जो आदि विषै प्रमाण होइ तांका नाम आदि है वा मुख है वा प्रभव है। बहुरि अन्त विषैं प्रमाण होइ ताका नाम अंत है वा भूमि है। बहुरि जो स्थान स्थान प्रति जितना वधैं वा घटै ताका नाम चय है व उत्तर है। बहुरि जो स्थान स्थान प्रति गुणकार होय तौ जेते का गुणकार होय ताका नाम उत्तर है वा गुण है। बहुरि चयकरि वधता व घटता अथवा गुणकार रूप जेते राशि रूप स्थान होइ ताका नाम पद है वा गच्छ है। बहुरि सर्व स्थाननिके जोड़ का नाम संवर्धन है वा पदधन है।''[2]

$(\frac{\text{न} - 1}{2}\ \text{ब} \pm \text{अ})\text{न} = \text{श}$। यहाँ न पदों की संख्या है, अ प्रथम पद है, ब प्रचय है और श श्रेणी

---

1. वही '', पृष्ठ 17-18

तुलना के लिए – ''पञ्चसप्तनवराशिकादिकेऽन्योन्यपक्षनयनं फलच्छिदाम। संविधाय बहुराशिजे वधे स्वल्पराशिवधभाजिते फलम्।।''
– लीलावती, भास्कराचार्य, पञ्चराशिप्रकरण, सूत्र 1

2. त्रिलोकसार, परिशिष्ट, पृ० 18

का योग है। पंडितजी के अनुसार एकाद्युत्तर अंकों का योग ही संवर्धन होता है। इसके आनयन का क्रम निम्न प्रकार है - आ = 1चय=1, पद=प सर्वधन = एकादि संकलित $\left(\frac{(प-1)\ च+2आ}{2}\right)$ X प, च=1 आ=1 उत्थापन में एकादि संकलित = $\frac{(प+1)xप}{2}$ । सूत्र २ - मान लिया $\frac{आ}{न}$ = न संख्यक पृथ्वी आदि की संख्या (सातवीं पृथ्वी को पहली मानकर उलटा करने पर)

$आ_1 = 5$

$आ_2 = 13 = 5+1\ च$

$आ_3 = 37 = 5+1\ च+3\ च$

$आ_4 = 77 = 5+1\ च+3\ च+ 5\ च$

$आ_5 = 133 = 5+1\ च+3\ च+5\ च+7\ च$

इसी प्रकार

$\therefore आ_1 = 5$

$आ_2 - आ_1 = 3\ च = (2\times2-3)\ च$

$आ_3 - आ_2 = 3\ च = (2\times3-3)\ च$

$आ_4 - आ_3 = 5\ च = (2\times4-3)\ च$

$आ_5 - आ_4 = 7\ च = (2\times5-3)\ च$

अ ---------

आ न − आन = (2×न−3) च

जोड़ने से आ न = 5+2 (2+3+4+.....+न) − (न−1)3

च = 5+2 (2−(1+2+3+4+.....+न)−3 न+1) च

$= 5+\left\{\frac{2(न)\ (न+1)}{5} - 3\ न+1\right\}च$

= 5+ ($न^3$+न−3न+1) च

= (5+$न^2$−2न+1) च− (1)

न संख्यक पृथ्वी का गच्छ ग=2 (न−1)+1=2न−2+1=2न−1

$\therefore न = \frac{ग+1}{2}$ — (2)

(2) का मान (1) में रखने से -

$आ\ न = \left\{5+\left(\frac{ग+1}{2}\right)^2 - ग+1-1\right)\ च\right\}$

$(\frac{ग-1}{2})^2$ च

इसको (क) में रखने पर

स = $\{5+(\frac{ग-1}{2})^2$ च + $(\frac{ग-1}{2})$ च$\}$ ग = $[\{(\frac{ग-1}{2})^2 + (\frac{ग-1}{2})\}$ च+च5]

पंडित टोडरमलजी ने त्रिलोकसार के लोक सामान्याधिकार में श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या के आनयन प्रसंग में श्रेणी व्यवहार के उक्त गणित का प्रयोग किया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने त्रिलोकसार ग्रंथ में गाथा 163, 164, 165 में सर्वधन, चयधन, पदधन आदि का आनयन गणित प्रक्रिया द्वारा किया है। यह सत्य है कि पंडितजी ने उक्त गाथाओं की टीका में बीज गणित के सूत्रों का व्यवहार नहीं किया, पर अंकगणित द्वारा त्रिलोकसार के सूत्रों में निहित गणित का स्पष्टीकरण आगमन और निगमन दोनों प्रकार के तर्कों के प्रयोग द्वारा किया है। जहाँ दो वक्तव्य एक दूसरे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं कि एक के सत्य होन पर दूसरे का सत्य होना सिद्ध हो, तो उसे आगमन तर्क प्रणाली कहते हैं। जैसे क=2, ख=5 तो अनुमान द्वारा क+ख=(5+2)=7। निगमन शैली के तर्क द्वारा अनुमान को उलट देने पर हम इस सत्य को प्राप्त करते हैं कि क=3 और ख=4 अत: क+ख=(4+3)=7। निगमन शैली द्वारा परिणाम निकाला गया कि क=ख तथा ख=ग क=ग। यहाँ क, ख और ग का कुछ भी मान रखा जाय पर परिणामों में किसी भी प्रकार का अंतर नहीं आयेगा। निगमन शैली में किसी भी अनुमान का आधार उसके निगमन से अधिक व्यापक होता है। निगमन की व्यापकता आधार की व्यापकता के बराबर हो सकती है, पर उससे अधिक कभी नहीं होती। किंतु आगमन शैली में आगमन अपने आधार से सर्वदा अधिक व्यापक होता है। इस प्रणाली में सामान्य से विशेष को प्राप्त किया जाता है। पंडित टोडरमलजी ने प्रकीर्णक बिलों की संख्या के आनयन में निगमन शैली के गणित सम्बन्धी तर्क का प्रयोग किया है। उन्होंने टीका में ऋण घनात्मक चय का निर्देश कर सूत्रों का अंक प्रमाणानुसार विश्लेषण किया है। निबन्धन का कलेवर विस्तृत न हो जाये, इस भय से यहाँ श्रेणी व्यवहार सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं का विवेचन नहीं किया जा रहा है।

धाराएँ (Kinds of Series)

त्रिलोकसार में गाथा 53-66 और 77-88 में 14 प्रकार की धाराओं का उल्लेख है। धारा कुछ खास प्रकार की राशियों को कहा जाता है। पंडित टोडरमलजी ने अंकों द्वारा धारा संख्याओं का बहुत ही सुंदर स्पष्टीकरण किया है। गणित का कोई भी विद्यार्थी इन धाराओं पर ही एक अच्छा शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर सकता है। मैं यहाँ केवल निर्देश मात्र ही उपस्थित करूँगा।

1. सर्वधारा — सर्वधारा को हम आधुनिक शब्दावली में ए.पी. (Arithmatical Progression) कह सकते हैं। इसका पहला संकेत एक है और अंतर भी एक है। साधारण अंतर भी एक है। संख्यात आदि केवलज्ञान पर्यंत सभी स्थान सर्वधारा के अंतर्गत आते हैं। इस धारा में समस्त स्वाभाविक संख्याओं का परिगणन हो जाता है।

2. समधारा — संख्याओं के क्षेत्र में स्वाभाविक संख्याओं को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है — सम 2, 4, 6, 8, 10..... न और विषम 1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 15..... न। समधारा के अंतर्गत पंडितजी ने संख्यात का उत्कृष्ट प्रमाण 15 और असंख्यात का 255 माना है। ये दोनों ही संख्याएं 1 घटाने या 1 जोड़ने के पश्चात् ही समत्व को प्राप्त होंगी। अत: केवल ज्ञान संख्या न मान लेने पर इस धारा की संख्याएं वि±1.... ।

3. विषम धारा — विषमधारा में विषम संख्याओं का अस्तित्व रहता है, यथा- 2+1=3, 4+1=5, 6+1=7, 8+1=9, 10+1=11, 12+1=13, 14+1=15, 16+1=17, 18+1=19,..... न+1=न।

4. कृति धारा — 'समद्विघात: कृतिरुच्यते' नियमानुसार कृतिधारा में वर्गित राशियां रहती है, यथा - 1^2=1, 2^2=4, 3^2=9, 4^2=16, 5^2=25, +6^2=36, 7^2=49, 8^2=64, 9^2=81, 10^2=100, 11^2=121.... $न^2$=न।

5. अकृति धारा — कृतिधारा की राशियों में धन-ऋणात्मक करने से अकृतिधारा की राशियां निष्पन्न होती हैं, ये राशियाँ अवर्गात्मक ही रहती हैं, यथा - 2, 3, 5, 6, 7, 8, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 17,.... $न^2$+1=न।

6. धनधारा — धनधारा का संख्या समूह घनरूप रहता है। समत्रिघात को धन कहा जाता है, यथा- 1^3=1, 2^3=8, 3^3=27, 4^3=64, 5^3=125, 6^3=216,.... $न^3$=न।

7. अधनधारा — इस धारा का संख्या-समूह अधनात्मक होता है। सर्वधारा की संख्याओं में से धनधारा की संख्याओं के घटाने पर अधनधारा की संख्याएं आती हैं। यथा- 2, 3, 4, 5, 6, 7, 9, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 26, 28-63, ... $न^3$=सर्वधारा-$न^3$=$न^{अ}$।

8. कृतिमातृका या वर्गमातृका — 1, 2, 3, आदि संख्याओं की गणना न पर्यंत की गयी है। इसका अर्थ यह है कि इसमें कृति के वर्गमूल के बराबर संख्याएं होती हैं। यथा- 1, 2, 3, 5,... $\sqrt{न^2}$=न।

9. अकृतमातृका या अवर्गमातृका — इस धारा में ऐसी संख्याओं का समूह रहता है, जिनका वर्गमूल करणीगत होता है। यथा — $\sqrt{मू}$+1, $\sqrt{मू}$+2, $\sqrt{मू}$+3, $\sqrt{मू}$+न = न

10. घनमातृका — 1, 2 से लेकर अंतिम घनसंख्या के घनमूल तक इस धारा की संख्याओं का विस्तार पाया जाता है। इस धारा में उन सभी राशि समूहों का संबंध पाया जाता है, जिनका घनमूल नि:शेष रूप में निकलता है। यथा-1, 2 .... न।

11. अघनमातृक — इस धारा में ऐसी संख्याएं सम्मिलित हैं जिनका घन मूल करणीगत होता है। यथा $\sqrt[3]{मू}$+1, $\sqrt[3]{मू}$+2, $\sqrt[3]{मू}$+3,..... $न^{च}$।

12. द्विरूप वर्गधारा — 2^2, $(2^2)^2$ इसका चौथा, पांचवां, छठवां, पद क्रमश: पण्णट्ठि, वादाल और एकट्ठि कहलाते हैं। अंक द्वारा — $(2)^{16}=65536$, $(2)^{32}=(65536)^2$ या 4294967296, $(2)^{64}=(4294967296)^2=18446744073709551616$।

13. द्विरूप घनधारा — इस धारा क्रम में वर्गित राशियां घनक्रम से सम्मिलित पाई जाती हैं। इसका पहला पद $(2)^3$ है। आगे के पद $(4)^3\,(9)^3\,.....(न^2)^3$।

14. द्विरूपघनाघन धारा — यह वह धारा है, जिसका पहला पद - $[(2)^3]^3\,..\,[(न)^3]^3$ है।

पंडित टोडरमलजी ने इन धाराओं के स्वरूप को अंकों द्वारा सुंदर विवेचन किया है।

अर्द्धच्छेद-गणित

टोडरमलजी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड और त्रिलोकसार की टीका में अर्द्धच्छेद गणित का भी निरूपण किया है। गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा नंबर 214 की टीका में बताया है कि देयराशि-परिवर्तित राशि (Substituted) के अर्द्धच्छेदों का इष्टाराशि के अर्द्धच्छेदों में भाग देने पर जो लब्धि आवे उसका अभीष्ट अर्द्धच्छेद राशि में भाग देने से लब्ध प्रमाण इष्टराशि को रखकर परस्पर गुणा करने पर अर्द्धच्छेदों से राशि का ज्ञान होता है। यथा देयराशि=2। इसका अर्द्धच्छेद 1, इष्टराशि 16, इसकी अर्द्धच्छेद राशि 4, अभीष्ट अर्द्धच्छेद राशि 8 अत: $4\div1=4$, $8\div4=2$, $16\times16=256$। आठ अर्द्धच्छेदों की उक्त राशि प्रमाण है।

$क^2\times क^6=क^8$, $क^न\times क^म=क^{न+म}$ गुण्य राशि के अर्द्धच्छेदों को गुणाकार राशि के अर्द्धच्छेदों में जोड़ देने पर गुणनफल राशि के अर्द्धच्छेद आ जाते हैं। उपर्युक्त सिद्धांत उसी अर्थ का द्योतक है। अंकगणित के अनुसार 16 गुण्य राशि, 64 गुणाकार राशि और गुणनफल राशि 1024 है। 16 गुण्यराशि=$(2)^4$, गुणाकार $64=(2)^6$, $(2)^4\times(2)^6=(2)^{10}$=गुणनफल राशि $1024=(2)^{10}$ $क^6\div क^2=क^8$, $क^न\div क^म=क^{न-म}$। भाज्यराशि के अर्द्धच्छेदों में से भाजकराशि के अर्द्धच्छेदों को घटाने से भागफलराशि के अर्द्धच्छेद होते हैं। अंकगणित के अनुसार भाज्यराशि 256 भाजक 4 और भागफल 64 है। 256 भाज्यराशि= $(2)^8$; भाजक $(2)^2$, $(2)^8\div(2)^2=(2)^6$, भागफलराशि $64=(2)^6=(2)^6$

$(क^म)^न=क^{म\,न}$, इस सिद्धांत का समावेश पंडितजी ने अर्द्धच्छेद के गणित में किया है। विरलनराशि विभाजित राशि (Distributed Number) को देयराशि-परिवर्तितराशि (Substituted number) के अर्द्धच्छेदों के साथ गुणा करने से जो राशि आती है वह उत्पन्न (Resulting number) के अर्द्धच्छेदों के बराबर होती है। न्याय-विभाजित राशि 4, परिवर्तित राशि 16, उत्पन्न राशि 65536 है। परिवर्तित राशि-$16=(2)^4$, $(2^4)^4=(2)^{16}$, उत्पन्नराशि $65536=(2)^6$, $(क)^2\times(क^2)^1=क^4$, विरलन-विभाजित राशि के अर्द्धच्छेदों को देयराशि के अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेद में जोड़ने से उत्पन्न राशि की वर्गशाला का

प्रमाण आता है। विभाजितराशि $4=(2)^2$, परिवर्तित राशि 16, $(2^2)^2=(2)^4$,65536 उत्पन्नराशि=$(4^2)^4$।*

क्षेत्रमिति या पाटीय ज्यामिति गणित

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने सूचीक्षेत्र, प्रतरक्षेत्र, घनक्षेत्र, त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज, षड्भुज, बहुभुज, वृत्त, वलयवृत्त, घनायत आदि का गणित विस्तारपूर्वक लिखा है। उनका अभिमत है– ''लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई इन तीनों विषै जहां एक ही की विवक्षा होइ, दोय की न होइ तहां सूचीक्षेत्र कहिए। बहुरि जहां दोय की विवक्षा होइ एक की न होइ तहां प्रतरक्षेत्र कहिए वा वर्गरूप क्षेत्र कहिए। बहुरि जहां तीनां की विवक्षा होइ तां खात क्षेत्र कहिए वा घनक्षेत्र कहिए। ...जिस त्रिभुज क्षेत्र के दोय भुजा सूधी एक टेढी ऐसी.... होय ताको जाति त्रिभुज कहिए। तहां जो यहु टेढी भुजा है ताका नाम कर्ण है वा श्रुति है.... जहाँ एक भुज सूधी होय टेढी होय तहां..... सिंघाडाकासा ऐसा त्रिभुज क्षेत्र होई। याका मध्यतैं दोय भाग करिए सो दोय जाति त्रिभुज होइ जाय। बहुरि उन तीनों भुजानि विषैं समान प्रमाण होइ वा अधिक हीन होइ तौ तहां सम विषम संज्ञा यथा संभव जानना। बहुरि चतुर्भुज क्षेत्र विषैं जहां समान प्रमाणलीएं च्यारो भुज ऐसैं होइ... ताका नाम सम चतुर्भुज कहिए। बहुरि लंबाई चौड़ाई विषैं एक का प्रमाण हीन एक का प्रमाण हीन एक का अधिक ऐसा... होइ ताका नाम आयत चतुरस्र कहिए। बहुरि जहां.... ऐसे क्षेत्र व्यवहार कह्या।''[1]

उक्त कथन से स्पष्ट है कि भुज और कोण की समता न्यूता और अधिकता के कारण त्रिभुज 6 प्रकार के होते हैं। इन त्रिभुजों में जाति त्रिभुज सबसे प्रमुख है। इसी त्रिभुज के गणित से मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक के गणितों की क्रियाएं संपन्न की गयी हैं। अतएव यहाँ पंडितजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया जाता है।

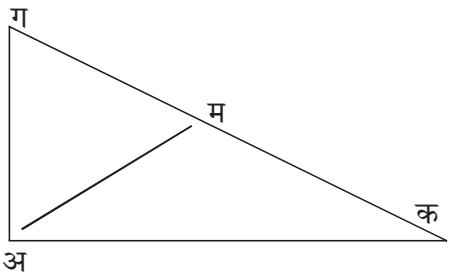

इस त्रिभुज में अक, अग, भुज और कोटि हैं। कग कर्ण हैं, क अ ग ∠ समकोण हैं, अ समकोण बिन्दु से कग करण के ऊपर लम्ब किया है –

* त्रिलोकसार– गाथा 106, 107 और 108 की टीका में पंडितजी ने उक्त अभिप्राय का विश्लेषण किया है।

1. त्रिलोकसार, परिशिष्ट, पृष्ठ 19-21।

∴ अक^2 = कग×कम; अग^2=कग×गम ∴अक^2+अग^2=कग×कम+कग×गम=कग (कम+गम)=कग×कग=कग^2=अक^2+कग^2=कग $\sqrt{\text{अक}^2+\text{अग}^2}$ = $\sqrt{\text{कोटि}^2+\text{भुज}^2}$ = कर्ण; $\sqrt{\text{कर्ण}^2-\text{भुज}}$=कोटि; $\sqrt{\text{कर्ण}^2-\text{कोटि}^2}$=भुज; जात्य त्रिभुज का क्षेत्रफल निम्न प्रकार से निकाला जायेगा–

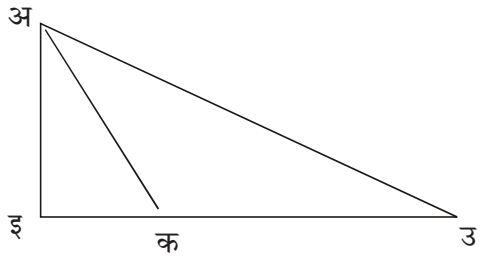

अ इ उ त्रिभुज में लघुभुज = भु, बृहद्भुज=भु; भूमि=भू, अक=लम्ब, छोटी आ वाधा

इक= $\frac{\text{भू}^2-(\text{भु}^2-\text{भु})}{2\text{भू}}$

लं^{2}=भु^{2} $\{\frac{\text{भू}^2-(\text{भु}^2-\text{भु}^2)}{2\text{भू}}\}$ = $\{\text{भु}+\frac{\text{भू}^2-(\text{भु}^2-\text{भु})}{2\text{भू}}\}$ × $\{\text{भु}^2-\frac{\text{भू}^2-(\text{भु}^2-\text{भु}^2)}{2\text{भू}}\}$

चतुर्भुज के क्षेत्रफल का सामान्य नियम यह है कि लम्बाई, चौड़ाई को गुणा करने से गुणनफल प्रमाण आयत का क्षेत्रफल होता है। वर्गक्षेत्र में भुज का वर्ग कर देने पर क्षेत्रफल का प्रमाण आता है। समलम्ब चतुर्भुज में लम्बाई को जोड़कर लम्ब से गुणा कर २ का भाग देने से क्षेत्रफल आता है।

त्रिलोकसार के गणित में समलम्ब चतुर्भुज के गणित की अधिक आवश्यकता रहती हैं; अतएव यहाँ हम पण्डितजी के उक्त सूत्र का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं –

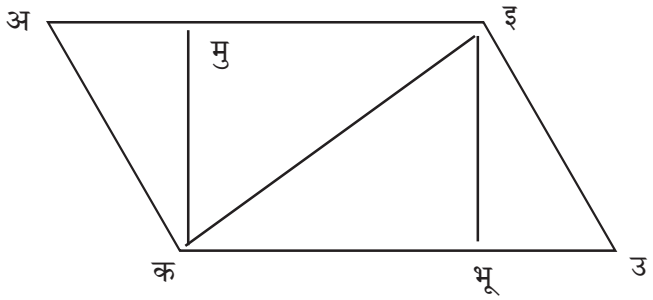

भू इ = क मु (ये दोनों समान लम्ब हैं) क इ = करण। अत: क इ उ त्रिभुज का क्षेत्रफल = $\frac{\text{ल×क उ}}{2}$ तथा अ इ क त्रिभुज का क्षेत्रफल= $\frac{\text{ल×अ इ}}{2}$ इन दोनों फलों को जोड़ने पर सम्पूर्ण चतुर्भुज का क्षेत्रफल होगा। अतएव $\frac{\text{ल×क उ}}{2}$ + $\frac{\text{ल×अ इ}}{2}$ × $\frac{\text{ल×(क उ+अ इ)}}{2}$ चतुर्भुज का क्षेत्रफल।

इस प्रकार पण्डितजी ने त्रिभुज और चतुर्भुजों के गणित तथा विस्तार पूर्वक निर्देश दिया है।

वृत्तक्षेत्र का गणित:

परिधि, व्यास, वाण, ज्या और चाय के गणित की प्रक्रिया का वर्णन पण्डितजी ने यथास्थान किया है। त्रिलोकसार में अधोलोक के गणित प्रकरण में ऊर्ध्वायत, तिर्यगायत, यवमुरज, यवमध्य, मन्दर इस्य गिरिकट और सामात्य इस प्रकार आठ प्रकार के क्षेत्रों का निरूपण कर गणित प्रक्रिया प्रदर्शित की गयी है। ऊर्ध्वलोक के गणित में पिनष्टि क्षेत्र की गणित क्रिया पर्याप्त जटिल है, जिसका विश्लेषण पण्डितजी ने अपनी टीका में विस्तार के साथ किया है। इस स्थूल की टीका के अवलोकन से इतना स्पष्ट है कि पिनष्टि क्षेत्र के गणित को पंडितजी पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर सके हैं। इस क्षेत्र का आयत, वर्ग, त्रिभुज एवं समलम्ब चतुर्भुज के रूप में छेदकर पृथक्-पृथक् क्षेत्रफलों के योग द्वारा गणित क्रिया स्पष्ट की गयी है। ज्योतिर्लोकाधिकार में वृत्त और वलयवृत्तों का गणित विस्तारपूर्वक प्रदर्शित किया गया है। त्रिलोकसार की गाथा 311 की टीका में परिधि एवं वृत्त के क्षेत्रफलों का निरूपण बहुत ही स्पष्टता के साथ किया गया है। उदाहरण के लिए जिस अंक संख्या को पंडितजी ने ग्रहण किया है, उसका निर्वाह बहुत ही सुंदर ढंग से किया है। हम वृत्तक्षेत्र के संबंध में थोड़ा सा विवेचन प्रस्तुत कर देना आवश्यक समझते हैं।

किसी भी वृत्त की परिधि के अनंत हिस्से किये जायें और उसी माप के हिसाब से व्यास के भी टुकड़े किये जायें तो रूप व्यास में परिधि का मान $\sqrt{10}$ आयेगा। अत: वृत्त का 96 वां भाग चापाकार को छोड़ सालाकार हो जाता है। अत: प्रथमज्या प्रथम चय तुल्य होती है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि रूपव्यास में $\sqrt{10}$ परिधि का मान होता है। इष्ट परिधि के लिए इसे इष्ट व्यास में गुणा करें तो इष्ट परिधि आ जायेगी, पर जब इष्ट व्यास को $\sqrt{10}$ से गुणा करेंगे तो व्यास भी वर्ग के रूप में हो जायेगा। इसी तथ्य का निरूपण पंडितजी ने 'विक्खंभ वग्गदह गुणकरणी वहसस परिरयो होदि' सूत्र में किया है। 'वासो निगुणो परिही' सूत्र की व्याख्या में इसे स्थूलफल कहा है। अतएव पंडितजी द्वारा निरूपित वृत्तक्षेत्र का गणित भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

भंग गणित:

भंग गणित या विकल्प गणित का विस्तार गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड में विस्तारूप से पाया जाता है। जीवकाण्ड की 36वीं गाथा की टीका में विकथा 4, कषाय 4, इन्द्रिय 5, निद्रा 1 और प्रणय 1 इन 5 वर्गों में से प्रत्येक वर्ग की एक-एक चीज को लेकर समवाय (Combinations) बनाने पर 80 भंग होते हैं। 4×4×5×1×1=80 इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक वर्ग की चीजों की संख्याओं का सतत गुणा करने पर गुणनफल प्रमाण विकल्प गणित होता है। उसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्ड में स्थानभंग और क्रमभंगों का बड़े ही विस्तार के साथ विवेचन किया है। समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण निकालने में भी एक प्रकार से विकल्प गणित का ही प्रयोजन किया गया है। यथा

– स्वर और व्यंजनों की संख्या 64 है। इन 64 अक्षरों का विरलन कर प्रत्येक के पर 2 का अंक देकर परस्पर में गुणा कर देने पर जो गुणनफल प्राप्त हो उसमें से एक घटा देने पर समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण आता है। यथा–64 का विरलन किया तो –

$1^2/1^2/1^2/1^2/1^2/1^2/1^2/1^2/1^2/1^2/1^2/1^2/1^2\cdots\cdots 1^2/=$

$=18446744073709551616-1=18446744073709551615$

पंडितजी ने गुणहानि आयाम, अन्योन्याभ्यस्तराशि, चय आदि का निरूपण एक गुणोत्तर हीन क्रमधारा में किया है। यहाँ पदों की संख्याओं का जोड़ 1 इकाई या घटक होता है। उदाहरण के लिए परमाणुओं की सबसे बड़ी संख्या, जिसे आत्मा बंधन के लिए खींचती है 6300 है और बन्ध का काल 48 समय है। गुण हानि प्रमाण 6 है। यहाँ 6 गुणहानियों में परमाणुओं की संख्या क्रमश: निम्न प्रकार होगी – 3200, 1600, 800, 400, 200, 100 यहाँ प्रत्येक गुणहानि में $\frac{48}{6}=8$ समय है। यह गुणहानि आयाम कहलाता है। अर्थात् गुणहानि की अवधि। 6 गुणहानियों की संपूर्ण धारा नाना गुणहानि कहलाती है। दो अंक संख्या पर गुणहानि के घातक अंक को रख देने से अन्योन्याभ्यस्त राशि आती है। यथा $(2)^6=64$। एक समय प्रबद्ध या बन्धन की इकाई का भाग अन्योन्याभ्यस्त राशि अंतिम गुणहानि के परमाणुओं की संख्या प्रगट करती है। यथा – $\frac{6300}{64-1}=\frac{6300}{63}=10,$ अंतिम गुणहानि है। गुणहानि आयाम की संख्याओं का दुगुना निषेकहार होता है। यथा – $8\times2=16$ ।

चय कोई दो वैसी धाराओं के दो क्रम पदों का अंक संबंधी अंतर है, जो प्रत्येक आगे के समय से संबंध रखता है। इस प्रकार पंडितजी ने गुणहानि संबंधी गणित का बहुत ही विस्तार के साथ निरूपण किया है। सामान्य गणित की दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण है।

अलौकिक गणित :

अलौकिक गणित के निरूपण प्रसंग में पंडितजी ने सर्व प्रथम संख्याओं के तीन भेद किये हैं – संख्यात, असंख्यात और अनन्त। असंख्यात के तीन भेद हैं – परितासंख्यात, युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात। उसी प्रकार अनंत के भी तीन भेद हैं – परितानंत, युक्तानंत, और अनंतानंत। संख्यात के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट – ऐसे तीन रूप उपलब्ध होते हैं। असंख्यात के उक्त तीनों भेदों में प्रत्येक के जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम के भेद से तीन–तीन भेद हैं; इसी तरह अनंत के भी 9 भेद हैं। पंडितजी के इस गणना–क्रम में एक नयी बात यह सामने आती है कि अचिन्त्य बड़ी राशि को अनंत नहीं माना, उसे उन्होंने असंख्यात की ही संज्ञा दी है। गणनातीत राशि असंख्यात है और उससे भी आगे की संख्याएं अनंत कही जाती हैं। विस्तार की दृष्टि से अनंत के 2 भेद किये गये हैं – 1. एकतोऽनन्त (Infinite in one direction) 2. द्विधाऽनन्त (Infinite in two directions) 3. देश विस्तारानन्त

(Infinite in Partial space) 4. सर्व विस्तारानन्त (Infinite in entire space) और 5. शाश्वतानन्त (Infinite in etermotu) इस सन्दर्भ में पंडितजी द्वारा निरूपित कृतिशब्द विचारणीय है। आचार्य नेमिचन्द्र ने त्रिलोकसार की 16 वीं गाथा में आदि अंकों को कृति कहा है। पंडित टोडरमलजी ने इसी कृति शब्द को तर्क पूर्वक सिद्ध करते हुए लिखा है-''जाकी कृतिविषै वर्गमूलकौं घटाय अवशेष दोय रहै ताका वर्ग कीएं च्यारि होय ऐसें वृद्धि कौं पावै। बहुरि एक अर दोयविषै कृति का लक्षण न संभवै है। तहां एक कै तो कृतिपणौं सम्भवै ही नाहीं जातैं एक मैं एक घटाइ शून्य होइ जाइ। बहुरि दौयकै अवक्तव्य कृतिपणौं है जातैं दोय में संभवता वर्गमूल घटाए एक अवशेष रहै ताका वर्ग कीए एक ही होय किछू वधै नाहीं। तातैं तीन आदिक विषै ही कृतिका लक्षण संभवनेतैं कृतिपणौं कह्यौं।[1]''

अलौकिक गणित को पंडितजी ने सातिशय ज्ञान गम्य कहा है। पल्य से 10 कोड़ाकोड़ी गुणित सागर होता है; जगत् श्रेणिका सातवां भाग रज्जु या राजू कहलाता है। जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करने पर जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। सूच्यंगुल का घन घनांगुल, प्रतरांगुल का वर्गमूल, सूच्यंगुल और लोक का घनमूल जगच्छ्रेणी होता है। जीव, पुद्गल, सिद्ध इत्यादि की राशियों का निरूपण भी अलौकिक गणित के अंतर्गत है।

श्रेणी[2] व्यवहार का प्रयोग गुणस्थानाधिकार के अध:करण, गुणस्थान के निरूपण में; संकलन और व्यवकलन का प्रयोग, पर्याय समासज्ञान के निरूपण में; भंग या विकल्य गणित का प्रयोग, प्रमादविश्लेषण में, क्षेत्र व्यवहार का प्रयोग जीव समास प्रकरण में किया गया है। इस प्रकार पंडित टोडरमलजी ने गणित विषयक समस्तसिद्धांतों का विद्वत्तापूर्वक निरूपण किया है। हम यहाँ उनके गणितज्ञान का संक्षिप्त मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं -

मूल्यांकन -

1. करण सूत्रों के गणित संबंधी नियमों का अंक - उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण।
2. लौकिक और लोकोत्तर मानों का विस्तारपूर्वक विवेचन।
3. मान, उन्मान, अवमान, गणिमान, प्रतिमान और तत्प्रतिमानों का अंक एवं क्षेत्रों के उदाहरणों द्वारा सुस्पष्ट निरूपण।
4. संख्यात, असंख्यात और अनंत के मानों का संभव गणित द्वारा प्रस्तुतीकरण।
5. साधारण और भिन्न परिकर्माष्टकों का सरल और स्पष्ट विवेचन।
6. आवली, अंतर्मुहूर्त, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पल्योपम, सागर आदि कालमानों का गणित उदाहरणों द्वारा प्रतिपादन।
7. सूच्यंगुल, प्रतिरांगुल, घनांगुल, योजना श्रेणी, विष्कम्भ, सूची प्रतर, घनप्रतर, त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त प्रभृति क्षेत्रमानों का पाटीय ज्यामिति की क्रियाओं द्वारा सोदाहरण विवेचन।

---

1. त्रिलोकसार, लोकसामान्याधिकार, गाथा, पृष्ठ 9
2. गोम्मटसार, पीठिका, पृष्ठ 68-69।

8. अर्द्धच्छेन, वर्गशलाका, घनच्छेद आदि सिद्धांतों एवं गणित प्रक्रियाओं विश्लेषण।

9. जीवराशि एवं अन्य सैद्धांतिक राशियों के प्रमाणों का वर्गधारा घनधारा, समधारा विषमधारा एवं घनाघन आदि 14 धाराओं द्वारा सोदाहरण कथन।

10. खंडिता भाजित, विरलित और अपहत विधियों के सैद्धांतिक प्रयोग एवं अंक-संदृष्टियों का निरूपण।

11. त्रैराशिक, पंचराशिक सप्तराशिक प्रभृति सिद्धांतों का विवेचन।

12. अकृति और अघन धाराओं के विवेचन प्रसंग में विंतत भिन्नों के आवर्तरूपों के आध्यात्मिक व्याख्यान।

13. वृत्त के साथ आयत वृत्त (Ellipse), घन चतुरस्र (Cube), घनायत (Rectagular Parallelopiped), घनवृत (Sphere), और घनपरिमण्डल (Elliptic Cylinder) के गणितों का सविधि आनयन और त्रिलोक संबंधी गणित में उनका विधिपूर्वक नियोजन

14. स्थान भंग और क्रमभंगों के विवेचन द्वारा विकल्प गणित की क्रियाओं का प्रतिपादन।

15. गति, प्रकाश, कर्मपरमाणु, गुणहानि आयाम आदि की गणित क्रियाओं में एप्लाइड गणित (Applied Mathematics) के सिद्धांतों का नियोजन।

16. घातकांकों का निरूपण बिरलन, देय और शलाका क्रियाओं द्वारा राशियों के गणितों का मानानयन।

17. करणीगत राशियों के वर्गमूल और घनमूलानयन की क्रियाओं का अंकों द्वारा उदाहरण पूर्वक प्रतिपादन।

18. मूलभावों का गणित उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण; फलतः क्षेत्रगणित, अंकगणित और अलौकिक गणित के स्पष्टीकरण के हेतु बीजचिह्नों का विवेचन। ●●

जिन जीवनि को दुखतैं छूटना होय सो इच्छा दूर करने का उपाय करो। बहुरि इच्छा दूर तब ही होइ जब मिथ्यात्व अज्ञान असंयम का अभाव होइ अर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति होय। तातैं इस ही कार्य का उद्यम करना योग्य है। ऐसा साधन करते जेती जेती इच्छा मिटै तेता तेता ही दुख दूर होता जाय। बहुरि जब मोह के सर्वथा इच्छा का अभाव होइ तब सर्व दुःख मिटै, साचा सुख प्रगटै।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

शास्त्र के अर्थ समझने की पद्धति

आगम के अभ्यास की आवश्यकता

श्री नेमीचंद पाटनी

मोक्षार्थी को मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिये शास्त्र अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। शास्त्र-अध्ययन के द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप समझ में आता है, उसके समझने पर ही स्वपर भेद विज्ञान द्वारा आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, जिस सम्यग्दर्शन के प्राप्त होते ही ज्ञान चारित्र भी सम्यक्ता को प्राप्त होते हैं। अत: शास्त्र अध्ययन, मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम आवश्यक है।

इस संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक पत्र नं. 305 में लिखा है कि -

''इसलिए स्यात् पद की सापेक्षता सहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिन वचनों में रमते हैं, वे जीव शीघ्र ही शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त होते हैं। मोक्षमार्ग में पहिला उपाय आगमज्ञान कहा है, आगमज्ञान के बिना धर्म का साधन नहीं हो सकता, इसलिए तुम्हें भी यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास करना। तुम्हारा कल्याण होगा।''

आगम अभ्यास का फल टोडरमलजी साहब ने पत्र नं. 268 में मिथ्यात्व का नाश होना बताया है-

''अब मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है।'' तथा पत्र नं. 193 में कहा है कि ''इस मिथ्यात्व बैरी का अंश भी बुरा है, इसलिए सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है।''

अब देखना यह है कि शास्त्रों का अध्ययन करने में आचार्यों ने क्या पद्धति बताई है अर्थात् किस पद्धति से शास्त्र अध्ययन करने से इष्ट ध्येय की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिये प्रथम यह समझना आवश्यक है कि शास्त्रों के तथा उनके भिन्न-भिन्न विषयों के निरूपण का तात्पर्य क्या है?

शास्त्र तात्पर्य वीतरागता :

इस विषय में श्रीमत् अमृतचंद्राचार्य ने पंचास्तिकाय ग्रंथ की गाथा नं. 172 की टीका में लिखा है कि-

''अलं विस्तरेण। स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति।''

अर्थ - विस्तार से पूरा पड़ो। जयवंत रहो वीतरागता कि जो साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र का तात्पर्य है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पत्र नं. 303 में भी कहा है कि - ''जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है, इसलिए कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण

किया है, कहीं सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है, परंतु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं नहीं है, इसलिए जिनमत का सर्व कथन निर्दोष है।''

उपर्युक्त प्रकार से जिनागम के अध्ययन का तात्पर्य वीतरागता है यह जानकर अपने अध्ययन के फलरूप अपने भावों में वीतरागता का पोषण होता हो तो समझना चाहिए कि अध्ययन ठीक प्रकार से हो रहा है और उस अध्ययन से अगर किसी भी प्रकार से रागभावों का पोषण होता हो तो समझना कि मेरे अध्ययन की प्रणाली में कहीं भूल हो रही है।

अध्ययन का लाभ :

उस अध्ययन का स्वयं को किस प्रकार लाभ हो इस संबंध में मोक्षमार्ग प्रकाशक पत्र नं. 298 में कहा है कि – ''जैनशास्त्रों में अनेक उपदेश हैं, उन्हें जाने परंतु ग्रहण उसी का करे जिनसे अपना विकार दूर हो जावे, अपने को जो विकार हो उसका निषेध करनेवाले उपदेश को ग्रहण करे।'' पत्र नं. 302 में भी कहा है ''विवेकी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे सो थोड़े या बहुत उपदेश को ग्रहण करे परंतु मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है – इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिए, सो कार्य तो इतना है कि – यथार्थ श्रद्धान ज्ञान करके रागादि घटाना। ...इस प्रकार स्याद्वाद दृष्टि सहित जैन शास्त्रों का अभ्यास करने से अपना कल्याण होता है।''

स्व कल्याण करना ही प्रयोजन :

पत्र नं. 301 के अंत में भी कहते हैं कि ''उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजन सहित है, किस जीव को कार्यकारी है? इत्यादि विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करे, पश्चात् अपनी दशा देखे, जो उपदेश जिस प्रकार अपने को कार्यकारी हो, उसे उसी प्रकार आप अंगीकार करे और जो उपदेश जानने योग्य ही हो, तो उसे यथार्थ जान ले।''

उपर्युक्त प्रकार से जिनागम के अध्ययन का प्रयोजन मात्र अपना हित अर्थात् मिथ्यात्व का नाश करना है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पत्र नं. 266 में कहा भी है कि – ''उन प्रकारों को पहचान कर अपने में ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक् श्रद्धानी होना, औरों के ही ऐसे दोष देखकर कषायी नहीं होना क्योंकि अपना भला बुरा तो अपने परिणामों से है। औरों को तो रुचिवान् देखे तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करे। इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है, सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है, क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है।''

शास्त्राभ्यासी की अन्तर्भावना :

आगे टोडरमलजी साहब पत्र नं. 257 में बताते हैं कि शास्त्र के अभ्यासी की अंतर्भावना कैसी होनी चाहिए-

''उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि - अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ परंतु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहां मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है।''

अभ्यास करने की प्रणाली :

आगे पत्र नं. 258 में तत्त्वनिर्णय करने के अभ्यासी को किस प्रकार अभ्यास करना चाहिए, वह पद्धति बताई है कि - ''सो एकांत में अपने उपयोग में विचार करे कि - जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है? वहां अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे अथवा उपदेश तो ऐसा है और ऐसा न माने तो ऐसा होगा, सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने तथा यदि उपदेश से अन्यथा सत्य भासित हो अथवा उसमें संदेह रहे, निर्धार न हो, तो जो विशेषज्ञ हों उनसे पूछे और वे उत्तर दे उनका विचार करे। इसी प्रकार जब तक निर्धार न हो तब तक प्रश्न-उत्तर करे अथवा समान बुद्धि के धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकांत में विचार करे। इसी प्रकार जब तक अपने अंतरंग में जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर भाव भासित न हो तब तक इसी प्रकार उद्यम किया करे।''

पत्र नं. 259 में कहा है कि ''इसलिए भाव भासित होने के अर्थ हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए।'' पत्र नं. 260 में भी कहा है कि ''परंतु सम्यक्त्व का अधिकारी तत्त्वविचार होने पर ही होता है।'' इस प्रकार जिनागम के अभ्यास की पूर्वभूमिका बतलाई गई है।

चारों अनुयोगों की पद्धति :

अब यह समझना है कि जैन शास्त्रों का अभ्यास करने की पंडितजी साहब क्या पद्धति बतलाते हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार नं. 8 में पंडितजी साहब ने इस विषय को बहुत स्पष्टीकरण पूर्वक समझाया है कि चारों अनुयोग के शास्त्रों में कथन किस पद्धति से किस प्रयोजन को लेकर, किस विधि से किया गया है तथा उनमें दोष कल्पना की जाती है, उसका निराकरण क्या है, अत: पूरा अधिकार ही मनन करनेयोग्य है।

निश्चयनय एवं व्यवहारनय को समझने की प्रणाली :

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपर्युक्त कथन में निश्चय व्यवहार की बात आई है, अत: उसका स्वरूप समझना भी तत्त्वनिर्णय करने के लिए अति आवश्यक है। इस विषय में मोक्षमार्ग प्रकाशक पत्र नं. 193 में बताया है कि ''वहां जिनागम में निश्चय व्यवहाररूप वर्णन है। उनमें यथार्थ का नाम निश्चय है, उपचार का नाम व्यवहार है'' तथा पंत्र नं. 251 में कहा है कि ''व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, इसलिए उसका त्याग करना तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना।''

यहाँ **प्रश्न** है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

समाधान - जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' - ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार किया है' - ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर ऐसे भी है, ऐसे भी है इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

निश्चयनय को अंगीकार कराने के लिए व्यवहार से उपदेश होता है।

पत्र नं. 252 में कहा है कि ''इस निश्चय को अंगीकार कराने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, परंतु व्यवहारनय है सो अंगीकार करनेयोग्य नहीं है।'' (समयसार गाथा नं. 8 की टीका में से) इसी पत्र में आगे कहते हैं ''तथा निश्चय से वीतराग भाव मोक्षमार्ग है, उसे जो नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पाये। तब उनको व्यवहारनय से, तत्त्व श्रद्धान ज्ञान पूर्वक, पर द्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादि रूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई। इसी प्रकार व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का न होना जानना।'' व्यवहार कथन अंगीकार करने योग्य नहीं है, आगे इसी ही बात को पुष्ट करते हैं ''तथा व्यवहारनय से नरनारकादि पर्याय ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना।'' जीव के संयोग से शरीरादि को भी उपचार से जीव कहा, सो कथन मात्र ही है.... ऐसा ही श्रद्धान करना। तथा अभेद आत्मा में ज्ञान दर्शनादि भेद किये सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना ''संज्ञा संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं - ऐसा ही श्रद्धान करना।''

''परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से व्रत शील संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं

को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना,..... इसलिए आत्मा अपने भाव रागादिक हैं उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है, इसलिए निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। ....व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहा सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से बाह्य क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा ही श्रद्धान करना।'' पत्र नं. 253 में कहा है कि ''इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय को अंगीकार नहीं करना, ऐसा जान लेना।''

व्यवहार उपदेश अपने लिए कैसे कार्यकारी है :

आगे **प्रश्न** किया है कि 'व्यवहारनय पर को उपदेश में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है?'

समाधान – आप भी जबतक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने तब तक व्यवहारमार्ग से वस्तु का निश्चय करे इसलिए निचली दशा में अपने को भी कार्यकारी है; परंतु व्यवहार को उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो परंतु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इस प्रकार ही है' ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जावे। यही पुरुषार्थसिद्धयुपाय की गाथा नं. 6-7 में कहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से निश्चय, व्यवहार के स्वरूप को भले प्रकार यथावत् समझकर, चारों अनुयोग के शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।

ग्रथांतरों में आगम अभ्यास की पद्धति :

श्रीमत् जयसेनाचार्य ने समयसार गाथा नं 120 की टीका में यही पद्धति अपनाने का आदेश किया है, यथा-

''इति शब्दनयमतागमभावार्था: व्याख्यानकाले यथा संभव सर्वत्र ज्ञातव्या:'' अर्थ - शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ तथा भावार्थ-व्याख्यान के अवसर पर सर्वत्र जान लेना। उपर्युक्त पद्धति को ही पंचास्तिकाय की गाथा नं. 27 की टीका में उक्त आचार्य महाराज ने तथा ब्रह्मदेवसूरि ने परमात्म प्रकाश श्लोक नं. 1 की टीका में तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह की गाथा नं. 2 की टीका में भी बताई है।

(1) शब्दार्थ=शब्द का अर्थ, (2) नयार्थ=यह कथन किस नय की मुख्यता से किया है यह समझना, (3) मतार्थ=यह कथन किस प्रकार की मान्यता को सम्यक् कराने की मुख्यता से किया गया है, यह समझना। (4) आगमार्थ=आगम में प्रसिद्ध क्या है, उससे मिलान करना (5) भावार्थ=इष्टार्थ तो वीतरागता है। अत: यह कथन वीतरागता की साधना में हेय या उपादेय है, यह समझना। इस प्रकार पांचों प्रकारों का उपयोग करके शास्त्रों का अध्ययन करे तो यथार्थ भावभासन होकर आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त हो।

उपर्युक्त पाँचों प्रकार में भी नयार्थ सबसे ज्यादा समझनेयोग्य है।

शास्त्रों का अर्थ समझने की मास्टर कुंजी :

संक्षेप में कहो तो – ''एक द्रव्य का कार्य उस ही द्रव्य में अथवा उस द्रव्य के कार्य (पर्याय) को उस ही द्रव्य का बतलाया हो'' वह निश्चय का कथन जानना। ''एक द्रव्य का कार्य अन्य द्रव्य में अथवा उस द्रव्य के कार्य (पर्याय) को अन्य द्रव्य द्वारा करना बतलाया हो'' वह व्यवहार का कथन जानना। जैसे मतिज्ञानरूप आत्मा की पर्याय को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम द्वारा हुई कहना, यह व्यवहार कथन हुआ और उसी पर्याय को आत्मा कहना, यह निश्चय कथन है। व्यवहार के कथन जैसी ही वस्तु को मान ले तो ऐसे श्रद्धान को आचार्यों ने मिथ्या श्रद्धा कहा है; और ऐसी श्रद्धा को छोड़ने का आदेश दिया है – कारण ऐसी श्रद्धा करने से उस दोष को टालने का पुरुषार्थ खत्म हो जाता है और श्रद्धा में पराधीनता आ जाने से वह वीतरागता की बाधक हो जाने के कारण, वीतरागता की घातक सिद्ध होती है जो कि शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता। अत: शास्त्रों का यथार्थ भाव समझने के लिये उपर्युक्त निश्चय-व्यवहार की मास्टर कुंजी का प्रयोग करने से कहीं भी शास्त्राभ्यासी को भूल नहीं पड़ेगी। अन्यथा अपनी पूर्व मान्यता को पोषण करता रहेगा।

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, कथन पद्धति दो प्रकार है :

निश्चय व्यवहार के संबंध में एक मिथ्या मान्यता और चलती है कि 'निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग, इस प्रकार मोक्षमार्ग दो हैं, अत: दोनों का सेवन आवश्यक है।' इसका भी निराकरण होना आवश्यक समझकर यहां संकेत करते हैं। इस संबंध में मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 248 में कहा है कि ''सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहां सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग-निरूपित किया जाय सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहां जो मोक्षमार्ग तो नहीं परंतु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाये सो व्यवहार मोक्षमार्ग है, क्योंकि निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। 'सच्चा निरूपण सो निश्चय' 'उपचार निरूपण से व्यवहार' इसलिए निरूपण-अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना (किंतु) एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है, इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है तथा निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध सहित है।''

श्रद्धान निश्चय का, प्रवृत्ति व्यवहार की करना-मानना, मिथ्या कैसे है?

पृष्ठ नं. 249 में कहते हैं कि ''तू ऐसा मानता है कि – सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभवन सो निश्चय और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति सो व्यवहार, सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि किसी द्रव्यभाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार – ऐसा नहीं है। एक ही द्रव्य के भाव

को उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है, उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना, सो व्यवहार है।'' जैसे मिट्टी के घड़े को 'घी का घड़ा' कहना यह व्यवहार है। आगे पत्र नं. 250 में एक प्रश्न उठाया है कि - श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखते हैं। - इस प्रकार हम दोनों को अंगीकार करते हैं। सो ऐसा भी नहीं बनता जो कि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। एक ही नय का श्रद्धान होने से एकांत मिथ्यात्व होता है तथा प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है, वहां जिस द्रव्य की परिणति हो उसको उसी की प्ररूपित करे सो निश्चयनय और उस ही को अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे सो व्यवहारनय - ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपणा से उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं।'' इस प्रकार के कथन को सुनकर फिर शिष्य जिज्ञासा प्रगट करता है कि ''तो क्या करें? सो कहते हैं - निश्चयनय से जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मनकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।''

निश्चय उपदेश में व्यवहार को छोड़ देंगे, ऐसा मानने में दोष :

ऐसा कथन सुनकर शिष्य पत्र नं. 253 में कहता है कि ''तुम व्यवहार को असत्यार्थ-हेय कहते तो हम व्रत, शील, संयमादि व्यवहार कार्य किसलिए करें? - सबको छोड़ देंगे। उससे कहते हैं कि - व्रत, शील, संयमादिक का नाम व्यवहार नहीं है, इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दें और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, ये तो परद्रव्याश्रित हैं तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतराग भाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ हेय जानना। व्रतादिक को छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना होता नहीं है।''

उपसंहार :

इस प्रकार टोडरमलजी साहब ने निश्चय-व्यवहार के विषय में बहुत ही सुंदर स्पष्टीकरण किया है। इस दृष्टिकोण को समझकर तथा इस ही दृष्टि को लक्ष्य में रखकर शास्त्रों का अध्ययन करे व अर्थ समझे तो यथार्थ वस्तुस्वरूप का ज्ञान हो और मिथ्या श्रद्धा का नाश हो। इसलिए मोक्षार्थी जिज्ञासु जीव को अपने कल्याण करने की दृष्टि से उपर्युक्त पद्धति को समझकर तत्त्वनिर्णय करना चाहिए।

इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाशक में शास्त्रों के अर्थ करने की जो पद्धति बताई है, उसके अनुसार शास्त्रों का अभ्यास करके सभी जीव अपने आत्मा का कल्याण करें। ●●

पंडित टोडरमलजी के अनन्य सहयोगी :-

जयपुर के दीवान बालचन्दजी छाबड़ा
(दीवान काल वि. संवत् 1818 से 1829 तक)
(स्वर्गारोहण सं० 1855-56)

इस विस्तृत प्रमाणिक टीका के प्रणयन में पंडित टोडरमलजी ने जो परिश्रम किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता।

आत्मानुशासन : और उसकी भाषा टीका

प्रो. अमृतलाल शास्त्री, दर्शनाचार्य, वाराणसी

अठारहवीं शताब्दी के मूर्धन्य विद्वान् आचार्यकल्प पंडित प्रवर प्रतिभामूर्ति श्री टोडरमलजी ने जिन गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार और पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि विशिष्ट प्राचीन प्राकृत संस्कृत ग्रंथों पर प्रामाणिक विस्तृत भाषा टीकाएं लिखी हैं, आत्मानुशासन उन्हीं में से एक है।

आत्मानुशासन ग्रंथ की रचना नवमीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य श्री गुणभद्र भदंत ने की थी, जो भगवज्जिनसेनाचार्य के प्रमुख शिष्य थे, तथा जिन्होंने अपने गुरु के आकस्मिक निधन के पश्चात् आदि पुराण के अधूरे अंश को पांच पर्वों (श्लोक संख्या 1620) में पूरा किया था और उत्तर पुराण (श्लोक संख्या 8000), जिनदत्त चरित्र (श्लोक संख्या 897) आत्मानुशासन (श्लोक संख्या 269) इन तीन ग्रंथों का निर्माण किया था।

आत्मानुशासन की रचना भदंत गुणभद्र ने अपने ज्येष्ठ धर्म बन्धु श्री लोकसेन को जो संभवत: गृहस्थावस्था में उनके बड़े भाई और दीक्षितावस्था में शिष्य रहे, विषय व्यासंग से विरत करने या रखने के उद्देश्य से की थी, जैसा कि इसकी संस्कृत[1] और हिन्दी[2] टीकाओं के प्रारंभ में क्रमश: प्रभाचंद्र तथा पंडित टोडरमल ने लिखा है।

अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य-शास्त्र में मधुरता अधिक होती है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। मानव समाज स्वभावत: मधुर प्रिय है। उसे काव्य शास्त्र अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। इस दृष्टि से काव्यशास्त्र की उपादेयता सर्वोपरि है।

काव्यशास्त्र के आकर्षण को बढ़ाने के लिए शृंगार आदि रसों का प्रयोग आवश्यक होता है। पर कुछ कवियों ने अपने काव्यों में शृंगार रस की अति कर दी है। कुछ अंशों में वह अश्लीलता के

---

1. बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धे: संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नत: शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो लक्ष्मीत्याद्याह.....।
2. अथ श्री गुणभद्रनामा मुनि अपने धर्मभाई लोकसेन मुनि विषे विमोहित भया तिसके सम्बोधन का अभिलाषी होता संता निर्विघ्न शास्त्र की संपूर्णता आदि अनेक फल की वाञ्छा करता हुआ अपने इष्टदेव को नमस्कार करता संता प्रथम ही लक्ष्मी इत्यादि सूत्र कहे हैं।

रूप में अभिव्यक्त हो उठी। लगता है इसीलिए नारदपुराण[3] और भूधरशतक[4] आदि अनेक ग्रंथों में उनकी कटु समालोचना की गई।

मेघदूत महाकवि कालिदास के श्रेष्ठ काव्यों में से एक है। यह अपने ढंग का एक ही महाकाव्य है। इसमें रामगिरि (रामटेक) से अलकापुरी तक का मार्ग वर्णित है। इस शृंगाररस का प्रयोग कहीं-कहीं सीमा से बाहर चला गया है। यह देखकर भगवज्जिनसेनाचार्य ने समस्यापूर्ति के रूप में पार्श्वाभ्युदय का निर्माण किया। इसमें पूरा मेघदूत आ गया, पर आश्चर्य है जो उसका शृंगार रस इसमें शांतरस बन गया। भवज्जिनसेन की इस सफलता को देखकर उनके शिष्य भदंत गुणभद्र ने भी कुछ प्रेरणा ली।

गुणभद्र से पहले अमरुक कवि का अमरुक शतक बन चुका था। इसमें आदि से अंत तक शृंगार रस है। इसे पढ़कर मानव का मानस शृंगारी हो सकता है। फलत: वह राग से विराग की ओर जाने का यत्न नहीं कर सकता। लोकसेन जैसे रागी का उद्धार इससे संभव नहीं। जान पड़ता है यही सोचकर गुणभद्र ने आत्मानुशासन का निर्माण किया। यह ग्रंथ अथ से इति तक हृदय ग्राह्य है। इसे पढ़कर कोई भी सहृदय मुमुक्षु पाठक अपने आत्मा पर अनुशासन कर सकता है। इसकी तुलना भर्तृहरि के शतकत्रय से (शृंगाररस को छोड़कर) की जा सकती है। इसके धार्मिक और नैतिक सुभाषित अत्यंत शिक्षाप्रद हैं।

इस ग्रंथ पर आचार्य प्रभाचंद्र ने तेरहवीं शताब्दी में एक संस्कृत टीका लिखी थी, जो सन् 1961 में जीवराज ग्रंथमाला सोलापुर से प्रकाशित हुई है। मूल ग्रंथ जितना अच्छा है, यह टीका उतनी अच्छी नहीं, टीका शब्द टीकृ भतौ धातु से बनता है। इस दृष्टि से टीका उसे कहते हैं जो मूल ग्रंथ के साथ-साथ चले। मूल के सरल या कठिन सभी अंशों पर प्रकाश डालना इसके लिए आवश्यक होता है। पर प्रस्तुत टीका में यह बात नहीं है। इसमें कतिपय (जैसे 39, 87, 108, 134, 135, 149) श्लोकों के भाव को स्पष्ट नहीं किया गया। प्राय: पर्यायशब्द दिये गये हैं, और कहीं-कहीं तो वे भी नहीं दिये गये।

ऐसे शिक्षाप्रद उत्तम ग्रंथ पर अच्छी टीका का न होना प्रतिभामूर्ति पंडित टोडरमलजी को भी खला। फलत: उन्होंने जो टीका लिखी वह आदि से अंत तक मूल के साथ चली है। इसमें कुछ (1, 13, 79, 80, 87) श्लोकों को छोड़कर शेष सभी के अर्थ के बाद भावार्थ भी दिया है। कहीं-कहीं तो (जैसे 111, 141) अन्य ग्रंथों के उद्धरण देकर प्रस्तुत विषय को पुष्ट भी किया गया है।

3. धिक् तस्य मूढमनस: कुकवे: कवित्वं य: स्त्रीमुखं च शशिनं च समीकरोति।
   भ्रूक्षेपविस्मितकटाक्षनिरीक्षणानि कोपप्रसादहसितानि कुत: शशांके।
4. राग उदै जग अन्ध भयौ, सहजै सब लोगन लाज गमाई।
   सीख बिना नर सीखत हैं, विषयादिक सेवन की चतुराई।
   तापर और रचें रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
   अन्ध असूझन की अखियन में, झोंकत हैं रज रामदुहाई।।

यद्यपि टोडरमलजी के सामने उक्त प्रभाचंद्राचार्य की संस्कृति टीका भी थी, पर उन्होंने उसका विशेष सहारा नहीं लिया, जैसा कि आगे की पंक्तियों से स्पष्ट है।

यहां आत्मानुशासन के कुछ श्लोकों के नीचे उक्त दोनों टीकाएं दी जा रही हैं –

पापाद् दु:खं धर्मात् सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद् विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्।।8।।

संस्कृत टीका – एवंविध: शिष्यो गुरुपदेशात् सुखार्थितया धर्मोपार्जनार्थमेव प्रवर्तताम्। यत: पापादित्यादि। इति एवम्। चरतु अनुतिष्ठतु।।8।।

भाषा टीका। अर्थ – पाप से दु:ख होता है, और धर्म से सुख होता है, ऐसे ये वचन सर्वजनों विषें भली प्रकार प्रसिद्ध है, सवै ही ऐसे माने हैं। इसलिये जो सुख का अर्थी है, जिसको सुख चाहिए सो पाप को छोड़कर सदा काल धर्म को अंगीकार करे।

भावार्थ – पाप का फल दु:ख है, और धर्म का फल सुख, ऐसे केवल हम ही नहीं हैं बल्कि सर्व ही मतानुयायी कहें हैं। इसलिए सुख चाहो हो तो पाप को छोड़ो धर्म कार्य करो।।8।।

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षण:।
चक्षुषान्धां न जानाति विषयान्धो न केनचित्।।35।।

संस्कृत टीका – विषयव्यामुग्धस्य पुत्रवधाद्यकृत्य प्रवृत्तौ कारणमाह–अन्धादित्यादि। विषयान्धीकृतेक्षण: अनन्धानि अन्धानि कृतानि अन्धीकृतानि, विषयै: अन्धीकृतानि ईक्षणानि इन्द्रियाणि यस्य।।35।।

भाषा टीका। अर्थ – विषयन कर अन्धा किया गया है सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र जिसका ऐसा जो यह जीव सो अन्ध से भी महान् अन्ध है। यहां हेतु कहें हैं कि अन्ध है सो तो नेत्र ही कर नहीं देखे हैं और विषय कषाय कर जो अन्ध है सो किसी कर भी नहीं जाने है।

भावार्थ – अन्ध पुरुष को तो नेत्र ही कर नहीं सूझे है। मन कर विचारना कान कर सुनना इत्यादि ज्ञान तौ उसकै पाइये है। और जो विषय वासना कर अन्धा भया है उसकै किसी द्वारा भी ज्ञान न होय सके है, यदि नयन विषें दु:ख हो तो नेत्रन कर न दीखै तो मन कर विचारे भासे, सीख देनेवाला सुनावै इत्यादि ज्ञान होने के कारण बनैं परंतु विषय वासना कर ऐसा अन्ध होय है कि किसी को भी गिने नहीं, इसलिये अन्ध होना निषिद्ध है। तिससे भी विषयन कर अन्ध होना अति निषिद्ध जानना।।35।।

शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते सतामपि न संपद:।
न हि स्वच्छाम्बुभि: पूर्ण: कदाचिदपि सिन्धव:।।45।।

संस्कृत टीका – ननु निरवद्यवृत्त्या अर्थोपार्जनं कृत्वा संपदां वृद्धिं विधाय सुखानुभवनं करिष्यामीति वदन्तं प्रत्याहशुद्धैरित्यादि। शुद्धै: निरवद्यै: स्वच्छाम्बुभि: निर्मलजलै: सिन्धव: नद्य:।।45।।

भाषा टीका। अर्थ – अहो प्राणी! न्याय के आचरण कर उपार्ज्या जो वन उस कर उत्तम पुरुषों कै भी सुख संपदा नहीं बढ़ै है। जैसे निर्मल जल कर कदाचित् समुद्र नहीं पूर्ण होय है।

भावार्थ – अयोग्य आचरण तो सर्वथा त्याज्य ही है और योग्य आचरण कर उपार्ज्या जो धन उसकर भी संपदा की वृद्धि न होय है। जैसे कदाचित् भी निर्मल जल कर समुद्र पूर्ण नहीं होय है। इसलिए न्यायोपार्जित धन की भी तृष्णा तज कर सर्वथा नि:परिग्रही हो।।45।।

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्नि: प्रशाम्यति निरिन्धन:।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कट:।।56।।

संस्कृत टीका – तर्हि अभिमतविषयप्राप्तौ तृष्णाग्नेरूप शमात् क्लेशोपशमो भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह–लब्धेन्धन इत्यादि। निरिन्धन: इन्धनरहित: उभयथापि वाञ्छितार्थेन्धनं प्राप्याप्राप्ते र्द्विप्रकारोत्कट इतराग्नेरतिशयतान्।।56।।

हिन्दी टीका। अर्थ – हे भव्य, अग्नि ईंधन के योग से प्रज्वलित होय है और ईंधन बिना बुझ जाय है। और मोहरूप अग्नि अति प्रबल है, परिग्रह रूपी ईंधन के योग से तृष्णा रूप होय प्रज्वलै है और परिग्रह की अप्राप्ति से व्याकुलतारूप होय प्रज्वलै है। अहो यह अति प्रबल मोहाग्नि दोनों प्रकार ही प्रज्वलित है, इसलिए मोहाग्नि समान और अग्नि नहीं है।

भावार्थ – और अग्नि तो ईंधन के योग से प्रज्वलित होय है, और ईंधन के वियोग से बुझ जाय है। और यह मोहाग्नि परिग्रह के बढ़ने से तो बहुत तृष्णारूप होय है और परिग्रह के घटने से व्याकुलता रूप होय है। जब असाता के योग से कुछ न मिले है तब महा दु:खी होय है और जब साता के योग से कुछ मिले भी है तब तृष्णा बढ़ती जाय है, जैसे सौ से हजार की, हजार से लाख की इस भांति अधिक अधिक बढ़ती चली जाय है संतोष नहीं आवै है, सो संतोष बिना सुख नहीं है। इसलिये मोह अग्नि को दोनों प्रकार दाहक कहा है। कितने ही विवेकी जीव जब शान्त भाव रूप जल कर इसको उपशमावें है तब ही सुखी होय हैं।।56।।

शरीरमपि पुष्यन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद् वाञ्छन्ति जीवितुम।।१98।।

संस्कृत टीका – एवं विधं शरीरं पोषयित्वा किं कुर्वन्तीत्याह–शरीरमित्यादि। पुष्णन्ति पोषयन्ति।।198।।

हिन्दी टीका। अर्थ – अहो लोक में मूर्ख जीवों को क्या दुष्कर है। शरीर को भी पोषें, और विषयों को भी सेवें, सो मूर्खों को कुछ भी विवेक नहीं विष से जीया चाहे है।

भावार्थ – अविवेकियों को पाप का भय नहीं, और विचार भी नहीं, बिना विचारे न करने योग्य जो कार्य सो भी करें परंतु जो पंडित विवेकी हैं वह शरीर से अधिक प्रेम न करे हैं और नाना सामग्री कर इसके न पोषैं हैं और विषयों को न सेवें हैं और अकार्य बुरे काम से डरें हैं और जो मूढ़ जन हैं, वह शरीर को अधिक पोषे हैं और विषयों को सेवैं हैं और न करनेयोग्य कार्य में अयोग्य की शंका न करें है सो जो विषयों को सेवै हैं, वह विष खाय जिया चाहे हैं।।198।।

शिरस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम्।।208।।

संस्कृत टीका – प्रेक्षावतामुद्वेगः कर्तुमनुचित इत्याह।।208।।

अर्थ – जैसे कोई सिरका बोझा उतार कर कांधे पर धर कर सुख माने है तैसे जगत् के जीव रोग का भार उतार कर शरीर के भार कर सुख मानै हैं।

भावार्थ – जगत् के जीव रोग गये शरीर में सुख मानै हैं। और ज्ञानी जीव शरीर का सम्बन्ध ही रोग जाने हैं। जैसा सिर का भार तैसा ही कांधे का भार, इसी प्रकार जैसा रोग का दुःख तैसा ही देह धारण का दुःख है, इसलिए शरीर जाय तो विषाद नहीं करणा।।208।।

इसी तरह पूरे ग्रंथ की भाषा टीका की गई है। इस टीका में श्री टोडरमलजी की अगाध विद्वत्ता की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है।

इस टीका के बाद एक मराठी टीका, जो प्रस्तुत का उल्थामात्र है, ब्रह्मचारी जीवराजजी सोलापुर ने और हिन्दी टीका पंडित बंशीधरजी सोलापुर ने की थी, जो क्रमशः वी. नि. वं. 2435 और ई. सन् 1916 में प्रकाशित हुई थी। इनके बाद सन 1961 में एक और हिन्दी टीका डा. उपाध्ये, डा. हीरालालजी और पंडित बालचंद्रजी शास्त्री के सम्पादकत्व में, संयोग की बात है उसी सोलापुर से प्रकाशित हुई है जो अनेकानेक विशेषताओं से विभूषित है।

ये तीनों टीकायें पंडित टोडरमलजी की भाषा टीका से प्रभावित हैं।

इस विस्तृत प्रामाणिक टीका के प्रणयन में पंडित टोडरमलजी ने जो परिश्रम किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। ●●

आचार्यकल्प पंडित टोडरमल और उनकी कृतियाँ

श्री पंडित परमानंद जैन शास्त्री

(मोक्षमार्गप्रकाशक पंडितजी की मौलिक कृति है..... इसमें विद्वानों को विविध प्रकार की चर्चाओं का खासकर प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग—इन चार अनुयोगों का कथन, प्रयोजन, उनकी सापेक्ष विवेचन शैली का जो स्पष्टीकरण किया है – वह अन्यत्र नहीं मिलता।)

राजस्थान के हिन्दी साहित्य के दिगम्बर जैन विद्वानों में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी का नाम खासतौर से उल्लेखनीय है। आप हिन्दी गद्य के लेखक विद्वानों में प्रथम कोटि के विद्वान हैं। विद्वत्ता के अनुरूप आपका स्वभाव भी विनम्र और दयालु था और स्वाभाविक कोमलता, सदाचारता आपके जीवन के सहचर थे। अहंकार तो आपको छूकर भी नहीं गया था। आपका रहन-सहन अत्यन्त सादा था, स्वाभाविक आर्जवता ने उस सादगी को चार चाँद लगा दिये थे। आध्यात्मिकता का तो उनके जीवन के साथ घनिष्ट संबंध था। श्री कुंदकुंदादि महान् आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन, मनन एवं परिशीलन से आपकी बुद्धि परिपक्व हो चुकी थी। वे अध्यात्म-रस रसिया थे। उसका आपके जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा हुआ था। जैन धर्म का रहस्य और स्व-पर का भेद-विज्ञान उनके जीवन का अंग बन गया था। अध्यात्म-रस की चर्चा करते हुए वे इतने आत्म-विभोर हो उठते थे और श्रोताओं को ऐसा अहसास होने लगता था कि पंडितजी का स्वच्छ हृदय बोल रहा है। श्रोताजन उनकी वाणी को सुनकर गद्‌गद् हो जाते थे। व्यवहार और निश्चयनय की कथनी, चारों अनुयोगों की दृष्टि का सूक्ष्म विश्लेषण, सम्यग्दर्शन की महत्ता, और सप्ततत्त्व का विपरीत श्रद्धान आदि विषयों का मनन उनके मार्मिक रहस्य का उद्‌घाटन करना था, जिसे सुनकर श्रोताजन वस्तुतत्त्व का निश्चय करने में समर्थ हो जाते थे। कर्मबन्ध और जीव के स्वरूप का तथा रागादि द्वारा होनेवाले उसके विभाव परिणमन का ऐसा सुंदर विवेचन करते थे कि श्रोताजन मंत्रमुग्ध होकर उसका रसपान करते हुए नहीं अघाते थे। इससे पंडितजी की विद्वत्ता और विवेचक शक्ति का सहज ही निदर्शन हो जाता है। उनकी निरति धार्मिक परिणति संतजनों में प्रमोद उत्पन्न करती थी। जीवमात्र के प्रति उनकी दयालुता प्रवृत्ति प्रदत्त थी।

यद्यपि पंडितजी ने अपना कोई परिचय नहीं दिया किंतु लब्धिसार की टीका के अंत में अपने आध्यात्मिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए एक दोहे में माता पितादि का नामोल्लेख किया है।

रम्भापति स्तुतगुन जनक जाकौ जोगीदास।
सोई मेरो प्रान है, धारैं प्रकट प्रकाश।।37।।

आपके लौकिक जीवन का नाम टोडरमल था। और पिता का नाम जोगीदास, तथा माता का

नाम रंभाबाई था। आपकी जाति खंडेलवाल और गोत्र गोदीका था, जो भौंसा या बड़जात्या नामक गोत्र का ही नामांतर है।

आपके गुरु का नाम बंशीधर था[1]। इन्हीं से पंडितजी ने प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की थी। आप अपनी क्षयोपशम की विशेषता के कारण पदार्थ के अर्थ का शीघ्र ही अवधारण कर लेते थे। फलत: कुशाग्र बुद्धि होने से थोड़े ही समय में जैन सिद्धान्त के सिवाय व्याकरण काव्य छन्द अलंकार, कोष आदि विविध विषयों में दखता प्राप्त कर ली थी।

यहाँ यह बात भी खासतौर से ध्यान में रखने लायक है कि पंडितजी के पूर्वज बीस पंथ आम्नाय के माननेवाले थे। परंतु पंडितजी ने वस्तु स्वरूप और भट्टारकीय प्रवृत्तियों का अवलोकन कर तेरह पंथ का अनुसरण किया और उनकी धार्मिक शिथिलता को दूर करने का भी प्रयत्न किया, परंतु जब उनमें सुधार होता न देखा, किंतु विकृत परिणमन एवं कषाय की तीव्रता देखी, तब अपने परिणामों को समकर तेरापंथ की शुद्ध प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते हुए जनता में स्वाध्याय और सच्ची धार्मिक भावना बढ़ाने का प्रयत्न किया। परिणाम स्वरूप अनेक सज्जन और स्त्रियाँ आध्यात्मिक चर्चा के साथ गोम्मटसारादि ग्रंथों के जानकार बन गए। यह सब उनके और रायमल्लजी के प्रयत्न का ही फल था।

आपके दो पुत्र थे, जिनमें एक का नाम हरीचंद और दूसरे का नाम गुमानीराम था। हरीचंद की अपेक्षा गुमानीराम का क्षयोपशम विशेष था और वह अपने पिता के समान ही प्रतिभा-संपन्न विद्वान था। पंडित देवदास ने पंडित गुमानीराम से वस्तुतत्त्व का स्वरूप सुनकर ज्ञान प्राप्त किया था, वे एक अच्छे वक्ता थे।[2]

गुमानीराम ने पिता के स्वर्गगमन के दश बारह वर्ष बाद लगभग सं. 1837 में 'गुमान पंथ की स्थापना की[3]।' गुमान पंथ की स्थापना का उद्देश्य धार्मिक शिथिलता को दूर करना था।

---

1. यह पंडित बंशीधर वही जान पड़ते हैं जिनका उल्लेख ब्रह्मचारी रायमल्लजी ने अपनी जीवन पत्रिका में बीस वर्ष की अवस्था के लगभग किया है, जब वे उदयपुर में पंडित दौलतरामजी के पास जयपुर पंडित टोडरमलजी से मिलने आए थे और वे वहां नहीं मिले थे, पंडित बंशीधरजी मिले थे, यथा - ''पीछे केताइक रहि पंडित टोडरमल जयपुर के साहूकार का पुत्र ताकै विशेष ज्ञान जानि वासूं मिलने के अर्थि जयपुर नगरी आए। सो यहां एक बंशीधर किंचित् संयम का धारक विशेष व्याकरणादि जैन धर्म के शास्त्रों का पाठी सौ पचास लड़का पुरुष बायां जा नखैं व्याकरण, छंद, अलंकार, काव्य चर्चा पढै, तासूं मिले।'' (वीरवाणी, वर्ष 1, अंक 2) इनके द्वारा हुई द्रव्य संग्रह की एक टीका पाई जाती है। देखो, जैन ग्रंथ सूची, भाग 3, पृष्ठ 18 ।
2. तथा तिनके पीछै टोडरमलजी के बड़े पुत्र हरिश्चंद्रजी तिनतैं छोटे गुमानीरामजी महा बुद्धिवान् वक्ता के लक्षण कूं धारै तिनके पासि कितने रहस्य सुनिकर कुद जानपना भया। (सिद्धांतासार टीका प्रशस्ति।)
3. 'श्वेताम्बर मुनि शान्ति विजयजी' अपनी 'मानव धर्म संहिता' (शान्त सुधानिधि) नामक पुस्तक के पृष्ठ 197 में लिखते हैं कि बीस पंथ में से फूटकर संवत 1726 में ये अलग हुए। जयपुर के तेरापंथियों में से पंडित टोडरमलजी के पुत्र गुमानीरामजी ने संवत् 1837 में गुमान पंथ निकाला।

क्षयोपशम की विशेषता और काव्यशक्ति

पंडित टोडरमलजी के क्षयोपशम की निर्मलता के संबंध में ब्रह्मचारी रायमलजी ने सं. 1821 की चिट्ठी में जो पंक्तियाँ लिखी हैं, वे खासतौर से ध्यान देनेयोग्य हैं, और वे इस प्रकार हैं –

''सारां हि विषै भाई जी टोडरमलजी के ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है जो गोम्मटसारादि ग्रंथों की संपूर्ण लाख श्लोक टीका बनाई। और पांच सात ग्रंथों की टीका का बनायवे का उपाय है। सो आयु की अधिकता भए बनेंगी। अर धवल महा धवलादि ग्रंथों के खोलवा का उपाय किया वा उहां दक्षिण देस सूं पांच सात और ग्रंथ ताड़पत्र विष कर्णाटि लिपि में लिख्या इहां पधारे हैं ताकूं मल्लजी वांचै। वाका यथार्थ व्याख्यान करै हैं वा कर्णाटि लिपि में लिखिले हैं। इत्यादि न्याय व्याकरण गणित, छंद अलंकार का याकै ज्ञान पाइये है ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ईं काल में होना दुर्लभ है तातैं वासूं मिले सर्व संदेह दूरि होय।''

इससे पंडितजी की प्रतिभा और विद्वत्ता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। कर्नाटकी लिपि में लिखना, अर्थ करना, उस भाषा के परिज्ञान बिना नहीं हो सकता। किंतु ऐसा हुआ वह उनके क्षयोपशम की ही प्रकर्षता है। आप केवल हिन्दी गद्य के ही लेखक नहीं थे, किंतु आपमें पद्य रचना करने की भी क्षमता थी। और हिन्दी भाषा के साथ संस्कृत भाषा में भी पद्य रचना अच्छी तरह से कर सकते थे। गोम्मटसार ग्रंथ की पूजा उन्होंने संस्कृत के पद्यों में ही लिखी है जो मुद्रित हो चुकी है और धर्मपुरा दिल्ली के नये मंदिर के शास्त्र भंडार में मौजूद है। इसके सिवाय संदृष्टि अधिकार का आदि अंत मंगल भी संस्कृत श्लोकों में दिया हुआ है और वह इस प्रकार है –

संदृष्टेर्लब्धिसारस्य क्षपणासारमोयुषः।
प्रकाशिनः पदे स्तौमि नेमिन्दोर्माधवप्रभोः।।

यह पद्य द्व्यर्थक है, प्रथम अर्थ में क्षपणासार के साथ लब्धिसार की संदृष्टि को प्रकाश करनेवाले माधवचंद्र के गुरु आचार्य नेमिचंद्र सैद्धांतिक के चरणों की स्तुति की गई है और दूसरे अर्थ में करणलब्धि के परिणाम स्वरूप कर्मों की क्षपणा को प्राप्त और समीचीन दृष्टि के प्रकाशक नारायण के गुरु नेमिनाथ भगवान के चरणों की स्तुति का उपक्रम किया गया है।

इसी तरह अंतिम पद्य भी तीनों अर्थों को लिये हुए है, और उसमें शुद्धात्मा (अरहंत) अनेकांत वाणी और उत्तम साधुओं की संदृष्टि की निर्विघ्न रचना के लिये नमस्कार किया गया है। यह पद्य इस प्रकार है –

शुद्धात्मानमनेकान्तं सानुमुत्तममंगलम्।
वंदे संदृष्टिसिद्ध्यर्थं संदृष्ट्यर्थप्रकाशकम्।।

हिन्दी भाषा के पद्यों में भी आपकी कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। पाठकों की जानकारी के लिये गोम्मटसार के मंगलाचरण का एक पद्य नीचे दिया जाता है जो चित्रालंकार के रहस्य को अच्छी तरह से व्यक्त करता है। उस पद्य के प्रत्येक पद पर विशेष ध्यान देने से चित्रालंकार के साथ यमक, अनुप्रास और रूपक आदि अलंकारों के निर्देश भी निहित प्रतीत होते हैं। यह पद्य इस प्रकार है–

मैं नमो नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन।
मैन मान बिन दान घन, एन हीन तन छीन।।

इस पद्य में बतलाया गया है कि मैं ज्ञान और ध्यान रूपी धन में लीन रहनेवाले, काम और पाप से रहित मेघ के समान धर्मोपदेश की वृष्टि करनेवाले, पाप रहित और क्षीण शरीरवाले उन नग्न जैन साधुओं को नमस्कार करता हूँ। यह पद्य गोमूत्रिका बंध का उदाहरण है। इसमें ऊपर से नीचे की ओर क्रमश: एक–एक अक्षर छोड़ने से पद्य की ऊपर की लाइन बन जाती है। और इसी तरह नीचे से ऊपर की ओर एक–एक अक्षर छोड़ने से नीचे की लाइन भी बन जाती है। पर इस तरह से चित्र बन्धन कविता दुरूह होने के कारण पाठकों की उसमें शीघ्र गति नहीं होती, किंतु खूब सोचने विचारने के बाद उन्हें कविता के रहस्य का पता चल जाता है।

पंडित टोडरमलजी का शास्त्र–प्रवचन जयपुर के तेरापंथी मंदिर में होता या, उनके प्रवचन में उस समय जयपुर के विशिष्ट स्त्री–पुरुष उपस्थित होते थे। उनके प्रवचन की विशेषता के कारण सभी श्रोता जन संतुष्ट और पुलकित होते थे। यद्यपि उनका घर भी प्राय: तत्त्वचर्चा का केंद्र सा बना हुआ था। उनके प्रवचन में बाहर के भी अनेक मुमुक्षु जन आते रहते थे और पंडितजी के प्रेममय मधुर व्यवहार से सभी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। जयपुर के सभी प्रतिष्ठित, चतुर एवं विशिष्ट श्रोता जन आते थे। उनमें दीवान रतनचंदजी[1], अजबरायजी, त्रिलोकचंदजी पाटनी, महारामजी ओसवाल[2], त्रिलोकचंदजी सौगानी, मोतीरामजी पाटनी, हरिचंदजी, चोखंदजी, श्रीचंदजी सोगानी, नेमचंदजी पाटनी और ब्रह्मचारी रायमल्लजी का नाम खासतौर से उल्लेखनीय है। वसवानिवासी पंडित देवीदास गोधा को भी टोडरमलजी और गुमानीराम के पास तत्त्वचर्चा करने का अवसर मिला था।[3]

---

1. दीवान रतनचंदजी और बालचंदजी उस समय जयपुर के साधर्मियों में प्रमुख थे। बड़े ही धर्मात्मा एवं उदार सज्जन थे। रतनचंदजी के लघुभ्राता वधीचंदजी दीवान थे। दीवान रतनचंद वि.सं. 1821 से पहले ही राजा माधवसिंहजी के समक्ष दीवान पद पर आसीन हुए थे। और सं. 1829 में जयपुर के राजा पृथ्वीसिंह के समय में थे और उनके कुछ समय बाद भी रहे हैं। रतनचंदजी दीवार की प्रेरणा से पंडित दौलतराम ने वि.सं. 1827 में पंडित टोडरमलजी की पुरुषार्थसिद्धियुपाय की अधूरी टीका पूर्ण की थी। देखो, पु.सि. प्रश.
2. महारामजी ओसवाल जाति के उदासीन श्रावक थे और बड़े ही बुद्धिमान थे। वे पंडित टोडरमलजी के साथ तत्त्वचर्चा करने में विशेष रस लेते थे।
3. सो दिल्ली सूं पढ़कर वसुवा आय पाछैं जयपुर में थोड़े दिन टोडरमलजी महाबुद्धिमान के पासि सुनने का निमित्त मिल्या, वसुवा गये। सिद्धांतसार टीका प्रशस्ति

सांप्रदायिक उपद्रव

जयपुर जैसे प्रसिद्ध नगर में जैनियों के बढ़ते हुए प्रभुत्व एवं वैभव को कुछ संप्रदाय व्यामोहीजन असहिष्णता की दृष्टि से देखते थे, और उससे ईर्षा तथा द्वेष रखते हुए उसे नीचा दिखाने तथा प्रभुव को कम करने की चिंता में संलग्न रहते थे। अनेक गुप्त योजनाओं द्वारा उसे विनष्ट करने का उपाय सोचते थे। उस असहिष्णुता का कारण पंडित टोडरमलजी से शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करना संभव नहीं था; क्योंकि उनकी युक्ति पूर्ण विवेचन शैली का सब पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता था। दूसरे, राग्य में जैनी उस समय धन वैभव और प्रतिष्ठादि में बढ़े हुए थे। राज्य में उनक सेवाओं का मूल्य आंका जाता था। इन्हीं सब कारणा से उनकी असहिष्णुता अपनी सीमा को उल्लंघन कर चुकी थी।

संवत् 1817 में श्याम नाम का एक तिवारी ब्राह्मण तत्कालीन राजा माधवसिंहजी प्रथम पर अपना प्रभाव प्रदर्शित कर किसी तरह राजगुरु के पद पर आसीन हो गया और उसने अपनी बाचालता से राजा को अपने वश में कर लिया, तथा अवसर देख सहसा ऐसी अंधेरगर्दी मचाई जिसकी स्वप्न में भी कभी कल्पना नहीं की जा सकती थे। राज्य में पाए जानेवाले लाखों रुपये की लागत के विशाल अनेक जिन मंदिरों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया और उनमें शिवमूर्ति रख दी गई, और जिनमूर्तियों को खंडित कर यत्र तत्र फिकवा दिया गया। यह उपद्रव रायमल्लजी के उल्लेखानुसार डेढ़ वर्ष तक रहा। राजा को जब श्याम तिवारी की अंधेरगर्दी का पता चला, तब उन्होंने उसका गुरुपद छीन लिया और उसे देश निकाला दे दिया। उस अपने अधम कृत्य का फल कुछ समय बाद ही पा लिया[1]।

चुनाचे संवत् 1819 में मंगसिर वदी दोइज के दिन जयपुर राज्य के 33 परगनों के नाम एक आम हुक्म जारी किया गया जिसमें जैन धर्म को प्राचीन और ज्यों का त्यों स्थापित करने की आज्ञा दी गई। और तेरापंथ बीसपंथ के मंदिर बनवाने, उनकी पूजा में किसी प्रकार की रोक-टोक न करने का

---

1. संवत् अट्ठारह सै जब गए, ऊपर जबै अट्ठारह भए।
   तब इक भयो तिवारी श्याम, डिंभी अति पाखंड को धाम।
   तुच्छ अधिक द्विज सबतैं घाटि, दौरत हो साहनि की हारि।
   कर प्रयोग राजा वसि कियो, माधवेश नृप गुरु पद दियो।
   दिन कितेक बीते हैं जबै, महा उपद्रव कीन्हों तबै।
   हुकम भूप को ले कै वाह, निशि गिराय देवल दिय ढाह।
   अमल राज को जैनी जहां, नाव न ले जिनमत को तहां।
   कोऊ आधो कोऊ सारो, बच्यो जहां छत्री रखबारो।
   काहू मैं शिव मूरति रख दी, ऐसी मची श्याम की गरदी।
   अकस्मात् कोप्पोनृपभारो, दियो दुपहरां देश निकारो।
   दुपटा धौति धरैं द्विज निकस्यो, तियजुत पायन लखि जग विगस्यो।

आदेश दिया गया और उनकी जायदाद वगैरह लूटपाट कर ले ली गई थी, उसे पुन: वापिस दिलाने की भी आज्ञा दी गई। वह हुक्मनामा इस प्रकार है :-

''सनाद करार मिति मंगसर वदी 2 सं. 1819 अप्रंच हद सहकारी में सरावगी वगैरह जैन धर्म साधवा वाला सूं धर्म में चालवा को तकरार छो, सो याको प्राचीन जान ज्यों का त्यों स्थापन करवो फरमायो छै सो माफिक हुक्म श्री हजूर कैं लिखा छै-बीसपंथ तेरापंथ परगना में देहरा बनाओ व देव गुर शास्त्र आगैं पूजैं छा जी भांति पूजो-धर्म में कोई तरह की अटकाव न राखे - अर माल मालियत वगैरह देवरा को जो ले गया होय सो ताकीद कर दिवाय दीज्यो - केसर वगैरह को आगे जहां से पावे छा तिठासूं भी दिवावो कीज्यो। मिति सदर-'' (वीरवाणी, वर्ष 3, अंक 19 से 21)

उसके बाद जयपुर आदि स्थानों में जिन मंदिर मूर्ति-निर्माण और प्रतिष्ठादि कार्य संपन्न हुए, और पुन: जिन धर्म का उद्योत हुआ।

इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव

संवत 1821 में जयपुर में बड़ी धूमधाम से इंद्रध्वज पूजा महोत्सव संपन्न हुआ था। उस उत्सव की वार्ता बाल ब्रह्मचारी रायमलजी की लिखी हुई पत्रिका से ज्ञात होती है कि उसमें चौंसठ गज के लंबे-चौड़े विशाल चबूतरे पर एक डेरा लगाया था। उसके चारों ओर चार दरवाजे बनाए गए थे। उसकी सब रचना त्रिलोकसार के अनुसार बनाई गई थी। और इंद्रध्वज पूजा का विधान संस्कृत भाषा पाठ के अनुसार किया गया था। उस चिट्ठी में अनेक ऐतिहासिक बातों का उल्लेख किया गया है। और वह चिट्ठी, दिल्ली, आगरा, भिंड, कोरडा, जिहानाबाद, सिरोंज, वासौदा, इंदौर, औरंगाबाद, उदयपुर, नागौर, बीकानेर, जैसलमेर, मुलतान आदि भारत के विभिन्न स्थानों में भेजी गई थी। उस कार्य में राज्य की ओर से सब प्रकार की सुविधा और सहयोग प्राप्त हुआ। उसमें पंडित टोडरमलजी का प्रवचन होता था। हजारों व्यक्तियों ने उनके प्रवचन को सुनकर धर्म लाभ उठाया था।

रचनाएँ और रचनाकाल

पंडित टोडरमलजी की कुल दस कृतियाँ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं - (1) रहस्यपूर्ण चिट्ठी (2) गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका (3) गोम्मटसार कर्मकाण्ड टीका (4) लब्धिसार क्षपणासार टीका

सो. - किये पाप के काम, खोसिलियो गुरु पद नृपति।
यथा नाम गुण श्याम, जीवत ही पायो कुगति।। बुद्धि विलास।
अकस्मात् कोप्यो नृपभारो, दियो दुपहरां देश निकारो।
दुपटा धोती धरै द्विज निकस्यो, तिय जुत पाय न लखि जग विगस्यो।।
सो. - किये पाप के काम, खोसि लियो गुरु पद नृपति।
यथा नाम गुण श्याम, जीवत ही पायी कुगति। बुद्धि विलास।

(5) त्रिलोकसार टीका (6) अर्थ संदृष्टि अधिकार (7) गोम्मटसार पूजा (8) आत्मानुशासन टीका (9) मोक्षमार्ग प्रकाशक, (10) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका।

इनकी प्रथम कृति रहस्यपूर्ण चिट्ठी है, जो वि. सं. 1811 की फाल्गुन बदि पंचमी को मुलतान के अध्यात्मरस के रोचक खानचंदजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथजी आदि साधर्मी भाइयों को उनके प्रश्नों के उत्तररूप में लिखी गई थी। यह चिट्ठी अध्यात्मरस के अनुभव से ओत-प्रोत है। इसमें आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर बहुत ही सरल एवं स्पष्ट शब्दों में विनय के साथ दिया गया है। चिट्ठीगत शिष्टाचार सूचक निम्न वाक्य तो पंडितजी की आंतरिक भद्रता तथा वात्सल्य का द्योतक है - 'तुम्हारे चिदानंद घन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए।'

गोम्मटसारादि की सम्यग्ज्ञानचंद्रिका टीका

गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार इन मूल ग्रंथों के रचयिता आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती हैं जो वीरनंदि, इंद्रनंदि के वत्स तथा अभयनंदि के शिष्य थे, जिनका समय विक्रम 11 वीं शताब्दी है।

गोम्मटसार ग्रंथ पर अनेक टीकाएं रची गई हैं, किंतु वर्तमान में उपलब्ध टीकाओं में मंद प्रबोधिका सबसे प्राचीन टीका मानी जाती है किंतु इससे पूर्व रची गई अनेक टीकाएं थी, गिरिकीर्ति की पंजिका, और प्राकृत टीका के अस्तित्व की सूचना मिलती है। हाँ, उपलब्ध केशव वर्णी की कनडी टीका, और नेमचंद की टीका से तो पुरातन है ही। अभयचंद्र[1] कृत मन्द प्रबोधिका टीका के आधार पर ही टोडरमल्लजी ने 'सम्यग्ज्ञान चंद्रिका' टीका बनाई है। और उक्त चारों ग्रंथ चूंकि एक ही कर्त्ता के थे

1. अभयचंद्र की टीका अपूर्ण है, और जीवकाण्ड की 383 गाथा तक ही पाई जाती है, इसमें 83 नं. की गाथा की टीका करते हुए एक गोम्मटसार पंजिका टीका का उल्लेख निम्न शब्दों में किया गया है 'अथवा सम्मूर्छन-गर्भोपात्तान्नाश्रित्य जन्म भवतीति गोम्मटसार-पंजिकाकारादीनामभिप्राय:। उक्त पंजिका टीका की एक प्रति वीर सेवा मंदिर को प्राप्त है जिसकी फिल्म भी करा ली गई है। यह प्रति सं. 1560 की लिखी हुई है। और गोम्मटसार की रचना से एक सौ सोलह वर्ष बाद शक संवत् 1016 (वि.सं.) 1151 में कार्तिक मास में समाप्त हुई है जैसा कि इसके निम्न प्रशस्ति से स्पष्ट है -

सोलस सहिय सहस्से गयसगकाले पवड्ढमाणस्स।
भावसमस्स समत्ता कत्तियणंदीसरे एसा।।

इस पंजिका के कर्ता टीका के कर्ता चंद्रकीर्ति के शिष्य गिरीकीर्ति हैं। इससे स्पष्ट है कि यह पंजिका मंद प्रबोधिका से बहुत पहले बनी है। मुख्तार सा. को अजमेर का भंडार देखते समय गोम्मटसार के दोनों भागों पर प्राकृत की दो अपूर्व टीकाएं उपलब्ध हुई थीं, जो अजमेर के हर्षकीर्ति शास्त्र भंडार में मौजूद हैं। ये टीकाएँ पंजिका से पुरातन जान पड़ती हैं। उनके अन्वेषण का प्रयत्न होना चाहिए। तब उनके समय का टीका बोध हो सकेगा।'

अतएव उन्होंने उन सबकी टीका का नाम सम्यग्ज्ञान चंद्रिका रखा है। रायमल्लजी की पत्रिकानुसार इन टीकाओं का प्रमाण पैंसठ हजार के लगभग है, जिसके बनने में तीन वर्ष का समय लगा है और उतना ही समय उनके संशोधनादि में। इसी से यह टीका संवत/ 1818 में माघ शुक्ला पंचमी के दिन पूर्ण हुई है। जैसा कि टीका प्रशस्ति के निम्न पद्य से स्पष्ट है।

सम्वत्सर अष्टादशयुक्त, अष्टादश शत लौकिक युक्त।
माघ शुकल पंचमि दिन होत, भयो ग्रन्थ पूरन उद्योत।।

इस टीका के अंत में 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' भी साथ में दिया हुआ है जिसमें उक्त ग्रंथ में आनेवाली अंक संदृष्टियों और उनकी संज्ञाओं तथा अलौकिक गणित के कारण सूत्रों का विवेचन किया गया है। यह संदृष्टि अधिकार से भिन्न है जिसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड की संस्कृत टीका गत अलौकिक गणित के उदाहरणों, करणसूत्रों, संख्यात, असंख्यात और अनंत की संज्ञाओं और अंक संदृष्टियों का विवेचन स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में किया गया है और जो 'अर्थ-संदृष्टि' इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि टीका ग्रंथों के आदि में पाई जानेवाली पीठिका में ग्रंथगत संज्ञाओं एवं विशेषताओं का दिग्दर्शन करा दिया है, जिससे पाठकजन उस ग्रंथ के विषय से परिचित हो सकें; फिर भी उनका स्पष्टीकरण करने के लिये उक्त अधिकारों की रचना की है। इसका पर्यालोचन करने संदृष्टि विषयक सभी बातों का बोध हो जाता है। हिन्दी भाषा के अभ्यासी स्वाध्याय प्रेमीजन उससे बराबर लाभ उठाते रहे हैं। आपकी इन टीकाओं से ही दिगम्बर समाज में कर्मसिद्धान्त के पठन-पाठन का प्रचार बढ़ा है। और इनके स्वाध्यायी सज्जन कर्म सिद्धांत से अच्छे परिचित देखे जाते हैं। इन सबका श्रेय पंडित टोडरमलजी को ही प्राप्त है।

त्रिलोकसार की टीका यद्यपि सं. 1821 से पूर्व बन चुकी थी, परंतु उसका संशोधनादि कार्य बाद को हुआ है और पीठबंध वगैरह बाद को लिखे गये हैं। मल्लजी ने इसका नाम अलग नहीं दिया, अत: उसे सम्यग्ज्ञान चंद्रिका के अंतर्गत ही समझा जाये।

गोम्मटसार पूजा-संस्कृत भाषा की पद्यबद्ध रचना है जिसमें गोम्मटसार के गुणों की महत्ता व्यक्त करते हुए उसके प्रति अपनी भक्ति एवं श्रद्धा व्यक्त की गई है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक

उनकी मौलिक कृति यद्यपि अधूरी है, वे इसे जैसा बनाना चाहते थे वैसा नहीं बना सके। फिर भी वह जितनी बनी है अपनी महत्ता से अलंकृत है। चार अनुयोगों का कथन, प्रयोजन, उनकी सापेक्ष विवेचन शैली का जो स्पष्टीकरण किया है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। अतएव यह ग्रंथ सभी स्त्री-पुरुषों के अध्ययन, मनन एवं चिंतन करने की वस्तु है। जिसके अध्ययन से अनुयोग पद्धति में विरुद्ध जंचनेवाली कथन शैली के विरोध का निरसन सहज ही हो जाता है और बुद्धि उनके विषय

विवेचन और दृष्टि भेद को शीघ्र ही ग्रहण कर लेती है। साथ ही जैन मिथ्यादृष्टि का विवेचन अपनी खास महत्ता का द्योतक है, उससे जहां निश्चय व्यवहाररूप नयों की कथन शैली, दृष्टि सापेक्ष निरपेक्षरूप नय विवक्षा के विवेचन के रहस्य का पता चलता है, वहां सर्वथा एकांत रूप मिथ्याभिनिवेश का कदाग्रह भी दूर हो जाता है और शुद्ध स्वरूप का अध्ययन एवं चिंतन करनेवाला जैन श्रावक उक्त प्रवचन का अध्ययन कर अपनी दृष्टि को सुधारने में समर्थ हो जाता है। इस ग्रंथ में मोक्ष के मार्ग का स्वरूप अथवा मोक्षोपयोगी जीवादि तत्त्वों का विवेचन सरल एवं सुबोध हिंदी भाषा में किया गया है। इसलिए ग्रंथ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाशक सार्थक जान पड़ता है।

इस ग्रंथ की भाषा ढुंढारी है। यद्यपि इस भाषा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, फिर भी वह ब्रज भाषा और राजस्थानी के प्रभाव से सर्वथा अछूती भी नहीं कही जा सकती। ग्रंथ में नौ अधिकार हैं जिनमें अंतिम अधिकार अपूर्ण है। और शेष आठ अधिकार अपने विषय में परिपूर्ण हैं। इसमें शंका-समाधान पूर्वक जो वस्तु चर्चित की गई है, वह विद्वानों के मनन करनेयोग्य है।

आत्मानुशासन टीका

पूज्यपाद श्री गुणभद्राचार्य प्रणीत आत्मानुशासन की भाषा वचनिका पंडित टोडरमलजी ने की है - जो बहुत ही सुंदर है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका

यह उनकी अंतिम कृति जान पड़ती है, इसी से वह अपूर्ण रह गई है। यदि वे आयुवश जीवित रहते तो अवश्य पूरी करते। बाद को यह टीका श्री रतनचंदजी दीवान की प्रेरणा से पंडित दौलतरामजी कासलीवाल ने सं. 1827 में राजा पृथ्वीसिंह के राज्यकाल में पूरी की है।

इस विवेचन पर से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पंडितजी का जीवन पठन-पाठन के साहित्य रचना में कितना व्यस्त रहता था, उनकी यह साहित्य-सेवा उनके जीवन का अमर स्मारक है। वे सांप्रदायिक उपद्रव में शहीद हुए हैं, इसमें तनिक संदेह नहीं है। मैं इस अमर शहीद विद्वान् के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। ●●

आपको सुखदायक उपकारी होय ताकों इष्ट कहिए। आपका दु:खदायक अनुपकारी होय ताकों अनिष्ट कहिए। सो लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव ही के कर्ता हैं। कोऊ काहू कों सुख दु:खदायक उपकारी अनुपकारी है नाहीं। यह जीव अपने परिणामनिविषें तिनकौ सुखदायक उपकारी मानि इष्ट जानै अथवा दु:खदायक अनुपकारी जानि अनिष्ट मानै है। सो ऐसा मानना ही मिथ्या दृष्टिपना है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

प्रमुख शौरसेनी जैनागमों एवं अनुवर्ति आगमग्रंथों के सर्वप्रथम हिन्दी टीकाकार

प्रो. डॉ. राजाराम जैन, एम.ए., पी-एच.डी.,
शास्त्राचार्य

(गोम्मटसारादि की टीकाओं में उन्होंने जो घोर परिश्रम किया है, वह तो वही समझ सकता है, जिसने उस प्रकार का कार्य किया हो। स्वतंत्र ग्रंथ लिखना आसान है, किंतु अनवाद, भाष्य या टीकादि लिखना सहज नहीं। सच्चा भाष्य वही है, जिसमें मूलग्रंथ के अंतरंग भाव की यथावत् सुरक्षा बनी रहे। यह तभी संभव है, जब ग्रंथ एवं ग्रंथकार की अंतर्भावभूमि का मर्म भलीभांति जान लिया जाये। इनके लिये गंभीर साधना, विशाल प्रतिभा एवं सूक्ष्मदृष्टि की आत्यावश्यकता है। पंडितजी साहित्य-साधना के मार्ग को अच्छी तरह समझते थे।)

पंडितप्रवर टोडरमलजी 18-19 वीं सदी की महान् विभूति एवं प्रमुख शौरसेनी जैनागमों के सर्वप्रथम हिन्दी टीकाकार थे। उन्होंने जैन सिद्धांतो एवं जैनदर्शन के दुरूह रहस्यों का जनभाषा में उद्घाटन कर जिनवाणी की महान् सेवाएं की हैं। शौरसेनी जैनागमों में सूत्रशैली में वर्णित करणानुयोग, द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग के विषय अत्यंत जटिल एवं नीरस समझे जाते रहे हैं। अत: समय-समय पर इनके ऊपर प्राकृत संस्कृत टीकाएं भी लिखी जाती रही हैं। वे तत्कालीन दृष्टिकोण से भले ही सुबोध रही हों, किंतु परवर्ती कालों में भाषापरिवर्तन के अनिवार्य नियमों के कारण पुन: दुर्बोध सिद्ध होने लगीं। इस कारण आगमों का अध्ययन एवं स्वाध्याय सीमित होने लगा। पंडित टोडरमलजी प्रथम विद्वान् थे, जिन्होंने युग की आवश्यकता को समझा और अपने सभी प्रकार के ऐहिक सुख भोगों को जिनवाणी माता की पुण्यवेदी पर समर्पित कर उक्त आगम एवं कुछ प्रमुख अनुवर्ति आगमग्रंथों को लोक प्रचलित भाषा में प्रस्तुत किया और इस प्रकार स्वाध्याय की परंपरा को लुप्त होने से बचा लिया।

अनन्य जनभाषा सेवक एवं हिन्दी गद्य के प्रथम निर्माता :-

टोडरमलजी परम निष्ठावान्, सात्विक चरित्र, निरभिमानी, लोकोत्तर प्रतिभा के धनी एवं मनस्वी व्यक्ति थे। उनकी जिह्वा पर सरस्वती का साक्षात् निवास था। राष्ट्र भाषा हिन्दी के वे परम पुजारी थे। प्राचीन भारतीय भाषाएं उनके लिये प्रेरणा की अजस्र स्रोत थीं अवश्य, किंतु युग के साथ चलना वे आत्म एवं परहित की दृष्टि से श्रेयस्कर समझते थे। अत: जनभाषा को वे कभी न भूले। प्राचीन ज्ञान विज्ञान की परंपरा को उन्होंने नतमस्तक होकर अवधारण किया तथा जनसामान्य को लाभान्वित कराने हेतु उन्होंने जनभाषा अथवा देशभाषा का सहारा लिया। यथा - ''....तिसकरि हमारै हू किंचित् सत्यार्थ पदनि का ज्ञान भया है। बहुरि इस निकृष्ट समय विषै हम सारिखे मंद बुद्धीनितैं भी हीन बुद्धि के धनी घने जन अवलोकिए हैं। तिनकौं तिनि पदनि का अर्थ ज्ञान होने के अर्थि धर्मानुराग के वशतैं देशभाषामय ग्रंथ करने की हमारे इच्छा भई, ताकरि हम यहु ग्रंथ बनावैं हैं। सो इस विषैं भी

अर्थ सहित तिनिहीं पदनि का प्रकाशन हो है। इतना तो विशेष है जैसे प्राकृत, संस्कृत शास्त्रनिविषैं प्राकृत संस्कृत पद लिखिए हैं तैसैं इहां अपभ्रंश लिए वा यथार्थपना को लिए देश भाषारूप पद लिखिए है, परंतु अर्थविषैं व्यभिचार किछू नाहीं है[1] .....। उनकी टीकाओं की भाषा ऐसे युग में प्रारंभ होती है, जब प्रारंभिक हिन्दी गद्य का नवोन्मेष हो रहा था। यद्यपि छिटपुट रूप में टोडरमलजी से कुछ ही समय पूर्व के हिन्दी गद्य के रूप मिल जाते हैं, किंतु उनसे गद्य ही उस समय विचारों के वाहन का मुख्य साधन था, यह नहीं कहा जा सकता। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने गद्य की समस्त विधाओं से युक्त प्राचीन से प्राचीन गद्य ग्रंथ 1800 ई. के बाद का ही उल्लिखित किया है[2]। इससे यह निश्चयपूर्वक माना जा सकता है कि हिन्दी गद्य के निर्माण एवं रूपस्थिरीकरण में टोडरमलजी का प्रमुख योगदान रहा है। उनकी टीकाओं के प्रवाहपूर्ण गद्यों में वही मनोरमता, सरसता एवं स्वाभाविकता है जो पर्वतीय निर्मल स्रोतों में। हिन्दी गद्य के इतिहास में उनका स्थान निस्संदेह अग्रगण्य है।

समर्थ व्याख्याकार एवं लेखक :-

पंडितप्रवर के समय मुद्रणालयों का आगमन भारत में नहीं हुआ था, उस समय तक प्राचीन आर्ष ग्रंथों का संकलन, अध्ययन, मनन, चिंतन एवं लेखन सभी सहज कार्य न थे। यातायात के साधन भी विकसित न थे। इन सभी कठिनाइयों के बावजूद भी पंडितजी ने अत्यंत अल्पायु प्राप्त होने पर भी जो कार्य किये उन्हें देखकर आश्चर्य में डूब जाना पड़ता है। उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार उन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों को द्रव्यानुयोग, करणानुयोग एवं चरणानुयोग के प्रमुख ग्रंथ (Key Books) मानकर उनकी हिन्दी टीकाएं लिखीं - गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार एवं क्षपणासार, त्रिलोकसार, आत्मानुशासन, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय एवं अर्थसंदृष्टि अधिकार। इनके अतिरिक्त उनकी तीन स्वतंत्र रचनाएं हैं - रहस्यपूर्ण चिट्ठी, मोक्षमार्ग प्रकाशक एवं गोम्मटसार पूजा।

गोम्मटसारादि की टीकाओं में उन्होंने जो घोर परिश्रम किया है, वह तो वही समझ सकता है, जिसने उस प्रकार का कार्य किया हो। स्वतंत्र ग्रंथ लिखना आसान है, किंतु अनुवाद, भाष्य या टीकादि लिखना सहज नहीं। सच्चा भाष्य वही है, जिसमें मूलग्रंथ के अंतरंग भाव की यथावत् सुरक्षा बनी रहे। यह तभी संभव है, जब ग्रंथ एवं ग्रंथकार की अंतर्भावभूमि का मर्म भलीभांति जान लिया जाये। इनके लिये गंभीर साधना, विशाल प्रतिभा एवं सूक्ष्मदृष्टि की अत्यावश्यकता है। पंडितजी साहित्य-साधना के मार्ग को अच्छी तरह समझते थे, इतिहास जानता है कि किस प्रकार उन्होंने जीवन भोगों को तिलांजलियां दे दीं। उनकी तन्मयता इसी से जानी जा सकती है कि उन्हें भोजन में लोने-अलोने का

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक (दिल्ली, 1950) पृष्ठ 17
2. पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य (दिल्ली, 1952), पृष्ठ 364-65।

भेदभाव न रहा था। टोडरमलजी के साधनापूर्ण जीवन को देखकर हमें 'भामती' के लेखक पंडित वाचस्पति मिश्र की पुण्य-स्मृति आ जाती है, जिन्होंने अपने साहित्य साधना के समय लगातार बारह वर्षों तक रात-दिन, जाड़ा-गर्मी-बरसात, भूख-प्यास एवं निद्रा-अनिद्रा का भेदभाव भुला दिया था। पंडितप्रवर ने भी ऐसी ही कठोर साधना के बाद गोम्मटसारादि की विशाल टीकाएं लिखी हैं। तब मर्मभेद करने में भला क्यों वे समर्थ न हों?

लोकोत्तर प्रतिभा के धनी : निरभिमानी व्यक्तित्व

पंडितजी का विद्याध्ययन ढाई वर्ष की आयु से प्रारंभ हुआ। उसी समय से अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं स्मरणशक्ति से उन्होंने अपने गुरुजनों को आश्चर्यचकित कर दिया। जैनेन्द्र महाव्याकरण का अध्ययन 10-11 वर्ष की आयु में कर लिया। और इसी समय मुलतान की जैन समाज के नाम उन्होंने 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' लिखी। 14 वर्ष की आयु में गोम्मटसार जैसे आगम ग्रंथ की वचनिका लिखी। आजकल 14 वर्ष की उम्र में बच्चों के ज्ञान से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें कैसी दिव्य प्रतिभा प्राप्त थी! क्रमश: उनका पांडित्य निखरता गया और यश भी गगन चूमने लगा। सोना देखकर चाहे सुन्नू हो या मुन्नू, सभी के मुख में पानी आ जाता है, फिर उसे राज सम्मान भी मिलने लगे तब क्या कहना, ऐसे लोग प्राय: अहंकारी बन जाते हैं, ओर चंद्रलोक से बातें करते हैं। लेकिन सच्चे तपस्वी एवं मूक साधक की स्थिति इसके विपरीत होती है। टोडरमलजी के ज्ञान की सार्थकता विनयगुण, शीलरूप, भद्र परिणाम एवं आत्मानुशासन से मानते थे। उन्होंने अपने पांडित्य एवं यशोवृद्धि के कारण कभी भी अभिमान नहीं किया। त्रिलोकसार जैसे करणानुयोग के कठिन ग्रंथ की सुंदर एवं सुबोध टीका लिखकर भी उन्होंने अपने को मन्दमति ही माना है। यथा - ''इस शास्त्र की संस्कृत टीका पूर्वै भई है, तथापि तहां संस्कृत गणितादिक का ज्ञान बिना प्रवेश होइ सकता नाहीं। तातैं स्तोक ज्ञान वालों के त्रिलोक के स्वरूप का ज्ञान होने के अर्थि तिस ही अर्थकों भाषाकरि लिखिए है। या विषैं मेरा कर्तव्य इतना ही है जो क्षयोपशम के अनुसारि तिस शास्त्र का अर्थकों जानि धर्मानुरागतैं औरनि के जानने के अर्थि जैसें कोई मुखतैं अक्षर उच्चारि करि देशभाषारूप व्याख्यान करै तैसैं मैं हस्ततैं अक्षरनि की स्थापना करि लिखोंगा। बहुरि छंदनि का जोड़ना नवीन युक्ति अलंकारादिक का प्रकट करना इत्यादि नवीन ग्रंथकारनि के कार्य हैं, तेता मोतैं बनै ही नांहीं। तातैं ग्रंथ का कर्तापना मेरे है नाहीं।''

साहित्यिक मर्यादाओं के प्रतिपालक :-

साहित्य के क्षेत्र में जिस नैतिक मर्यादा एवं साहित्यिक ईमानदारी की आवश्यकता है, वे श्रद्धालु मन से उसके प्रतिपालक थे। जो विषय उन्हें अधिक स्पष्ट नहीं होता था, अथवा जिस विषय पर वे अधिक प्रकाश नहीं डाल पाते थे, उस विषय में वे अपनी कमजोरी व्यक्त कर क्षमायाचना कर

लेते थे। उन्होंने त्रिलोकसार की भूमिका (पृष्ठ 3) में लिखा है :- ''इस श्रीमत् त्रिलोकसार नाम शास्त्र के सूत्र नेमिचंद्र नामा सिद्धांतचक्रवर्ती करि विरचित हैं तिनकी संस्कृत-टीका का अनुसार लेइ इस भाषा टीका विषैं अर्थ लिखोंगा। कहीं कोई अर्थ न भासैगा ताकों न लिखोंगा। कहीं समझने के अर्थि बधाय करि लिखोंगा। ऐसैं यहु टीका बनेगी ता विषैं जहां चूक जानों तहां बुधजन संवारि शुद्ध करियो। छद्मस्थ के ज्ञान सावर्ण हो है तातैं चूक भी परै। जैसे जाको थोरा सूझै अर वह कहीं विषम मार्ग विषैं स्खलित होइ तौ बहुत सूझने वाला वांकी हास्य न करै.... ऐसे विचारतैं इस टीका करने विषैं मेरे उत्साह ही वर्ते।''

निस्संदेह ही महाकवि बनारसीदासजी, जिन्होंने कि अपने हिन्दी के सर्व प्रथम जीवनचरित- 'अर्धकथानक' में अपनी अच्छी-बुरी सभी बातें विस्तारपूर्वक लिखकर अपनी साहित्यिक-ईमानदारी का परिचय दिया है और साहित्य-जगत का ध्यान आकर्षित किया है, इसी प्रकार पंडित टोडरमलजी भी उसी श्रेणी के प्रतिभा पुत्र हैं। इस दिशा में वे नवीन पीढ़ियों के लिये आदर्श हैं।

यशोगाथा दिग-दिगन्त में समा गई :-

समाज उन्हें किस प्रकार अपना शिरोमणी मानता था तथा उनकी साधना एवं उपदेशामृत के पान करने हेतु लालयित रहता था, उसके उल्लेख उनके समकालीन साधर्मी भाई रायमल्लजी ने किये हैं, उन्हें पढ़ने से तथा उनकी 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' की लोकप्रियता से विदित होता है कि उनके यश की सुरभि अतिशीघ्र ही जयपुर की परिधि लांघकर पंचनद के अंचल में मुलतान तक तथा वहाँ से मौसमी मानसूनों के साथ पूर्व, उत्तर तथा दक्षिण भारत तक पहुंच गई है। वह सुरभि आज भी दिगदिगन्त में व्याप्त है, किंतु सोनगढ़ उसका केंद्र बन रहा है। सौराष्ट्र ने निश्चयनयवाद के इस महान वक्ता की जो प्रतिष्ठा की है, वह उसके अनुरूप ही है। उसने अपने को सौभाग्य से सुशोभित किया है।

गोम्मटसार पूजा का रहस्य :-

गोम्मटसार की पूजा पंडितजी ने जिस तन्मयता के साथ लिखी वह भी एक रहस्य है। उक्त पूजा के माध्यम से आचार्यप्रवर ने गौतम गणधर एवं उनके परवर्ती आचार्य-परंपरा, समस्त द्वादशांगवाणी आदि की भाव विभोर होकर पूजा की है। जिस प्रकार ओम 'ॐ' के उच्चारण से पंच परमेष्ठी एवं सारे ज्ञान-विज्ञान का एक साथ स्मरण हो जाता है, पंडितजी की दृष्टि में गोम्मटसार के प्रति वही विराट कल्पना थी।

गौरव ग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाशक :-

मोक्षमार्गप्रकाशक पंडितजी का स्वतंत्र ग्रंथ होते हुए भी जैन वाङ्मय का सारभूत है। इन सबके बावजूद आचार-विचार में व्याप्त शिथिलता, ढोंग, पाखंड आदि की तीव्र आलोचना एवं जैन सिद्धांतों

तथा दर्शन पर व्यर्थ के लगाये गये लांछनों का समुचित उत्तर उसमें दिया गया है। यह ग्रंथ लिखते समय इनसे प्रश्न किया गया कि पूर्वाचार्यों के बड़े-बड़े ग्रंथ उपलब्ध हैं ही, फिर इस ग्रंथ के लिखने की क्या आवश्यकता है? उसके उत्तर में पंडितजी ने कहा है कि पूर्वाचार्यों के ग्रंथों को समझने के लिये प्रखर बुद्धि, एवं भाषा, व्याकरण, न्याय, छंद, अलंकार आदि का ज्ञान आवश्यक है। जो ऐसे हैं वे उन्हें पढ़ सकते हैं, किंतु जो अल्पबुद्धि हैं, उनका प्रवेश उन ग्रंथों में संभव नहीं। अत: उन्हीं मंदमति सामान्यजनों के हितार्थ यह ग्रंथ लिखा जा रहा है[1]। मोक्षमार्ग प्रकाशक में कुल नौ अधिकार हैं और उनके लिखने के लिये उन्हें श्वेतांबर एवं दिगंबर जैनागम, अनुआगम, वैदिक, बौद्ध, इस्लाम प्रभृति संप्रदाय के ग्रंथों का अध्ययन करना पड़ा था। प्राप्त संदर्भों के अनुसार उनकी वर्गीकृत सूची निम्न प्रकार है :-

मोक्षमार्गप्रकाशक में प्रयुक्त संदर्भ ग्रंथ :-

वैदिक धर्म ग्रंथ :

1. ऋग्वेद मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 208
2. यजुर्वेद '' 208, 209
3. छान्दोग्योपनिषद् '' 139
4. मुण्डकोपनिषद् '' 139
5. कठोपनिषद् '' 139
6. विष्णुपुराण '' 148, 163
7. वायुपुराण '' 148
8. मत्स्यपुराण '' 149
9. ब्रह्मपुराण '' 163
10. गणेशपुराण '' 205
11. प्रभासपुराण '' 206
12. नगरपुराण (भवावतार रहस्य) 207
13. काशीखण्ड '' 206
14. मनुस्मृति '' 208
15. महाभारत '' 210
16. हनुमन्नाटक '' 204
17. दशावतार चरित्र '' 206
18. व्याससूत्र '' 205
19. भागवत '' 163, 164
20. गीता '' 150, 181, 369
21. अवतारवाद '' 162
22. योगशास्त्र '' 167
23. योगवशिष्ठ '' 203
24. वैराग्यशतक '' 201
25. नीतिशतक '' 282
26. दक्षिणमूर्ति सहस्रनाम '' 203
27. वैशम्पायन सहस्रनाम '' 204
28. महिम्नस्तोत्र (दुर्वासा कृत) '' 204
29. रुद्रयामलतंत्र '' 205

भारतीय दर्शन ग्रंथ :

30. वेदांत '' 181
31. सांख्यकारिका '' 182
32. न्यायदर्शन '' 185
33. वैशेषिक '' 188
34. मीमांसा '' 192
35. जैमिनीय '' 193
36. चार्वाक '' 196

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 29-30

इस्लाम :

37. कुरानशरीफ '' 180

बौद्ध ग्रंथ :

38. अभिनवधर्मकोष '' 193, 194
39. वि. वि.?? ''

श्वेतांबर जैन ग्रंथ :

40. आचारांग सूत्र '' 212
41. भगवती सूत्र '' 237
42. उत्तराध्ययन सूत्र '' 223
43. जीवाजीवाभिगम '' 288
44. बृहत्कल्प सूत्र '' 223
45. उपदेश सिद्धांत रत्नमाला '' 260, 264, 314, 441
46. संघपट्ट '' 265
47. ढूंढारी पंथ '' 232

दिगंबर जैन ग्रंथ :

48. षट्पाहुड '' 262, 266-68
49. पंचास्तिकाय '' 326
50. प्रवचनसार '' 33, 272, 344
51. रयणसार '' 277
52. धवल '' 387
53. जयधवल '' 388
54. परमात्म प्रकाश '' 269
55. श्रावकाचार (योगीन्द्रदेव कृत)'' 350
56. गोम्मटसार '' 319, 387
57. लब्धिसार '' 385
58. क्षपणासार ''
59. रत्नकरण्ड श्रावकाचार '' 394
60. बृहत्स्वयम्भू '' 280
61. ज्ञानार्णव '' 439
62. धर्म परीक्षा '' 399
63. सूक्तिमुक्तावली '' 413
64. आत्मानुशासन '' 24, 81, 269
65. तत्त्वार्थ सूत्र '' 310, 329, 338
66. समयसार कलश '' 286-287
67. नाटक समयसार '' 305
68. पद्मनन्दि पच्चीसी '' 295
69. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय '' 372
70. आयुर्वेद के ग्रंथ '' 412, 413, 439, 443
71. पाहुड दोहा '' 24, 25

मोक्षमार्ग प्रकाशक वस्तुत: अमृतघट है, उसका एक-एक विषय सरस एवं मधुर है। जिस प्रकार 'रामचरितमानस' में सुखी-दुखी, गरीब-धनवान, भाई-बहिन, पति-पत्नी, माता-पिता, शत्रु-मित्र, रिश्तेदार, आदि सभी प्राणी अपनी-अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर प्रसन्नता से झूम उठते हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक भी सामान्य मुमुक्षुजनों के लिये उसी औपन्यासिक शैली में लिखा गया एक अनूठा ग्रंथ है। टोडरमलजी स्वयं ही ग्रंथ की विषय-गंभीरता एवं लोकप्रियता से परिचित थे फिर भी उन्होंने इसका नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाश' न रखकर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' रखा। व्याकरण के लघ्वर्थेक: के नियमानुसार उन्होंने 'प्रकाश' को 'प्रकाशक' कहकर यह सिद्ध किया है, कि द्वादशांग वाणी के सम्मुख यह रचना नगण्य है। इस कथन से उनकी निरभिमानता सूचित होती है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के आद्योपांत अध्ययन करने से निम्नलिखित तथ्य सम्मुख आते हैं :-

आवश्यक सुझाव :-

(1) मुद्रणालयों के प्रवचन के अभाव में भी इतने हस्तलिखित ग्रंथों को उपलब्ध कर उनका गहरा अध्ययन, मनन एवं चिंतन करना सामान्य प्रतिभावाले व्यक्ति के लिये संभव न था। असामान्य प्रतिभावाले पंडित टोडरमलजी के लिये ही वह संभव था जो अल्पआयुष्य में भी ऐसा महान कार्य कर सके।

(2) मोक्षमार्ग प्रकाशक के कुछ उद्धरणों का मिलान आधुनिक मुद्रित ग्रंथों के साथ करने से उनमें बहुत अंतर प्रतीत होता है। अत: मुद्रित एवं अमुद्रित दोनों ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन करने से उन ग्रंथों के पुन: नवीन प्रामाणिक संस्कार तैयार हो सकते हैं।

(3) जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने हेतु पंडितजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में वैदिक एवं हिन्दू शास्त्रों से जो उद्धरण दिये हैं, नवीन मुद्रित ग्रंथों में उनका अभाव अथवा परिवर्तन है। टोडरमलजी द्वारा प्रयुक्त वे सभी ग्रंथ जयपुर के शास्त्र भंडारों में अवश्य होंगे। हस्तलिखित प्राचीन ग्रंथ होने के कारण उनकी प्रामाणिकता में संदेह भी नहीं है। अत: उनका पुन: तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए। तथा प्राप्त तथ्यों का प्रकाशन होना चाहिए।

(4) पंडितजी द्वारा प्रयुक्त जैन ग्रंथों में जिनका प्रकाशन अभी तक न हुआ हो, उन्हें अत्यंत महत्वपूर्ण रचनाएं समझकर उनका प्रकाशन तत्काल होना चाहिए।

विचारधारा : निश्चय एवं व्यवहार

शौरसेनी जैनागमों में निश्चयनय एवं व्यवहारनय की चर्चाएं आती हैं। इन विषयों को लेकर विद्वानों में आजकल बड़ा शास्त्रार्थ चला करता है। कोई निश्चयनय को ही यथार्थ मानता है और कोई निश्चय एवं व्यवहार दोनों को ही उपादेय मानता है किंतु टोडरमलजी के अनुसार निश्चय व्यवहार दोनों को उपादेय मानना भ्रम है; क्योंकि दोनों नयों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है। व्यवहारनय सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता किंतु किसी अपेक्षा से उपचार से वह अन्यथा ही निरूपण करता है। मोक्षमार्ग प्रकाश में उन्होंने लिखा है[1] :- ''निश्चयनय करि जो निरूपण किया होय ताकौं तौ सत्यार्थ मानि ताका श्रद्धान अंगीकार करना, अर व्यवहारनय करि जो निरूपण किया होय, ताकौं असत्यार्थ मानि ताका श्रद्धान छोड़ना!'' आगे उन्होंने समयसार कलश एवं षट्पाहुड़ के उद्धरणों से अपने पक्ष का समर्थन भी किया है और उपसंहार वचनों में पुन: लिखा है[2] :- ''....तातैं व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़ि निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्य कौं वा तिनके भावनिकौं वा कारण कार्यादिककौं काहूकौं काहूविषैं मिलाय निरूपण करै है। सो ऐसै ही श्रद्धानतैं मिथ्यात्व है। तातैं याका त्याग करना।

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 368, 2. वही, पृष्ठ 369

बहुरि निश्चयनय तिनहीकौं यथावत् निरूपै है, काहूविषैं न मिलावै है। ऐसे ही श्रद्धानतैं सम्यक्त्व हो है। तातैं याका श्रद्धान करना।''

मूर्तिपूजा :-

पंडितजी मूर्तिपूजा को जैनाचार का एक आवश्यक अंग मानते थे। उनके अनुसार जिनमूर्ति सजीव अथवा शुद्धात्मा या परमात्मा की प्रतिच्छाया थी। अत: उन्होंने इसका वर्णन किया तथा भगवती सूत्र का अध्ययन कर उसमें प्राप्त 'चैत्य' शब्द के अर्थों में असंगति देखकर लिखा है - ''भगवती सूत्र विषैं ऋद्धिधारी मुनि का निरूपण है तहां मेरुगिरि आदि विषैं जाय 'तत्थ चेयायाइं दइ' ऐसा पाठ है। याका अर्थ यहु - तहां चैत्यनिकौं बंदौं है। सों चैत्य नाम प्रतिमा का प्रसिद्ध है। बहुरि वै हठकरि कहै है - चैत्य शब्द के ज्ञानादिक अनेक अर्थ निपजैं हैं, सो अन्य अर्थ हैं प्रतिमा का अर्थ नाहीं। याकौं पूछिये है - मेरुगिरि नन्दीश्वर द्वीप विषैं जाय तहां चैत्यबंदना करी, सो उहां ज्ञानादिक की वंदना तो सर्वत्र संभवै। जो वंदने योग्य चैत्य उहां ही संभवै, अर सर्वत्र न संभवै, ताकौं तहां वंदना करने का विशेष संभव, सो ऐसा संभवता अर्थ प्रतिमा ही है। अर चैत्य शब्द का मुख्य अर्थ प्रतिमा ही है, सों प्रसिद्ध है। इस ही अर्थकरि चैत्यालय नाम संभवै है। याकौं हठ करि काहे कों लोपिए।''

शिथिलाचार एवं गुरुडम का विरोध

पंडित टोडरमलजी पाखंड, ढोंग, आडंबर एवं गुरुडम के घोर विरोधी थे। शिथिलाचारी भट्टारकों ने अपने गुरुपद को सुरक्षित रखने के लिये मनमानी करना प्रारंभ कर दी और सिद्धांतागम ग्रंथों का पढ़ना बंद कर दिया था। जैन मंदिरों में स्वाध्याय कराने हेतु पेशेवर पंडितों की नियुक्तियाँ करा दीं तथा मंदिरों में सिंहासनों पर आसीन होने लगे। तात्पर्य यह कि जब भट्टारक स्वयं मठाधीश बन गये तब पंडितजी यह न देख सके। इनका विरोध करने के लिये उन्होंने कमर कस ली। यद्यपि उनके पूर्व महाकवि बनारसीदास, संत कबीर की तरह ही शिथिलाचारियों को डांट-फटकार कर झाड़ चुके थे किंतु उसका असर कम होने लगा था, अत: टोडरमलजी ने दुगुनी शक्ति से उनका विरोध किया। उनका यह विरोध जैनाचार के क्षेत्र में जबर्दस्त क्रांति थी। यदि उस समय पंडितजी क्रांति का स्वर न फूंकते तो आज सच्चे साधुओं के स्थान पर शिथिलाचारी एवं सरागी तथाकथित साधुओं की पूजा होती। मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखा है[1] :- ''....जहां मुनि कै धात्रीदूत आदि छयालीस दोष आहारादिविषैं कहे हैं, तहां गृहस्थिनि के बालकनिकौं प्रसन्न करना, समाचार कहना, मंत्र, औषधि-ज्योतिषादि कार्य बतावना इत्यादि बहुरि किया कराया अनुमोधा भोजन लैंना इत्यादि क्रिया का निषेध किया है, सो अब कालदोषतैं इनहीं दोषनिकौं लगाय आहारादि गहै है। ..... नाना परिग्रह राखै है। बहुरि गृहस्थधर्मविषैं

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 270-271

भी उचित नाहीं वा अन्यान्य लोकनिंद्य पापरूप कार्य तिनिकौं करते प्रत्यक्ष देखिये है। बहुरि जिनबिम्ब शास्त्रादिक सर्वोत्कृष्ट पूज्य तिनका तौ अविनय करै है। बहुरि आप तिनतैं भी महंतता राखि ऊंचा बैठना आदि प्रवृत्ति कौं धारै है। इत्यादि अनेक विपरीतिता प्रत्यक्ष भासै अर आपकौं मुनि मानैं, मूलगुणादिक के धारक कहावैं। ऐसे ही अपनी महिमा करावैं। बहुरि गृहस्थ भोले, उनकरि प्रशंसादिक करि ठिगे हुए धर्म का विचार करैं नाहीं? उनकी भक्ति विषैं तत्पर हो हैं। सो बड़े पापकौं बड़ा धर्म मानना, इस मिथ्यात्व का फल कैंसैं अनंत ससार न होय। एक जिनवचनकौं अन्यथा मानें महापापी होना शास्त्रविषैं कहा है। यहां तौ जिनवचन की किछू बात राखी ही नाहीं। इस समान और पाप कौन है?''

जैन गणित के व्याख्याता :-

जैन गणित स्वयं में परिपूर्ण एक वैज्ञानिक अंकविद्या है। करणानुयोग में भूगोल, खगोल के साथ-साथ अंक विद्या ही प्रमुख है। जैनाचार्यों ने इस क्षेत्र में अद्‌भुत कार्य किये हैं। उनका अन्त: परीक्षण कर देशी-विदेशी कई विद्वानों ने इसे ग्रीकपूर्व प्राचीन सिद्ध किया है। पंडित टोडरमलजी उस अलौकिक जैन एवं लौकिक गणित के धुरंधर विद्वान थे। उन्होंने जन सामान्य के हितार्थ कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर गुर (Formula) लिखे थे। उन्हें देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि हर विषय में उनकी कितनी गहरी पैठ थी तथा दूसरों को समझाने की कैसी अद्‌भुत क्षमता थी। त्रिलोकसार[1] की भूमिका में उन्होंने लिखा है :- ''....सर्व शास्त्रनिका ज्ञान होने को कारणभूत दोय विद्या हैं। एक अक्षरविद्या एक अंकविद्या। सो व्याकरणादि करि अक्षर ज्ञान भए अर गणित-शास्त्रनि करि अंकज्ञान भए, अन्य शास्त्रिनि का अभ्यास सुगम हो है।''

जैन गणित का वर्गीकरण करते हुए लिखा है - ''बहुरि परिकर्माष्टिक को सीखना सो संकलन, व्यवकलन, गुणकार, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल इनको परिकर्मोष्टक कहिए है।''

लम्बी संख्या का भाग करना प्राय: कठिन होता है, लेकिन पंडितजी ने उसे हल करने के लिये एक नया गुर (सिद्धांत) ही बना दिया और सोदाहरण उसका विश्लेषण कर दिया। यथा - ''भाज्य राशि के अंतादिक जेते अंकनिकरि भाजक राशितैं प्रमाण बधता होइ तितने अंकरूप राशिकों भाजक का भाग दीजिये। बहुरि जिस अंककरि भाजक कों गुणें जाकों भाग दीया था तामें घटाइ अवशेष तहां लिख दीजिये अर वह पाया अंक जुदा लिख दीजिये। बहुरि जेठैं भाज्य के अंक रहे तिनके अंतादि अंकनिकों तैसैं ही भाग देइ जो अंक आवै ताकों तिस पाया अंक के आगैं लिखिए। ऐसैं ही यावत्सर्व भाज्य के अंक नि:शेष होइ तावत विधान करै तहां पाए अंकनिकरि जो प्रमाण आवै सो तहां भाग दीए जो राशि भया ताका नाम लब्धराशि है ताकर प्रमाण जानना।'' इस सिद्धांत के स्पष्टीकरण के लिये उन्होंने एक

1. त्रिलोकसार, भूमिका, पृष्ठ 5

उदाहरण दिया है, जैसे 8192 में 64 का भाग देना है। आधुनिक रीति से तो 8192 ÷ 64 करने में जटिलता अधिक है। किंतु पंडितजी के सिद्धांत के अनुसार भाज्य 8192 में से उसकी आदि दो संख्या 81 में भाजक 64 घटा दिया, तब शेष रहा 1792। इस संख्या का आदि अंक 1 अलग लिख दीजिये। फिर 1792 की प्रथम तीन संख्याओं में अर्थात् 179 में भाजक 64 का भाग कर उक्त 1 के साथ (अर्थात् 12) लिख दीजिये। शेष 51 बचा। उसे फल (2) के साथ लिखकर पुन: भाजक का भाग दिया और पूर्वोक्त 12 के साथ फल मिला देने से 128 भजनफल हो गया। यथा –

प्राचीन पद्धति

```
                8192          1
                64
               1792
64  179|  2   |__        12
       |128  |
        51
64  512|  8   |__        128 उत्तर
       |512  |
        x
```

नवीन पद्धति

```
64) 8192 (128
    64
   179
   128
  x512
   512
    x
```

उत्तर 128 लब्धराशि

अपने कार्यों के माध्यम से वे अमर हैं।

'साहित्य सेवा घर फूंक के तमाशा है' यह एक लोक प्रचलित कहावत प्रसिद्ध है। पूर्वाचार्यों पर यह उक्ति लागू होती है अथवा नहीं यह तो कहना कठिन है किंतु भारतीय-साहित्य के हिन्दीकाल से ऐसा प्राय: देखा जाता रहा है। टोडरमलजी के ऊपर तो वह शतश: लागू होती है। उन्हें साहित्य-सेवा का जो फल मिला वह हम सभी जानते हैं। उनकी मृत्यु संबंधी दुर्घटना के स्मरण से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते है तथा सांस रुंधने लगती है। मानवता के दुर्भाग्य से उन्हें वही पुरुस्कार मिला जो सहस्रों वर्ष पूर्व मानव संस्कृति के महावाहक परमऋषि सुकरात, ईसा एवं नवयुग निर्माता महात्मा गांधी को मिला। वस्तुत: उनके जीवन की वही खरी परीक्षा थी और उसमें उन्होंने सर्वोपरि उत्तीर्णता प्राप्त की। आज ग्रह नक्षत्रों के साथ उनकी दिव्यात्मा दैदीप्यमान है और सृष्टि के अंत तक विवेकीजन उन्हें भुला न सकेंगे।●●

पंडित टोडरमलजी और शिथिलाचारी साधु

श्री पंडित मिलापचंदजी कटारिया, केकडी

(मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व और चारित्र का ही सर्वाधिक महत्व है। इसलिए गुणस्थानों का क्रम– सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा से है, ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है। ज्यों–ज्यों चारित्र बढ़ता जावेगा त्यों त्यों ही आत्मा ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता जावेगा। ऐसी बात ज्ञान की वृद्धि के साथ नहीं है – ज्ञान बढ़ता रहे तब भी गुणस्थान बढ़ता नहीं।)

जिन देव–शास्त्र–गुरु की हम नित्य पूजा करते हैं, उनमें देव–शास्त्र के साथ गुरु का नाम भी जुड़ा हुआ है। इससे प्रगट होता है कि – गुरु यानी मुनि का पद भी कम महत्व का नहीं है। गुरु के लिये एक कवि ने यहां तक लिख दिया है कि – 'वे गुरु चरण धरे जहां जग में तीरथ होइ।' ऐसे महान पद के धारी मुनि भी केवल वेषमात्र से ही मुनि न होने चाहिए, किंतु वेष के अनुसार उनमें मुनिपने का वह उज्ज्वल चारित्र भी होना चाहिए जो मुनियों के आचार शास्त्रों में लिखा है। आचार्य समंतभद्रस्वामी ने रत्नकरंड श्रावकाचार में गुरु का लक्षण इस प्रकार लिखा है –

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।।

अर्थ – जो इंद्रियों के विषयों की आशा से दूर रहता हुआ आरंभ परिग्रह से रहित और ज्ञान–ध्यान तप में तल्लीन रहना है, वही प्रशंसनीय मुनि कहलाता है।

इस महान् पद की सुरक्षा के लिये हमारे पूर्वाचार्यों ने मुनियों के शिथिलाचार पर बड़ी कड़ी दृष्टि रखी है। वेषमात्र को तो उन्होंने आदरणीय ही नहीं माना है। उन्होंने इस दिशा में सावधान रहने के लिये मुनि–भक्तों को जो आदेश दिया है, उसके कुछ नमूने हम यहां लिख देना उचित समझते हैं–

सबसे पहिले इस विषय में हम महर्षि कुंदकुंद की वाणी उद्धृत करते हैं :–

अस्संजदं ण वंदे वत्थविहीणोवि सो ण वंदिज्जो।
दोण्णिवि होंति समाणा एगोवि ण संजदो होदि।।26।। 'दर्शन पाहुड़'

अर्थ – असंयमी कहिये जो कि महाव्रती नहीं है – गृहस्थ है उसकी वंदना न करे। और जो वस्त्र त्याग कर नग्नलिंगी बन गया है परंतु सकल संयम का पालन नहीं करता है, वह भी वंदना योग्य नहीं है। दोनों ही यानी गृहस्थ और मुनि वेषी एक समान हैं। दोनों में एक भी संयमी–महाव्रती नहीं है।

उक्किट्ठसीह चरियं बहुपरियम्मो या गरूयभारो य।
जो विहरइ सच्छं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं।।9।। 'सूत्र पाहुड़'

अर्थ – जो स्वच्छंद कहिये जिनसूत्र को उलंघन कर प्रवर्तता है, वह उत्कृष्ट सिंह–चारित्र का धारी, बहुपरिकर्मवाला और गच्छनायक ही क्यों न हो तब भी वह पापी और मिथ्यादृष्टि ही है।

भावविसुद्धणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स।।3।। भा.पा.

अर्थ – भावों को निर्मल रखने के लिये बाहिर में परिग्रहों का त्याग किया जाता है। त्याग करके भी जो अभ्यंतरपरिग्रह कहिये विषय कषायादि का धारी है तो उसके बाह्यत्याग निष्फल है।

भावविमुत्तो मुत्तो णय मुत्तो बंधवाइमित्तेण।
इय भाविउण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर।।43।।

देहादिचत्तसंगो माणकसाण्ण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं।।44।। 'भावपाहुड़'

अर्थ – जो रागादिभावों का त्यागी है, वही त्यागी माना जाता है। केवल कुटुंबादि के त्याग कर देने मात्र से ही कोई त्यागी नहीं कहलाता है। हे धीर! ऐसी भावना रखकर तू अत्यंतर परिग्रह जो रागादि भाव उनका त्याग कर।

देहादि से ममत्व त्याग परिग्रह छोड़कर कायोत्सर्ग में स्थिर हुए बाहुबली मानकषाय से कलुषितचित्त हुए कितने ही काल तक (एक वर्ष तक) आतापन योग में रहे तो उससे क्या हुआ? कुछ भी सिद्धि न हुई।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण।।54।। 'भावपाहुड़'

अर्थ – भाव से भी नग्न होना चाहिए, केवल बाहरी नग्नवेष से ही क्या होता है? जो द्रव्यलिंग के साथ–साथ भावलिंग का धारी है, वही कर्म प्रकृतियों के समूह का नाश करता है।

बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो।।153।। 'भावपाहुड़'

अर्थ – जो साधु मलिनचित्त हुआ मुनिचर्या में अनेक दोष लगाता है, वह श्रावक के समान भी नहीं है।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणास्सदि।
तम्हा जहाबलं जोइ अप्पा दुक्खेहि भावय।।62।। 'मोक्षपाहुड़'

अर्थ – सुख की वासना में रहा ज्ञान दुख पड़ने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए योगी को यथाशक्ति दुख सहने का अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् परीषहों को सहना चाहिए।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।।5।। 'शीलपाहुड़'

अर्थ – चारित्रहीन ज्ञान को, सम्यक्त्वरहित लिंगग्रहण को और संयमहीन तप को यदि कोई आचरता है तो ये सब उसके निरर्थक हैं।

जो विसयलोलएहि णाणी हि हविज्ज साहिदो मोक्खो
तो सो सच्चइपुत्तो दसपुव्वीओ वि कि गदो णरयं।।30।। 'शीलपाहुड़'

अर्थ – यदि इंद्रिय–विषयों के लोलुपी शास्त्रज्ञानियों ने ही मोक्ष साध लिया होता तो दश पूर्वों का ज्ञाता होकर भी सात्यकिपुत्र–रुद्र नरक में क्यों जाता?

यह तो हुआ श्री कुंदकुंदस्वामी का उपदेश। इन्हीं सबका सारांश आचार्यश्री समंतभद्रस्वामी ने रत्नकरंड श्रावकाचार में एक ही पद्य में कह दिया है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।

अर्थ – गृहस्थ यदि निर्मोही है तो वह मोक्षमार्ग का पथिक है। किंतु मुनि होकर मोह रखता है तो वह मोक्षमार्ग का पथिक नहीं है। मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ माना जाता है।

आचार्य गुणभद्र को तो वन को छोड़ रात्रि में बस्ती के समीप आ जाने मात्र मुनियों की इतनी सी शिथिलता भी सहन न हुई है। वे आत्मानुशासन में लिखते हैं –

इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावार्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।।197।।

अर्थ – जिस प्रकार इधर–उधर से भयभीत हुए गीदड़ रात्रि में वन को छोड़ गाँव के समीप आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकाल में मुनिजन भी वन को छोड़ रात्रि में गाँव के समीप रहने लगे हैं। यह खेद की बात है।

रानी रेवती की कथा में आचार्य महाराज ने श्राविका रेवती को भी आशीर्वाद कहला भेजा। परंतु वहीं पर रहनेवाले ग्यारह अंग के पाठी किंतु चारित्र भ्रष्ट भव्यसेन मुनि को आशीर्वाद कहला नहीं भेजा। मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व और चारित्र का ही सर्वाधिक महत्व है। इसीलिए गुणस्थानों का क्रम सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा से है, ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है। ज्यों–ज्यों चारित्र बढ़ता जायेगा त्यों–यों ही आत्मा ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता जावेगा। ऐसी बात ज्ञान की वृद्धि के साथ नहीं है – ज्ञान बढ़ता रहे तब भी गुणस्थान बढ़ता नहीं। अल्पश्रुत के धारी शिवभूति मुनि ने तुषमात्र को घोषते हुए ही सिद्धि को प्राप्त कर लिया। यही बात मूलाचार में कही है –

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
णय सिज्झदि वे रग्गविहीणे पढिदूण सव्वसत्थाइं।।3।। 'समय साराधिकार'

अर्थ - धीर-वीर वैराग्यपरायण मुनि तो थोड़ा पढ़ लिखकर ही सिद्धि को पा लेता है। किंतु वैराग्यहीन मुनि सब शास्त्रों को पढ़कर भी सिद्धि को नहीं पाता है।

इन सब उल्लेखों में मुनि के निर्मल चारित्र को प्रधानता दी है। अर्थात् किसी मुनि में अन्य सभी गुण हों और चारित्र की उज्ज्वलता न हो तो सब निरर्थक है।

यह तो हुआ पूर्वाचार्यों का कथन। तदनंतर वि. सं. 1300 के करीब में मुनिवेषियों का जो कुछ हाल था उसे देखकर पंडित आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत के दूसरे अध्याय में अपने निम्न विचार व्यक्त किये हैं-

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवंद्यामपोद्यार्हतीं,
वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः।
लोकं भूतवदाविशंत्यवशिनस्तच्छायया चापरे,
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज।।93।।

इस पद्य का अर्थ आशाधरजी ने स्वोपज्ञ संस्कृत टीका में जैसा किया है, उसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार है -

वर्तमान काल में एक प्रकार के अहंकारी साधु तो वे हैं जो समीचीनरूप से व्यवहार में आनेवाली और तीन जगत में वंदनीय ऐसी आर्हतीमुद्रा जिनमुद्रा को छोड़कर उससे उल्टी जटा रखना, भस्म रमाना आदि विपरीत मुद्रा को धारण किये हुए हैं, वे तो तापसी आदि हैं। जिस प्रकार क्षुद्र लोग खोटे सिक्के (मुद्रा) बनाकर प्रचार में लाते हैं, उसी प्रकार ये तापसी विपरीत मुद्रा को धारण कर साधु नाम से प्रचार में आ रहे हैं। दूसरी प्रकार के साधु वे हैं जो द्रव्य जिनलिंग के धारी बाहर से यानी शरीर से (न कि मन से) जिन मुद्रा को धारण कर जैन मुनि कहलाते हैं किंतु इन्द्रियां उनके वश में नहीं हैं। वे धार्मिक लोगों से अनेक ऐसी चेष्टायें कराते हैं, जैसे उनको कोई भूत लग गया हो। अर्थात् बाहर से जैन मुनि का वेष देखकर बेचारे धर्मपिपासु भोले जैनी भाई उन पर ऐसे आकर्षित हो जाते हैं कि वे मुनि जैसा कहते हैं, वैसा ही वे करने लग जाते हैं। उन भोले भावुक लोगों की ऐसी चेष्टा देखने से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो इन जैनी भाइयों को कोई भूत-प्रेत लग गया है जिससे बावले होकर यद्वा तद्वा चेष्टायें करते हैं। तथा तीसरी प्रकार के साधु वे हैं जो द्रव्य जिनलिंग को धारण करके मठों में निवास करते हैं। और मठों के अधिपति बने हुये हैं। वे जिनलिंग की नकल करके मुनियों की तरह दिखते हुए म्लेच्छों के समान लोक-विरुद्ध व शास्त्र विरुद्ध आचरण करते हैं। इस प्रकार ये तीनों ही

तरह के कुत्सित साधु मानों मनुष्य शरीर के आकार में साक्षात् मोह के रूप ही हैं। ऐसा जानकर सम्यक्त्व के आराधक भव्यजीवों को चाहिए कि वे इनकी न तो मन से अनुमोदना करें, न वचन से प्रशंसा करें और न काय से संसर्ग रखें।[1]

इस वक्तव्य में पंडित आशाधरजी ने द्रव्यलिंग के धारी उन नग्न जैनमुनियों को भी खोटे तापसियों की श्रेणी में बैठाकर उन सबको ही उन्होंने पुरुषाकार मोह मिथ्यात्व बताकर उनसे संसर्ग न रखने का उपदेश दिया है, यह खासतौर पर ध्यान देने की चीज है। आशाधरजी ने अपने मंतव्य की पुष्टि में यहां एक पुरातन श्लोक भी उद्धृत किया है, जिसमें लिखा है कि ऐसे ही कुसाधुओं ने भगवान जिनेंद्र के निर्मलशासन को मलिन किया है। यथा–

पंडितै र्भ्रष्टचारित्रैबैठरैश्च तपोधनै:।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्।।

आशाधरजी के इस प्रकार के उल्लेख से साफ प्रगट होता है कि – वे भी जैन मुनियों के शिथिलाचार के सख्त विरोधी रहे हैं।

एक बात ऊपर लिखनी रह गई है, वह यह कि – पद्मनंदिपंचविंशतिका में शय्या हेतु तृणादि का ग्रहण भी मुनियों के लिये लज्जाजनक बताया है। यथा –

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये।
शय्याहेतुतृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम्।
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं सांप्रतं,
निर्ग्रंथेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां प्राय: प्रविष्ट: कलि:।।53।।

अर्थ – शय्या के निमित्त जहां तृणादि (पयाल) का ग्रहण भी मुनियों के लिये लज्जाजनक है। क्योंकि तृणादि दुर्ध्यान और पाप के कारण हैं, उनका उपयोग करने से निर्ग्रंथता में भी हानि पहुंचती है – तब यदि आजकल के निर्ग्रंथ साधु लोग गृहस्थयोग्य अन्य स्वर्ण, वस्त्र, रुपया, पैसा, घड़ी (वॉच), मठ, मकान, खेत आदि रखते हैं तो समझना चाहिए कि घोर कलिकाल आ गया।

अब हम लेख के शीर्षक के अनुसार पंडित टोडरमलजी का इस विषय में क्या मत था, यह बताते हैं–

---

1. लेख विस्तार के भय से हमने यहां टीका के संस्कृत वाक्यों को नहीं लिखा है। इतना जरूर है कि पंडित आशाधरजी ने संस्कृत टीका में जैसा लिखा है उसी को हूबहू हमने हिन्दी में लिख दिया है। हमने अपनी तरफ से बढ़ाकर कुछ भी नहीं लिखा है, यह बात मूल पुस्तक से मिलाकर कोई भी देख सकता है।

देशभाषा में ग्रंथ बनानेवाले पूर्ववर्ती पंडितों में श्री पंडित टोडरमलजी साहब बड़े ही गंभीर विचारक और मननशील विद्वान हुए हैं। उन्होंने देशभाषा में अभूतपूर्व और उच्चकोटि का एक मोक्षमार्ग प्रकाशक नामक स्वतंत्र ग्रंथ का निर्माण किया है, जिसमें जैन धर्म के कई विषयों पर बड़े ही मार्मिक ढंग से ऊहापोह किया गया है। यह ग्रंथ प्रत्येक जिज्ञासु के पढ़ने योग्य है। इसी में साधुओं के शिथिलाचार के विषय में भी विशद विवेचना की है। उसके हम यहां दो उदाहरण देते हैं। ये सब उद्धरण उनके छठवें अधिकार के हैं –

''बहुरि इनि भेषीनिविषैं केई भेषी अपने भेष की प्रतीति करावने अर्थि किंचित् धर्म का अंग को भी पालैं हैं। जैसे खोटा रुपैय्या चलावने वाला तिस विषैं किछु चांदी का भी अंश राखै हैं। तैसे धर्म का कोऊ अंग दिखाय अपना उच्च पद मनावै है। इहां कोई कहै कि – (उन्होंने) जो धर्म साधन किया ताका तो फल होगा। ताका उत्तर – जैसे उपवास का नाम धराय कणमात्र भी भक्षण करै तो पापी है। अर एकासन का नाम धराय किंचित् ऊन भोजन (पूने भोजन में कुछ कम) करै तो भी धर्मात्मा है। तैसे उच्च पदवी का नाम धराय तामैं किंचित् भी अन्यथा प्रवर्तै तो महापापी है। अर नीची पदवी का नाम धराय किछु भी धर्मसाधन करै तो धर्मात्मा है। जातैं धर्मसाधन तो जेता बनै तेता ही कीजिये किछू दोष नाहीं, परंतु ऊंचा नाम धराय नीची क्रिया कियें महापाप ही हो है। सोई षट्पाहुड़ विषैं कुंदकुंदाचार्य करि कहा है–

जहा जायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गहदि अत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं।।18।। 'सूत्रपाहुड़'

याका अर्थ – मुनिपद है सो यथाजातरूप सदृश है। जैसा जन्म होतैं था तैसा नग्न है। सो वह मुनि अर्थ जे धनवस्त्रादिक वस्तु तिन विषैं तिलतुषमात्र भी ग्रहण न करै। बहुरि कदाचित् अल्प या बहुत वस्तु ग्रेहै तो तिसतैं निगोद जाय। सो इहां देखो गृहस्थपनेमैं बहुत परिग्रह राखि किछू प्रमाण करै तो भी स्वर्ग का अधिकारी हो है। अर मुनिपने मैं किंचित् परिग्रह अंगीकार कियें ही निगोद जानेवाला हो है। तातैं ऊंचा नाम धराय नीची प्रवृत्ति युक्त नाहीं।

अब इहां कुयुक्ति करि जे तिनि कुगुरुनि का स्थापन करै हैं तिनिका निराकरण कीजिये है। तहां वह कहै है – गुरु बिना तो निगुरा होय, अर वैसे गुरु अबार दीसै नाहीं, तातैं इनहीं को गुरु मानना।

ताका उत्तर – निगुरा तो वाका नाम है जो गुरु मानै ही नाहीं। बहुरि जो गुरु को तो मानै इर इस क्षेत्र विषैं गुरु का लक्षण न देखि काहू को गुरु न मानै तो इस श्रद्धान तैं तो निगुरा होता नाहीं। जैसे नास्तिक तो वाका नाम है जो परमेश्वर को मानै ही नाहीं। बहुरि जो परमेश्वर को तो मानै अर इस क्षेत्र विषैं परमेश्वर का लक्षण न देखि काहू को परमेश्वर न मानै तो नास्तिक तो होता नाहीं। तैसे ही यहु जानना।

बहुरि वह कहै है जैनशास्त्रनि विषैं अबार केवली का तो अभाव कह्या है, मुनि का तो भाव कह्या नाहीं।

ताका उत्तर – ऐसा तो कह्या नाहीं इनि देशनि विषैं सद्भाव रहैगा। भरतक्षेत्र विषै कहै है सो भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है। कहीं सद्भाव होगा तातैं अभाव न कह्या है। जो तुम रहो हो तिस ही क्षेत्र विषैं सद्भाव मानोगे तो जहां ऐसे भी गुरु न पावोगे, तहां जावोगे तब किसका गुरु मानोगे। जैसे हंसनि का सद्भाव अबार कह्या है अर हंस दीसते नाहीं तो और पक्षीनि कों तो हंस मान्या जाता नाहीं। तैसे मुनि का सद्भाव अबार कह्या है, अर मुनि दीसते नाहीं तो औरनि कों तो मुनि मान्या जाय नाही।

बहुरि वह कहै है एक अक्षर का दाता तो गुरु मानै है। जे शास्त्र सिखावै वा सुनावैं तिनिकों गुरु कैसे न मानिये?

ताका उत्त्र – गुरु नाम बड़े का है। सो जिस प्रकार की महंतता जाकै संभवै तिस प्रकार ताकों गुरु संज्ञा संभवै जैसे कुल अपेक्षा माता पिता को गुरु संज्ञा है। तैसे ही विद्या पढावने वाले कों विद्या अपेक्षा गुरु संज्ञा है। यहां तो धर्म का अधिकार है। तातैं जाकै धर्म अपेक्षा महंतता संभवै सो ही गुरु जानना। सो धर्म नाम चारित्र का है। 'चारित्तं खलु धम्मो' (प्रवचनसार 1-7) ऐसा शास्त्र विषै कह्या है। तातैं चारित्र का धारक ही को गुरु संज्ञा है। बहुरि जैसे भूतादिक का भी नाम देव है, तथापि यहां देव का श्रद्धान विषैं अरहंत देव ही का ग्रहण है; तैसे औरनिका भी नाम गुरु है, तथापि इहां श्रद्धान विषैं निर्ग्रंथ ही का ग्रहण है। सो जिन धर्म विषैं अरहंत देव निर्ग्रंथ गुरु ऐसा प्रसिद्ध वचन है। ....तातैं बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहित निर्ग्रंथ मुनि है सो ही गुरु जानना।

यहां कोऊ कहै – ऐसे गुरु तो अबार यहां नाहीं। तातैं जैसे अरहंत की स्थापना प्रतिमा है तैसे गुरुनिकी स्थापना ये भेषधारी हैं।

ताका उत्तर – जैसे राजाजी की स्थापना चित्रामादिक करि करै तो राजा का प्रतिपक्षी नाहीं। अर कोई सामान्य मनुष्य आपको राजा मनावै तो राजा तिसका प्रतिपक्षी होइ। तैसे अरहंतादिक की पाषाणादि विषैं स्थापना बनावै तो तिनिका प्रतिपक्षी नाहीं। अर कोई सामान्य मनुष्य आपको मुनि मनावै तो वह मुनिनिका प्रतिपक्षी भया। ऐसे भी स्थापना होती होय तो अरहंत भी आपको मनावो।

बहुरि वह कहै है – अबार श्रावक भी तो जैसे संभवै तौसे नाहीं। तातैं जैसे श्रावक तैसे मुनि।

ताका उत्तर – श्रावकसंज्ञा तो शास्त्रविषैं सर्व गृहस्थ जैनी कों है। श्रेणिक भी असंयमी था ताकों उत्तर पुराण विषैं श्रावकोत्तम कह्या। बारह सभाविषैं श्रावक कहे तहां सर्व व्रतधारी न थे, तो व्रतधारी होते तो असंयत मनुष्यनिकी जुदी संख्या कहते सो कही नाहीं। तातैं गृहस्थ जैनी श्रावक नाम पावै है। अर मुनिसंज्ञा तो निर्ग्रंथ बिना कहीं कही नाहीं।... मुनि के अट्ठाईस मूलगुण हैं सो भेषीनिके दीसते नाहीं।

तातैं मुनिपनों काहू प्रकार करि संभवै नाही। बहिर गृहस्थ अवस्था विषैं तो पूर्वै जम्बूकुमारादिक बहुत हिंसादिक कार्य किये सुनिए हैं। मुनि होय करि तो काहूने हिंसादि कार्य किये नाहीं, परिग्रह राखे नाहीं, तातैं ऐसी युक्ति कारजकारी नाहीं। बहुरि देखो आदिनाथजी के साथ च्यारि हजार राजा दीक्षा लेय बहुरि भ्रष्ट भये तब देव उनको कहते भये – जिनलिंगी होय अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दंड देंगे। जिनलिंग छोड़ि तुम्हारी इच्छा होय सो तुम करो। तातैं जिनलिंगी कहाय अन्यथा प्रवर्तै ते तो दंडयोग्य है, वंदनादियोग्य कैसे होय? ....अन्य जीव उनकी सुश्रूषा आदि करैं हैं ते भी पापी हो हैं। पद्मपुराणविषैं यह कथा है – जो श्रेष्ठी (सेठ) धर्मात्मा चारणमुनिनि को भ्रमतैं भ्रष्ट जानि आहार न दिया तो प्रत्यक्ष भ्रष्ट तिनकों दानादिक देना कैसे संभवै?

यहां कोऊ कहै – हमारे अंतरंग विषैं श्रद्धान तो सत्य है परंतु बाह्य लज्जाकरि शिष्टाचार करैं हैं सो फल तो अंतरंग का होगा।

ताका उत्तर – षट्पाहुड़विषैं लज्जादि करि वंदनादिक का निषेध दिखाया था सो पूर्वै ही कह्या था। बहुरि कोऊ जोरावरी मस्तक नमाय हाथ जुड़ावै ब तो यह संभवै जो हमारा अंतरंग न था। अर आपही मानादिक तैं नमस्कार करैं तहां अंतरंग कैसे न कहिये। जैसे कोई अंतरंग विषैं तो मांस को बुरा जानै अर राजादिक का भला मनावने को मांस भक्षण करै तो वाको व्रती कैसे मानिये? तैसे अंतरंग विषैं तो कुगुरु सेवन को बुरा जानै अर तिनिका या लोकनि का भला मनावने को कुगुरुसेवन करै तो श्रद्धानी कैसे कहिये? जातैं बाह्य त्याग किये ही अंतरंग त्याग संभवै है। तातैं जे श्रद्धानीजीव हैं तिनकों काहू प्रकार करि भी कुगुरुनिकी सुश्रुषा आदि करनी योग्य नाहीं। ...श्रद्धानी तो रागादिक को निषिद्ध श्रद्धै है। वीतराग भावको श्रेष्ठ मानै है। तातैं तिनके वीतरागता पाइये वैसे ही गुरुओं को उत्तम जानि नमस्कारादि करै है। जिनके रागादि पाइये तिनकों निषिद्ध जानि नमस्कारादि कदाचित भी करै नाहीं।

कोऊ कहै – जैसे राजादिक को नमस्कार करै तैसे इनको भी करैं हैं।

ताका उत्तर – राजादिक धर्मपद्धति विषैं नाही। गुरु का सेवन धर्मपद्धति विषैं है सो राजादि का सेवन तो लोभादिक तैं हो है। तहां चारित्रमोह ही का उदय संभवै है। अर गुरुनि की जायगां कुगुरुनिकों सेयें तत्त्वश्रद्धान के कारण गुरु थे तिनतैं प्रतिकूली भया, सो लज्जादितैं जानै कारण विषैं विपरीतता निपजाई ताकैं कार्यभूत तत्त्वश्रद्धान विषै दृढ़ता कैसे संभवै? तातैं तहां दर्शनमोह का उदय संभवै है।''

इस प्रकार पंडितप्रवर टोडरमलजी ने विवेचन किया है, जिसे देखकर कहना पड़ता है कि – आपने भी साधुओं के शिथिलाचार के विषय में पूर्वाचार्यों का ही अनुसरण किया है।

इन्हीं के कुछ समय बाद पंडित जयचंदजी भी बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान हुये हैं। आपने संस्कृत प्राकृत के कोई तेरह चौदह ग्रंथों की देशभाषा में बड़ी उत्तम टीकायें लिखी हैं।

आपने दर्शनपाहुड़ की 26वीं गाथा की टीका के भावार्थ में इस संबंध में निम्न प्रकार कथन किया है – (यह गाथा इस लेख में ऊपर उद्धृत हुई है।)

''जो गृहस्थभेष धास्या है सो तो असंयमी है ही। बहुरि जो बाह्य नग्नरूप धारण किया अर अंतरंग में भावसंयम नाहीं है तो वह भी असंयमी ही है। तातै ये दोऊ ही असंयमी हैं, तातैं दोऊ ही वंदवे योग्य नाहीं। इहां आशय ऐसा है जो ऐसे मति जानियो – जो आचार्य यथाजातरूप कूं दर्शन करते आवै है सो केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा, जातैं आचार्य तो बाह्य अंतर सर्व परिग्रह सूं रहित होय ताकूं यथाजातरूप कहै है, अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न भये तो किछू संयमी होय हैं नाहीं, ऐसे जानना।

इहां कोई पूछै – बाह्यभेष शुद्ध होय आचार निर्दोष पालता ताकै अभ्यंतर भावों में कपट होय ताका निश्चय कैसे होय? तथा सूक्ष्म भाव केवलीगम्य हैं, मिथ्यात्व होय ताका निश्चय कैसे होय, निश्चय बिना वंदने की कहा रीति?

ताका समाधान – ऐसा जो कपट का जेतैं निश्चय नाहीं होय तेतैं आचार शुद्ध देखि वंदै, तामैं दोष नाहीं, अर कपट का कोई कारणतैं निश्चय हो जाय तब नहीं वंदै। बहुरि केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नाहीं, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य की चर्चा है। जो अपने ज्ञान का विषय ही नाहीं ताका बाध निर्बाध करने का व्यवहार नाहीं, सर्वज्ञ भगवान की भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीव कूं व्यवहार का ही शरण है।''

मतलब यह है कि मुनिलिंग पूज्य है अवश्य, पर केवल द्रव्यलिंग यानी वेषमात्र पूजनीय नहीं है। मुनि का बाह्य वेष द्रव्यलिंग कहलाता है। और कषायोपशम संयम सम्यक्त्वादि का होना भावलिंग कहलाता है। जैनशासन में भावलिंग रहित द्रव्यलिंग मान्य नहीं है। और द्रव्यलिंग रहित भावलिंग भी मान्य नहीं है, न दोनों ही लिंग रहित तीसरी अवस्था ही मान्य है। जैनमत में तो संयुक्त द्रव्य भावलिंग मान्य है। इस विषय में सिक्के का उदाहरण अच्छा घटित होता है। अगर रुपया चांदी का हो पर उस पर सरकारी मोहर ठीक नहीं हो तो वह ग्राह्य नहीं होता। और जो मोहर ठीक हो पर वह चांदी का न हो तो वह रुपया भी ग्राह्य नहीं होता। तथा चांदी और मोहर दोनों ही ठीक न हो तो वह भी ग्राह्य नहीं होता। रुपया वह चलेगा जिसमें चांदी और मोहर दोनों ठीक होगी। बस यही बात मुनिलिंग के विषय में समझना चाहिए। सिक्के की चांदी को भावलिंग और मोहर को द्रव्यलिंग जानना चाहिए। फलितार्थ यह हुआ कि – भावलिंग के साथ धारण किया द्रव्यलिंग ही सिद्धि का कारण होता है। अकेले द्रव्यलिंग से कुछ सिद्धि नहीं होती। यही बात कुंदकुंदस्वामी ने भाव पाहुड़ में लिखी है –

णग्गज्जणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहि पण्णतं।
इयाणाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर।।55।।

अर्थ – भावरहित नग्नपणा कार्यकारी नहीं है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। यह जानकर हे धीर! सदा तू आत्मा की भावना कर।

सिक्के के दृष्टांत में यह बात समझने की है कि – जिस रुपये में चांदी ठीक हो पर उस पर सरकारी छाप (मोहर) ठीक न हो तो भले ही वह व्यवहारिक क्षेत्र में चल नहीं सकेगा तथापि उसकी चांदी का मूल्य तो कुछ मिलेगा ही किंतु द्रव्य सिक्का तो गिलट का हो और मोहर उसकी ठीक हो तो वह तो कुछ भी मूल्य न पावेगा। इसी तरह द्रव्यलिंग रहित भावलिंग चाहे अंतिम सिद्धि मोक्ष का साक्षात. साधक नहीं है तथापि परंपरा साधक तो हो ही जावेगा। जैसा कि शिवकुमार भावश्रमण होकर संन्यास से मरण कर ब्रह्मस्वर्ग में विद्युन्माली देव हुआ। वही जंबूकुमार के भव में भावलिंग के साथ द्रव्यलिंग को धारण करके मोक्ष में गया। (देखो 'जंबूस्वामी चरित')

प्रश्न – ये मुनिवेषी शिथिलाचारी हैं तो क्या हुआ। पापपंक में लिप्त हम गृहस्थों से तो अच्छे ही हैं। मुनि–निंदा करने से घोर पाप का बंध होता है।

उत्तर – जिनकी अभी जिह्वालंपटता, पैसे की तृष्णा, विषय वासना नहीं छूटी, इंद्रियें जिनकी वश में नहीं है, जो अपने आदर सत्कार के इच्छुक हैं, कषाय भाव रखते हैं और परीषह नहीं सहते हैं, ऐसे मुनि हम गृहस्थों से अच्छे नहीं कहला सकते हैं। नग्न होना एवं पिच्छी कमंडलु धारण करना तो बाह्य भेष है। इस भेष के साथ अंतरंग में त्याग वैराग्य भाव हो तो अच्छा कहा जा सकता है। खाली भेषमात्र तो अच्छा नहीं कहा जा सकता। अगर हर सूरत में मुनि का वेषमात्र ही गृहस्थ से श्रेष्ठ होता हो तो आचार्य समंतभद्रस्वामी रत्नकरंड श्रावकाचार में यह नहीं लिखते कि मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। और महर्षि कुंदकुंद भी दर्शन पाहुड़ की 26वीं गाथा में असंयमी मुनि को गृहस्थतुल्य नहीं बताते। फिर गृहस्थ तो यह दावा नहीं करता कि मुझे तुम ऊंचा मानो। वह तो भीतर बाहर एकसा है। अत: गृहस्थ तो कपटी नहीं है। किंतु ये मुनिवेषी तो अपने को परम गुरु कहते हुये गृहस्थों से प्रणाम विनय कराते हैं और अपनी जयजयकार बुलाते हैं। परंतु बाहर जैसा मुनि का रूप इन्होंने बना रखा है, तदनुसार ये मुनि का आचार पालते नहीं है अर्थात् भीतर से मुनि नहीं हैं तो यह तो कपट व्यवहार हुआ। तब ये गृहस्थों से अच्छे कैसे हो गये? गृहस्थों से कोई ठगाया तो नहीं जाता, इन भेषियों से तो भोली जनता पग–पग पर ठगाई जा रही है। व्याघ्र से इतना खतरा नहीं जितना कि गोमुख व्याघ्र से होता है। ऐसे ढोंगी साधुओं की आलोचना करना मुनिनिंदा नहीं कहलाती है। वे मुनि ही नहीं तो निंदा का सवाल ही नहीं रहता।

प्रश्न – यह जानते हुये भी कि – 'अमुक जैन मुनि आचारहीन है' तथापि लोकलाज से हम गृहस्थों को उन्हें भी भोजनादि देना पड़ता है। हमारे द्वार पर आनेवाले अन्य कोई भी जब भूखे नहीं जाते

तो ये तो जैनमुनि का वेष लेकर आते हैं, तब भला इनको आहार कैसे नहीं दिया जाये?

उत्तर – अन्य को आहार देने में और जैनमुनि का आहार देने में बड़ा अंतर है। अन्य को आहार देना यह गृहस्थ का शिष्टाचार लौकिक पद्धति में है, और जैनमुनि को आहार देना यह धर्म पद्धति में है। इसी से जैनमुनि को जो आहार दिया जाता है, वह गुरु भाव से नवधाभक्ति पूर्वक दिया जाता है। नवधा भक्ति उनकी की जाती है; जबकि हमारे गुरु सच्चे और श्रेष्ठ तपस्वी हों। अगर हम जानते हुए भी ढोंगी साधु को नवधा भक्ति करते हैं, तो हम अवश्य ही परंपरा से चले आये जैनमुनि के आदर्श और पवित्र मार्ग को बिगाड़ते हैं। और ऐसा करके ढोंग को प्रोत्साहन देने से निश्चय ही हम पाप का बंध करते हैं रही लोकलाज की बात, सो बुरा काम तो लोकलाज से करने पर भी बुरा फल देगा ही।

आचार्य नेमिचंद्र त्रिलोकसार में कुभोग भूमि का वर्णन करने के बाद गाथा 922 में लिखते हैं कि – इन कुभोग भूमियों में वे जैनमुनि जाते हैं जो मुनि होकर कपट करते हैं ज्योतिष व मंत्रादि का प्रयोग करते हैं, धन की वांछा रखते हैं, ऋद्धियश–साता रूप तीन गारवदोष युक्त और आहार–भय–मैथुन–परिग्रह संज्ञा के धारी हैं।

कुछ लोग पुलाकमुनि का उदाहरण देकर आधुनिक मुनियों के शिथिलाचार का पोषण करते हैं, वह भी ठीक नहीं है। पुलाकमुनि का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के 9वें अध्याय के सूत्र 46–47 में आया है। उसकी सर्वार्थसिद्धि टीका में पुलाक मुनि को भावलिंगी और सामायिक–छेदोपस्थापना संयम के धारी निर्ग्रंथ बताते हुये यह लिखा है – ''इनके कभी–कभी कहीं पर परवश से पांच महाव्रतों में से किसी एक की कुछ विराधना भी हो जाती है।'' इस कथन को देखते हुए जो मुनि परवश न होकर भी अहर्निश कितने ही मूलगुणों में दोष लगाते हैं, वे पुलाक मुनि नहीं माने जा सकते हैं।

मुनियों में जो शिथिलाचार तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है, उसके कारण जैन धर्म की महान् अप्रभावना हो रही है – यह बड़ी ही चिंता का विषय है। दिगम्बरत्व की जो प्रतिष्ठा आज के पचास–साठ वर्ष पहले जैनेतर लोगों के मन में थी वह आज कहाँ है? मैं इमसें भक्तों की जिम्मेवारी ही ज्यादा समझता हूँ। भक्तों का कर्तव्य है कि वे मूलाचार आदि मुनियों के आचार–ग्रंथों को पढ़ें और उनके अनुसार जिनका आचरण ठीक न हो उन्हें मुनि नहीं माने और उनके शिथिलाचार के विषय में उन्हें स्पष्ट कहें। जब तक भेष पूजा का व्यवहार दूर नहीं होगा, तब तक इस रोग का इलाज कभी नहीं होगा। पंडित टोडरमलजी ने भेष पूजा का जो डटकर विरोध किया था, उससे एक क्रांति उत्पन्न हुई थी, आज भी वैसी क्रांति की जरूरत है। हमें किसी भेषी की निंदा के भाव से नहीं अपितु मुनित्व की वस्तुस्थिति को प्रकट करने के लिए निर्भय होकर अपने विचार प्रकट करना चाहिए। इस संबंध में जो अपनी जिम्मेवारी को नहीं समझते वे बहुत बड़ी गलती करते हैं। ●●

श्री पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ

श्री सेठ खेमचंद जेठालाल

स्मारिका के कतिपय सम्पादक

श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ

डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल,
एम.ए., पी.एच.डी.

पंडितप्रवर टोडरमलजी के प्रति

श्री लक्ष्मीचंद्र जैन 'सरोज', एम.ए. साहित्यरत्न, शास्त्री

महा मनीषी टोडरमल तव, कीर्तिलता है बलशाली।
दो सौ वर्ष बाद भी अनुपम, दिखलाती है हरियाली।।

जीवन सफल न धन-संचय से, जीवन सफल न बल-संचय से।
जीवन सफल सत्य निश्चय से, जीवन सफल सत्य नय-जय से।।

वस्तु व्यक्ति क्षमता की द्योतक, आध्यात्मिकता है आली।
तू ने समझा निज जीवन में, अतः रही अक्षय लाली।।

शाश्वत जड़-चेतन की बातें, स्व-पर दिव्य दृष्टि की बातें।
विविध नयों द्वारा आघातें, श्रद्धा ज्ञान चरित बरसातें।।

शीतलता देती जी भर कर, कृतियां तेरी बल-शाली।
कहतीं 'जी भर पढ़ो मनुज अब, समझो हो गौरवशाली।।'

चिंतामणि सा मानव जीवन, अद्भुत अनुपम सच संजीवन।
जल में कमल सरीखा जीवन, बिता सको यदि आजीवन।।

तो समझो शांति कला पाई, जीवन में हो खुशहाली।
बाहर भीतर एक रूपता, जन-मन हर्षाने वाली।।

मानव-जीवन सत्य सफल हो, मोक्षमार्ग भी सुखद सरल हो।
जब अपना अंतर निश्छल हो, तब तत्त्वों की चर्चा बल हो।।

सदा समन्वय मूलक समता, श्रद्धा-ज्ञान न हो खाली।
चारित्रिक दृढ़ता आवश्यक, इनको गति देने वाली।।

तेरे ग्रंथ अनूठे अनुपम, अनुयोगों के अद्भुत संगम।
मुखरित जिनमें जड़तम जंगम, ध्वनित स्वभावों के शत संगम।

महावीर की परम्परा के, परिचायक हैं बलशाली।
सचमुच विविध प्रेरणा मूलक, पढ़कर बढ़ती सुखलाली।।

अगाध पांडित्य के धनी पंडितजी एवं जैनधर्म की समीचीनता

श्री महेन्द्रकुमार जैन, एम.ए.

पंडितजी एक माने हुए विद्वान् थे। उनकी विलक्षण प्रतिभा, उन्नतिशील-व्युत्पत्ति, सतत् अभ्यास से वे सामायिक विद्वानों द्वारा ईर्ष्या के पात्र हुए बिना नहीं रहे थे।

पंडितजी ने उन्नीसवीं शदी के प्रारंभ में जन्म लेकर इस भारत वसुंधरा को अलंकृत किया। आपके पिता जोगीदास, माता रम्भा देवी थी। धनी साहूकार के घर में जन्म लेकर आपने दिगम्बर जैन समाज के अंतर्गत 'खण्डेलवाल' उपजाति के 'गोदीका' गोत्र को पवित्र किया। आपकी स्वाभाविक प्रतिभा के समग्र ऊपरी बातों का कोई भी महत्व नहीं था, यद्यपि आपके विद्यागुरु भी प्रकांड विद्वान श्री बंशीधरजी थे।

आप जैन सिद्धांत के मर्मज्ञ विद्वान तो थे ही; साथ ही आप जैनेतर ग्रंथों के भी महान ज्ञाता थे। आपने जैनेतर ग्रंथों का पूर्ण अध्ययन कर उनके ग्रंथों के आधार पर जैन धर्म भी प्राचीनता एवं समीचीनता सिद्ध कर जन साधारण तक पहुंचाई।

वशिष्ठ पुराण, पवनपुराण, बाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि के तो आप जैन ग्रंथों के समान रूप से ज्ञाता थे, फलत: इन ग्रंथों में वर्णित जैन धर्म के महत्व को आपने प्रस्तुत किया।

जैन धर्म की प्राचीनता एवं समीचीनता के संबंध में योगवशिष्ठ में राम और वशिष्ठ के संवाद के अंतर्गत लिखा है। कि :-

नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु च न मे मन:।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा।। - योगवशिष्ठ-वैराग्य प्रकरण।

रामचंद्रजी कहते हैं कि न मैं राम हूँ, न पदार्थों में मेरी इच्छा है, और न मेरा मन भोगों में है, किंतु मैं जिनेन्द्र देव के समान शान्तिपूर्वक अपने आत्मा में निवास करना चाहता हूँ। और भी देखिये -

जैनमार्गरतो जैनो, जितक्रोधो जितामय:। (-दक्षिणमूर्ति सहस्रनाम)

अर्थात् जैनमार्गरत, जैन, जित-क्रोध और जितामय ये सब भगवान के नाम हैं।

भगवान की स्तुति करते हुये विष्णु आदि को 'दुर्वासा ऋषि' ने 'अर्हंत' कहा है।

तत्तद्दर्शनमुख्यशक्तिरिति च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरी।
कर्त्ताहन् पुरुषो हरिश्च सविता, बुद्ध: शिवस्त्वं गुरु:। - महिम्न: स्तोत्र

इस पद्य में भगवान के सहस्र नामों में अर्हत् का नाम भी आया है।

'प्रभास पुराण' में भी नेमिनाथस्वामी की प्रशंसा करते हुए उन्हें शिवरूप में माना है, अर्थात् शिव के समान 'नेमि' भी पूज्य हैं।

पद्मासनसमासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवेत्येवं, नाम चन्द्रेऽस्य वामनः।।
कलिकाले महाघोरे, सर्वपापप्रणाशकः।
दर्शनास्त्स्पर्शनादेव, कोटियज्ञफलप्रदः।। - प्रभासपुराण

अर्थात् पद्मासन बैठे हुए, श्याममूर्ति दिगम्बर नेमिनाथ ही हैं। उनके दर्शन और पूजन से महाभयंकर कलिकाल में समस्त पापों का विनाश होता है और करोड़ों यज्ञों का फल मिलता है। इसी ग्रंथ में आगे और भी देखिये।

रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव, मुक्तिमार्गस्य कारणम्।। - प्रभासपुराण

अर्हंत (अर्हं) पद का महत्त्व अवलोकनीय है।

अकारादिहरन्त मूर्द्धाधोरेफसंयुतम्।
नादविन्दकलाक्रन्तचन्द्रमण्डलसंन्निभम्।।
एतद्देव परं तत्त्वं, यो विजानाति तत्त्वतः।
संसार-बन्धनं छित्वा, स गच्छेत्परमां गतिम्।। - नगरपुराण

'अर्हं शब्द के परम तत्त्व को जो जानता है, वह संसार बन्धन को छेदकर परमगति (मोक्ष) पाता है।' 'मनुस्मृति' में भी प्रथम तीर्थंकर की प्रशंसा स्पष्ट रूपेण की गई है।

दर्शयन् वर्त्म वीराणां, सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रितयकर्त्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः।। - मनुस्मृति

युग के आदि में वीर पुरुषों को मार्ग दर्शानेवाले देव और दानवों से नमस्कृत, तीनों नीतियों के कर्ता प्रथम जिनेन्द्र (ऋषभदेव) हैं। इस श्लोक में ऋषभदेव का सर्वप्रथम अवतार एवं परमपूज्य माना है।

ऋग्वेद में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है और उन्हें शरणदाता बतलाया गया है।

''ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान् ऋषभाद्यान् वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रप्रद्ये।''

यजुर्वेद काल में सैकड़ों देव-देवताओं की श्रेणी में आ चुके थे। इस काल में कर्मकण्ड को प्रधानता दी जा रही थी। इसमें भी 'अर्हंत रूप' में ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है।

'ॐ नमो अर्हतो ऋषभाय।' – यजुर्वेद

अनेक ऋचाओं में यक्षरक्षक के रूप में अनेक तीर्थंकरों का स्मरण किया गया है। उन्हें नमस्कार किया है, एवं उन्हें यज्ञाहुति दी गई है। जैसे :-

ॐ ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं महासंस्तुतं वर शत्रुं जपन्तं पशुरिदमाहरिति स्वाहा।

ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि: स्वाहा। -यजुर्वेद 25/19

इन उल्लेखों से स्पष्ट पता चलता है कि पंडित टोडरमलजी ने जैनेतर साहित्य का भी अवगाहन किया था। ●●

जैसैं रोगीके बहुत रोग था, पीछे स्तोक रोग भया, तो वह स्तोक तो निरोग होने का कारण है नाहीं। इतना है, स्तोक रोग रहैं निरोग होने का उपाय करैं तो होइ जाय। बहुरि जो स्तोक रोगहीको भला जानि ताका राखनेका यत्न करै तो निरोग कैसे होय? तैसैं कषायी कै तीव्र कषायरूप अशुभोपयोग था, पीछें मंद कषाय रूप शुभोपयोग भया, तो वह शुभोपयोग तो नि:कषाय शुद्धोपयोग होने का कारण है नाहीं। इतना है शुभोपयोग भए शुद्धोपयोग का यत्न करैं तो होय जाय। बहुरि जो शुभोपयोग ही को भला जानि ताका साधन किया करैं तो शुद्धोपयोग कैसे होय?

– मोक्षमार्ग प्रकाशक

सामाजिक एवं धार्मिक क्रांति के अग्रदूत – पंडित टोडरमल

श्री अनूपचंद न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, जयपुर

अठारहवीं शताब्दी के महान् क्रांतिकारी विद्वान् एवं आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी का नाम कौन नहीं जानता? उनने स्वल्प आयु में अनेक धार्मिक, आध्यात्मिक एवं पुराण साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन कर लिया था; और इसी कारण अपने द्वारा रचित एवं अनूदित साहित्य में दृढ़ता के साथ सच्ची बात लिखने में कभी उन्होंने झिझक नहीं रखी। उनने निष्पक्ष दृष्टि से सामाजिक रीतिरिवाजों एवं धार्मिक मान्यताओं को सत्य की कसौटी पर कसा और जो बातें खरी उतरीं उनका उनने पूर्ण समर्थन किया।

सामाजिक रूढ़ियों एवं धार्मिक अंधविश्वासों से वे समाज को सचेत करना चाहते थे, और इसी दृष्टिकोण से उनने दृढ़तापूर्वक अपने मौलिक ग्रंथ मोक्षमार्ग प्रकाशक में इनका घोर विरोध किया। वे धर्म की विकृत मान्यताओं, परस्पर विरोधी कथनों एवं बाह्य क्रियाकांडों में विश्वास नहीं रखते थे, अपितु इनका विरोध करते थे। उनकी वाणी में ओज तथा लेखनी में प्रवाह था। उनने प्रत्येक विषय का गहनतम अध्ययन किया और उसका तलस्पर्शी विवेचन किया। उनकी प्रखर बुद्धि, निर्भीक वक्तृत्व-शैली एवं निखरे हुए व्यक्तित्व की सभी प्रशंसा करते थे। उनके बढ़ते हुए प्रभाव से कुछ लोग ईर्ष्या रखने लगे थे। उनके क्रांतिकारी विचारों से लोग प्रभावित तो अवश्य होते थे; किंतु सामाजिक कुरीतियां एवं अंध-विश्वासों तथा धार्मिक पाखंडों के खिलाफ बोलने का कोई साहस नहीं करते थे। पंडित टोडरमलजी ने निर्भीक होकर तत्कालीन समाज को अपने क्रांतिकारी विचार दिये और उस समय सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में ऐसी क्रांति मचा दी कि रास्ता आगे तक साफ हो गया। और इस क्रांति एवं अपनी विलक्षण विद्वत्ता के फलस्वरूप ही वे लोगों की निगाह में खटकने लगे तथा उन्हें विद्वेष की ज्वाला में ही अपने प्राण समर्पित करने पड़े।

उस समय समाज में अनेक बुराइयां एवं कुरीतियां घर किये हुए थीं। समाज नेताविहीन लगता था। कोई ऐसा प्रभावशाली नेता नहीं था जो समाज को अपने इशारे पर चला सके, उसके दुख दर्द का अनुभव कर सके। लोगों में सिद्धांत ग्रंथों का पठन पाठन प्राय: बंद सा हो गया था। धर्म गुरु भट्टारकों का समाज में कोई प्रभाव नहीं रह गया था उनकी पोपलीला एवं पाखंडों से लोग तंग आ गये थे – वे केवल धार्मिक अनुष्ठान करानेवाले पंडे रह गये थे, उनमें मठाधीशों की सी परिपाठी आना प्रारंभ हो गया था। लोग मंदिरों में ताश चौपड़ आदि खेलते तथा कभी-कभी जीमन आदि भी किया करते थे। इन सब बातों को बुरा अवश्य समझते थे किंतु इनके खिलाफ बोलने की किसी की भी हिम्मत नहीं थी। ऐसी ही हालत धर्म के संबंध में थी। मुनियों में शिथिलाचार आ गया था – वे शास्त्रानुकूल चर्या नहीं

करते थे, गृहस्थों को हीन भावना से देखने लगे थे। पूजा एवं साधना पद्धति में विकार आ गये थे – रात्रि को पूजाएं होने लगी थीं किंतु इन सबके खिलाफ आवाज कौन उठाता?

ऐसे संक्रामक समय में स्वनामधन्य पंडित टोडरमलजी ने समाज की बागडोर अपने हाथ में संभाली। उनने उक्त बुराइयों को जड़ से उखाड़ने का बीड़ा उठाया और एक क्रांतिकारी विद्वान के रूप में समाज के समक्ष अपने आपको प्रस्तुत किया। वे रूढिवादी विद्वान् नहीं थे अपितु परीक्षक एवं सफल समालोचक थे। वे सदा निष्पक्ष दृष्टि से तत्त्व निर्णय करते थे; और वस्तु का सच्चा स्वरूप कहने में कभी किसी से डरते नहीं थे। मुनियों की तपस्या के संबंध में शिथिलाचार का वर्णन करते हुए उनने लिखा है :-

'तप करि पाप दूर होइ है। बहुत पापी भी होइ अर तप करै तो पाप को दूरि करै। बहुरि जो पाप करि करने का कारण तप तिस विषै हीं पाप लगावै तो वह सबसे अधिक नीच है। जो पाप ही करता होय सो तो नीच है अर पाप मेटने का मुनिलिंग धारै अर तिस विषैं दोष लगावै सो महानीच है। मुनिलिंग विषै दोष लगावना योग्य नाहीं।' (आत्मानुशासन)

मुनिपद कब धारण करना चाहिए तथा लोभ अथवा कषाय वश मुनि पद धारण कर, उसमें शिथिलाचार आ जाता है, उसके संबंध में वर्णन करते हुए लिखा है –

'मुनि पद लेने का तो क्रम यह है – पहिले तत्त्वज्ञान होय, पीछै उदासीन परिणाम होय, परीषहादि सहने की शक्ति होय तब वह स्वयमेव मुनि भया चाहै। तब श्री गुरु मुनि धर्म स्वीकार करावै। यह कौन विपरीत जो तत्त्वज्ञान रहित विषय-कषायासक्तजीव तिनकौं माया करि वा लोभ दिखाय मुनि पद देना पीछे अन्यथा प्रवृत्ति करावनी सो यह बड़ा अन्याय है।' (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

मुनियों के शिथिलाचार के संबंध में समालोचना करने पर पंडितजी को काफी भला बुरा सुनना पड़ता था। लोग उन्हें निगुरा कहते थे। इसी का उत्तर देते हुए उनने लिखा है –

'निगुरा तो वाका नाम है जो गुरु मानै ही नाही। बहुरि जो गुरु को तो मानै अर इस क्षेत्र विषै गुरु का लक्षण न देखि काहू को गुरु न मानै तो इस श्रद्धान तै तो निगुरा होता नाहीं।'

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

इसी प्रकार कुल परंपरा से धर्म पालन का निषेध करते हुए पंडितजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–

'इहां कोई जीवतो कुछ क्रम करि ही जैनी है, जैन धर्म का स्वरूप जानते नाहीं, परंतु कुल विषै जैसी प्रवृत्ति चली आई तैसे प्रवर्तै है। सो जैसे अन्य मती अपने कुल धर्म विषै प्रवर्तै है ऐसे ही यहु प्रवर्तै है। जो कुल क्रमहीतैं धर्म होय तो मुसलमान आदि सर्व ही धर्मात्मा होइ, जैन धर्म का विशेष कहा रह्या।'

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पंडितजी रूढ़िवादी विद्वान् नहीं थे, वे तो उसे समाप्त करना चाहते थे। रूढ़िवाद के पोषकों को उत्तर देते उनने लिखा है :-

'जो अपनी बुद्धि करि नवीन मार्ग प्रवर्तै तो युक्त नांही। जो परंपरा अनादि निधन जैन धर्म का स्वरूप शास्त्र विषै लिखा है, ताकी प्रवृत्ति मेटि पापी पुरुषां अन्यथा प्रवृत्ति चलाई तो ताको परंपरायमार्ग कैसे कहिये? बहुरि ताको छोड़ि पुरातन जैन शास्त्रनि विषै जैसा धर्म लिख्या था तैसे प्रवर्तै तो ताको नवीन मार्ग कैसे कहिये।'

'विवाहादि कुल संबंधी कार्य विषै तो कुल क्रम का विचार करना और धर्म संबंधी कार्य विषै कुल का विचार न करना। जैसे धर्म मार्ग सांचा है तैसे प्रवर्तना योग्य है।' (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है पंडितजी निर्भीक थे। वे सत्य बात को कहते डरते नहीं थे। धर्म एवं तत्त्व विवेचन में नि:संकोचपना तथा स्पष्टवादिता उनके समान अन्य किसी विद्वान में देखने को नहीं मिलती।

वे जाति मद करनेवाले से चिढ़ते थे। जो लोग जाति भेद को प्रोत्साहन देने वाले थे तथा जिनने अपने जाति मद में बह कर वात्सल्य धर्म को भुला दिया था। उनके प्रति जातिवाद का खंडन करते हुए पंडितजी ने लिखा है -

'कुल अपेक्षा आपको ऊंचा नीचा मानना भ्रम है; ऊंचा कुल का कोई निंद्य कार्य करै तो वह नीचा होइ जाइ अर नीचा कुलविषै कोई शलाघ्य कार्य करै तो वह ऊंचा होइ जाय।' (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

पंडित टोडरमलजी ने पोपडम का अंत किया एवं समाज को उनके चंगुल से छुड़ाया। समाज में स्वाध्याय एवं शिक्षा का पूर्ण प्रसार किया। उन्हीं के प्रभाव से स्त्रियाँ भी गोम्मटसार जैसे महान सैद्धांतिक ग्रंथों की स्वाध्याय एवं चर्चाएं करने लगी थीं।

इस तरह देखते हैं कि पंडितजी ने सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में फैली अज्ञानता तथा चारों ओर छाये हुए अंधविश्वास एवं कुरीतियों को समाप्त कर अज्ञानांधकार में भटकते हुओं को प्रकाश की रेखा दिखलाई। इतना ही नहीं, धार्मिक क्षेत्र में अनेक भ्रमपूर्ण मान्यताओं को दूर कर परीक्षा प्रधानी बनने तथा विवेकपूर्ण व्यवहार से काम लेने की सलाह दी। उनने ऐसे अज्ञानपूर्ण वातावरण में ज्ञान की ज्योति जगाई कि वह चिरकाल तक प्रज्ज्वलित होती रहेगी और प्राणीमात्र का उद्धार करने में सहयोगी देगी! वास्तव में पंडित टोडरमलजी महान सुधारक क्रांतिकारी विद्वान् थे। वे धार्मिक एवं समाजिक क्रांति के अग्रदूत थे।●●

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में करणानुयोग

श्री फूलचंद्र सिद्धांत शास्त्री, वाराणसी

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी की अमर कृति है। अपने रचना वैशिष्टय और श्रुतपरंपरा का अनुसरण करनेवाला होने से इसकी परिगणना आगम साहित्य में होती है। तीर्थंकर सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि सर्व भाषा स्वभाव परिणामवाली होने से मूलत: ढूंढारी भाषा में रचित इस ग्रंथ को दिव्यध्वनि का ही अंग स्वीकार करना उपयुक्त है। इस ग्रंथ का जो नाम है, उसे अनुरूप इसकी रचना हुई है, इसलिए यह गुण-नाम है। रचना की दृष्टि से यद्यपि ग्रंथ पूरा नहीं हो पाया है, पर इसका जितना भी अंश लिखा गया है, वह प्रकृत विषय का ज्ञान कराने के लिए पर्याप्त है। यह नौ अधिकारों में विभक्त है। आठवें अधिकार में पंडितजी ने प्रयोजनादि की अपेक्षा चारों अनुयोगों की सांगोपांग मीमांसा की है। यहाँ उसका करणानुयोग की अपेक्षा ऊहापोह किया जाता है।

तीर्थंकर सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि को गणधर देव ने जिन महाशास्त्रों में लिपिबद्ध किया, उन्हें गणिपिटक कहते हैं। ये महाशास्त्र मुख्यतया ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों में विभक्त हैं। किंतु कालदोष से उनका अवधारण करने में समर्थ महर्षियों का अभाव होते जाने से उत्तरोत्तर इनका विच्छेद होता गया। अतएव जो अंश इनका शेष बच गया, उसे आरातीय आचार्यों ने जिन शास्त्रों में लिपिबद्ध किया। उनकी संज्ञा है - प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनमें से किस अनुयोग में किस-किस विषय का संकलन हुआ है, इसका निर्देश दर्शन प्रभावक महान् आचार्य स्वामी समंतभद्र ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में किया है। वे करणानुयोग का स्वरूप निर्देश करते हुए लिखते हैं -

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च।।44।।

तात्पर्य है कि जिसमें लोकालोक का विभाग, युगपरिवर्तन और चारों गतियों का विशद विवेचन किया गया है, उसकी करणानुयोग संज्ञा है। उक्त श्लोक में आया हुआ 'चतुर्गति' यह पद उपलक्षण है। इससे गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीव समास तथा उनके अंतरंग-बहिरंग हेतुओं का भी परिग्रह हो जाता है।

इसके अनुसार षट्खंडागम, कषायप्राभृत तथा उनकी टीकाएँ, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार आदि महाशास्त्रों का करणानुयोग में परिग्रह होता है। 'करण' शब्द के तीन अर्थ मुख्य हैं - (1) परिणाम (2) गणित और (3) करणसाधन। करणानुयोग में यह नाम सार्थ है।

यह करणानुयोग का सामान्य अवलोकन है। पूर्व सूचनानुसार यहाँ इस संबंध में पंडितजी का जो वक्तव्य है, उसका अनुशीलन करना है। सर्व प्रथम पंडितजी ने चारों अनुयोगों का संक्षेप में स्वरूप बतलाकर अन्य अनुयोगों के साथ करणानुयोग के निरूपण के प्रयोजन का निर्देश किया है। यों तो समस्त जिनागम का तात्पर्य वीतरागता है। एकमात्र इस प्रयोजन की पुष्टि में समस्त जिनागम की रचना हुई है। साधारणत: करणानुयोग की रचना का मुख्य प्रयोजन भी यही है। फिर भी विषय विभाग से जो ग्रंथ रचना की जाती है, उसके अंतर्गत प्रयोजन अनेक होते हैं, इनका भी विशद विचार पंडितजी ने इस अनुयोग का प्रयोजन दिखलाते हुए किया है। उसमें कई दृष्टियों से पंडितजी ने इसका स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि–

(1) जब यह जीव, कर्मों का फल संसार की चतुर्गति में परिभ्रमण है, इसे जान लेता है, साथ ही इनके फल स्वरूप मिलनेवाली चारों गतियों और उनके स्थानों को जान लेता है, तभी यह जीव पाप से विमुख हो धर्म में रुचिवान होता है। एक तो करणानुयोग का यह प्रयोजन है।

(2) उपयोग को विषय कषाय से हटाकर धर्म में लगाना, इसका दूसरा प्रयोजन है, क्योंकि जब इस जीव का ऐसे विचार में उपयोग रम जाता है, तब विषय–कषायरूप पापप्रवृत्ति छूटकर स्वयमेव तत्काल धर्मभाव की प्राप्ति होती है।

(3) करणानुयोग का अभ्यास करने से इस जीव के चित्त में जब जिन धर्म का ऐसा महात्म्य उदित होता है कि ऐसा सूक्ष्म विचार जिनमत में ही है, अन्यत्र नहीं तब वह जिन धर्म का सच्चा श्रद्धानी हो जाता है। यह इसका तीसरा प्रयोजन है।

(4) जो तत्त्वज्ञानी जीव करणानुयोग का अभ्यास करते हैं, वे उन तत्त्वों के विषय में यह स्पष्ट जान लेते हैं कि जिन जीवादि तत्त्वों को मैंने जाना है, उनका ही विशेष व्याख्यान करणानुयोग में किया है। इससे वे जीवादि तत्त्वों का और उनके निश्चय–व्यवहाररूप विशेषणों का तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि का और निमित्त सापेक्ष कथन का, जहां जिस रूप में कथन है, वहाँ उसे उस रूप में यथार्थ जान लेते हैं। इससे उनका तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। ऐसा जानने से केवलज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थों का ठीक ज्ञान इनको हो जाता है। यह इसका चौथा प्रयोजन है।

(5) अन्यत्र उपयोग लगाने से राग की वृद्धि होती है, और छद्मस्थ का एकाग्र उपयोग निरंतर रहता नहीं, इसलिए भी ज्ञानी जीव अपने उपयोग को करणानुयोग के अभ्यास में लगाते हैं। यह इसका पाँचवाँ प्रयोजन है।

यह प्रयोजन का विचार है। आगे इसमें किस प्रकार का व्याख्यान है, इसका ऊहापोह करते हुए पंडितजी ने बतलाया है कि –

करणानुयोग में वैसा ही व्याख्यान किया गया है, जैसा केवलज्ञान के द्वारा जाना गया है। इतना अवश्य है कि केवलज्ञान के द्वारा जाना तो बहुत गया है परंतु जीव कर्मादिक का व त्रिलोकादिक का जितना निरूपण जीव के लिए कार्यकारी है, उतना ही व्याख्यान इस अनुयोग में किया गया है। साथ ही यह भी सुनिश्चित है कि उन जीव कर्मादिक का व त्रिलोकादिक का वचनों द्वारा पूरा निरूपण होना संभव नहीं है, इसलिए छद्मस्थ जितने व्याख्यान से उनके भाव को समझ सकता है, संकोच कर वचनगोचर उतना ही व्याख्यान इस अनुयोग में किया गया है। पंडितजी के इस अभिप्राय की पुष्टि गोम्मटसार, जीवकाण्ड से भी होती है। वहाँ कहा है –

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो।।334।।

अनभिलाप्य (वचन के द्वारा कहने में नहीं आ सकते) भावों के अनंतवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय भाव हैं और प्रज्ञापनीय भावों के अनंतवें भाग प्रमाण भाव श्रुतनिबद्ध हैं।।334।।

आगे भगवान की देशना एक नय के आधीन नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर पंडितजी ने सर्वप्रथम व्यवहारनय से करणानुयोग में किस प्रकार व्याख्यान है, इसे समझाने के लिए कई उदाहरण दिये हैं। उनमें 14 गुणस्थान, मार्गणास्थान, कर्मों के 8 या 148 भेद, तीन लोक की रचना, प्रमाण के संख्यात आदिक तीन भेद, क्षेत्र, काल, भाव आदिक से अखंडित वस्तु में प्रदेश, समय, अविभागप्रतिच्छेदादिक की कल्पना, गुण–पर्यायभेद कथन तथा अजीव–कर्मादिक के संबंध से उत्पन्न हुई गति, जाति आदि को एक जीव का कहनेरूप कथन को उदाहरणस्वरूप लिया है। इनमें से कई उदाहरण तो सद्भूत व्यवहारनय के कथन की दृष्टि से लिये गए हैं और कई उदाहरण असद्भूत व्यवहारनय के कथन की दृष्टि से लिये गये हैं। है यह सब कथन व्यवहारनय का विषय ही, इसका पंडितजी ने सुस्पष्ट निर्देश दिया है।

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि करणानुयोग में सब कथन व्यवहारनय से ही किया गया है, उसमें निश्चयनय की अपेक्षा कथन है ही नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया है कि करणानुयोग में जीवों की जो अनंत संख्या बतलाई है उसे निश्चय कथन ही जानना चाहिए, क्योंकि अपनी–अपनी स्वरूप सत्ता को लिए हुए जितने जीव हैं, उनकी संख्या अनंत है, यह कथन यथार्थ है। इन तीनों नयों में अंतर यह है कि निश्चयनय जो वस्तु जैसी है, उसका उसीरूप में कथन करता है, सद्भूतव्यवहार अखंड वस्तु का गुण–गुणी आदि भेदरूप से कथन करता है और असद्भूतव्यवहारनय अनेक द्रव्यों को मिलाकर उनका एक रूप से कथन करता है या अन्य के भाव को अन्य का कहता है, दोनों का तात्पर्य एक ही है।

करणानुयोग में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार का कथन पाया जाता है। जैसे मनुष्यादि पर्यायों को बहुत कालस्थायी कहना। यह स्थूल कथन है। तथा ज्ञानादि का जो अविभागप्रतिच्छेदों आदि की अपेक्षा कथन है, वह सूक्ष्म कथन है। सो जहाँ सूक्ष्म कथन हो, उसके विषय में पंडितजी का कहना है कि उसे जिन आज्ञा को प्रमाण मान कर स्वीकार करना चाहिए।

पंडितजी का यह भी कहना है कि करणानुयोग में छद्मस्थ जीवों की प्रवृत्ति के अनुसार कथन न होकर केवलज्ञानगम्य पदार्थों का ही निरूपण है। अपने इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए पंडितजी ने व्रती और अव्रती इन जीवों को सर्व प्रथम उदाहरणरूप में लिया है। चरणानुयोग और करणानुयोग के कथन में यह अंतर है कि चरणानुयोग में जीवों के अपनी बुद्धिगोचर प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म का उपदेश दिया जाता है और करणानुयोग में प्रवृत्ति की मुख्यता न होकर परिणामों की मुख्यता से कथन किया जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर करणानुयोग में व्रती और अव्रती संज्ञा किसकी है, इसे स्पष्ट करते हुए पंडितजी लिखते हैं कि जैसे कई जीव तो द्रव्यादिक का विचार करते हैं और व्रतादिक का पालन करते हैं, परंतु उनके अंतरंग में सम्यक्त्व चारित्र शक्ति नहीं प्रगट हुई है, इसलिए उनको करणानुयोग में अव्रती मिथ्यादृष्टि कहा गया है। तथा कई जीव द्रव्यादिक व व्रतादि का विचार नहीं कर रहे हैं, उस समय वे या तो अन्य कार्यों में लगे हुए हैं या निद्रादि वश निर्विचार हो रहे हैं, परंतु उनके सम्यक्त्व व चारित्र शक्ति प्रकट हो गयी है, इसलिए उनको करणानुयोग में सम्यक्त्वी व व्रती कहा गया है।

अपने इस अभिप्राय की पुष्टि में पंडितजी ने और भी कई उदहारण दिये हैं, सो उन सबका विचार उन्होंने उसी सरणी से किया है जिसका निर्देश अनंतर पूर्व हम कर आये हैं। पूर्वोक्त कथन से उनके इस कथन में विशेष अंतर नहीं है, इसलिए उन उदाहरणों का यहां अलग से स्पष्टीकरण नहीं कर रहे हैं।

इसी प्रसंग से पंडितजी ने एक महत्त्व की सूचना की है। उनका कहना है कि रत्नत्रयरूप निश्चय धर्म गुणस्थान क्रम से जिस सूक्ष्मता से प्रगट होता है, उसका कथन कर्म प्रकृतियों के उपशमादि की अपेक्षा करणानुयोग में किया गया है, परंतु करणानुयोग के अनुसार उद्यम करना इस कथन का प्रयोजन नहीं है। करणानुयोग में तो जहाँ जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसका ज्ञान कराना ही मुख्य प्रयोजन है। उसमें आचरण कराने की मुख्यता नहीं है। इसलिए प्रवृत्ति तो चरणानुयोग के अनुसार करनी चाहिए। ऐसी प्रवृत्ति करते हुए वहाँ जो कार्य होता है, वह स्वयमेव ही होता है।

किंतु इतना लिखने के बाद पंडितजी ने इससे भी अधिक एक महत्त्व की सूचना और की है। उनके उस कथन का आशय है कि द्रव्यकर्म तो पर द्रव्य की पर्याय है, उसका उपशमादि कार्य हम कर

नहीं सकते। हम तो चरणानुयोग के अनुसार मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए द्रव्यानुयोग के अनुसार जीवादि तत्त्वों के विचार का पुरुषार्थ कर सकते हैं। ऐसा करने से भेद विज्ञान की जागृति के साथ स्वयमेव उपशमादि सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है।

यहाँ पंडितजी ने प्रवृत्ति चरणानुयोग के अनुसार और तत्त्वविचारादि द्रव्यानुयोग के अनुसार एक साथ करने का निर्देश करके जिस अनुपम मार्ग का सूचन किया है, वह प्रत्येक भव्य के लिए उपादेय है, इसमें संदेह नहीं।

आगे उक्त तथ्य को एक दूसरा उदाहरण देकर पुष्ट किया है और अंत में पुन: यह सूचना की है कि करणानुयोग के अनुसार जो वस्तु जैसी हो, उसे वैसी जान तो ले, परंतु प्रवृत्ति बुद्धिगोचर जिस प्रकार भला हो उस प्रकार से करे।

इतना सब लिखने के बाद पंडितजी ने करणानुयोग के कथन के कुछ ऐसे उदाहरण भी उपस्थित किये हैं, जिन्हें करणानुयोग में जैसा कथन है, वैसा सर्वथा मानना नहीं बनता। उदाहरणार्थ करणानुयोग में 'वासो तिगुणो परि ही–व्यास को तीन से गुणा करने पर परिधि होती है' यह कहा गया है। किंतु यह स्थूल कथन है, सूक्ष्मता से विचार करने पर परिधि का प्रमाण साधिक तीन गुणा है। करणानुयोग में इस सूक्ष्म परिधि के निकालने के भी नियम दिए गए हैं। अत: ऐसे स्थलों पर यही निर्णय करना चाहिए कि मन्द बुद्धि जीवों को ज्ञान कराने के अभिप्राय यह स्थूल कथन किया गया है। इस प्रकार करणानुयोग में किस प्रकार व्याख्यान है, इसे पंडितजी ने बहुत ही प्राञ्जल शब्दों में समझाया है।

आगे अनुयोगों में कथन पद्धति का निर्देश कर अन्य अनुयोगों के समान करणानुयोग के विषय में भी कतिपय शंकाएं उपस्थित कर उनका समाधान किया है। उनका सबका सार यह है कि व्रत पालना, दान देना यह सब तो कषाय घटाने का बाह्य निमित्त है, करणानुयोग का अभ्यास उसका अंतरंग निमित्त है। इसलिए आत्मकार्य का मुख्य निमित्त जान उसके अभ्यास में अपने उपयोग को लगाना प्रत्येक भव्य जीव का कर्तव्य है। यद्यपि करणानुयोग का अभ्यास सुगम नहीं है, परंतु ऐसा जानकर कि जिसका अभ्यास करना सुगम है, उसमें उपयोग बहुत काल तक स्थिर रहता नहीं, इसलिए कठिन होने पर भी अपनी बुद्धि के अनुसार करणानुयोग के अभ्यास में अपना चित्त लगाना चाहिए। खेद मानकर उसके अभ्यास से विरत होना योग्य नहीं है। मुख्य प्रयोजन धर्म की प्राप्ति है ऐसा जान उसके अभ्यास में प्रयत्नशील होना यही श्रेयस्कर है।

यह मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अध्याय के आधार से करणानुयोग के कथन का क्या प्रयोजन है, उसमें किस प्रकार का कथन है इत्यादि विषयों की सामान्य मीमांसा है। इससे तत्त्वज्ञान की दृष्टि से समग्र मोक्षमार्ग प्रकाशक की क्या महत्ता है यह सहज ही समझ में आ जाता है। पंडितजी व्याकरण,

न्याय, छंदशास्त्र आदि के प्रखर अध्येता होने के साथ चारों अनुयोगों के मर्मज्ञ विद्वान थे। उनकी प्राञ्जल लेखनी से जो कुछ भी लिखा गया है, वह आगम ही लिखा गया है। अर्वाचीन जितने विद्वान हो गये हैं, उनमें उनका स्थान सर्वोपरि है। उनका यह मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ उनकी मौलिक कृति है। उसमें सभी अनुयोगों के कथन का समावेश हो गया है। यदि करणानुयोग की दृष्टि से देखा जाय तो समग्र ग्रंथ में उसका भरपूर उपयोग हुआ है। वर्तमान समय के विद्वानों में निमित्त-उत्पादन तथा निश्चय-व्यवहार के विषय में अत्यधिक विवाद है, परंतु उस विवाद को हल करने के लिए एकमात्र मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ का स्वाध्याय पर्याप्त है। परमागम में यत्र-तत्र विवक्षाभेद से अनेक प्रकार का कथन पाया जाता है, उसे समझने के लिए भी पर्याप्त मार्गदर्शन इसमें किया गया है। ऐसा अपूर्व यह मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ है। उसकी 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' प्रसिद्धि बनी रहे - यह हार्दिक कामना है। ●●

बाह्य व्रतादिक है सो तौ शरीरादि परद्रव्य के आश्रय हैं। परद्रव्य का आप कर्त्ता है नाहीं, तातैं तिस विषै कर्तृत्व बुद्धि भी न करनी और तहां ममत्व भी न करना। बहुरि व्रतादिक विषै ग्रहण त्याग रूप अपना शुभोपयोग होय सो अपने आश्रय है। ताका आप कर्त्ता है, तातैं तिस विषैं कर्तृत्व बुद्धि भी माननी अर तहां ममत्व भी करना। बहुरि इस शुभोपयोग को बंध का ही कारण जानना, मोक्ष का कारण न जान जाना, तातैं बंध अर मोक्ष के तो प्रतिपक्षीपना है। तातैं एक ही भाव पुण्य बंध को भी कारण होय, और मोक्ष को भी कारण होय ऐसा मानना भ्रम है। तातैं व्रत अव्रत दोऊ विकल्प रहित जहां परद्रव्य के ग्रहण त्याग का किछू प्रयोजन नाहीं, ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग सोई मोक्षमार्ग है।

उनके अधूरे कार्य को पूरा किया जाय

श्री हीरालालजी सिद्धांत शास्त्री, ब्यावर

(यह परम हर्ष की बात है कि श्री टोडरमलजी की स्मृति में श्री सेठ पूरणचंद्रजी गोदीका एवं उनके परिवार ने जयपुर में एक विशाल भवन का निर्माण कराया है और उसके उद्घाटन के साथ 'द्विशताब्दी समारोह' एवं पंडित टोडरमलजी-स्मृति ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। इस अवसर पर उपस्थित होनेवाले विद्वद्-वर्ग से और साथ ही भवन के व्यवस्थापकों से मैं निवेदन करूंगा कि वे परस्पर विचार-विनिमय करके ऐसी व्यवस्था करें कि कुछ सिद्धांत-मर्मज्ञ मूर्धन्य विद्वान् उक्त भवन में एक साथ बैठकर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के अधूरे रह गये अंश को मल्लजी सा० की ही विचार सरणी का आश्रय लेते हुए उसे पूरा करने के लिए संलग्न हों, तभी उक्त भवन की सच्ची सफलता समझी जायेगी।

जब तक यह कार्य संभव न हो, तब तक निम्न सातों स्थलों का मार्मिक विवेचन अधिकारी विद्वानों से लिखवा कर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के परिशिष्ट के रूप में प्रकट कराने की व्यवस्था तो उक्त भवन की ओर से होनी ही चाहिए।)

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी से सारा जैन समाज भलीभाँति परिचित है। उन्होंने सिद्धांत-ग्रंथ गोम्मटसार आदि की हिन्दी टीका करके, तथा 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' जैसा मौलिक ग्रंथ लिखकर जैन समाज का जो उपकार किया है, वह युगांत तक उनकी धवल-कीर्ति का विस्तार करता रहेगा।

यह हमारे दुर्भाग्य की ही बात समझनी चाहिए कि मल्लजी सा० अपनी इस अपूर्व कृति को पूरा नहीं कर सके। ग्रंथ के वर्तमान रूप को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जिस रूप में प्रस्तुत ग्रंथ की रचना करना चाहते थे, वह रचितरूप से कम से कम तिगुना बड़ा अवश्य होता, क्योंकि नवें अध्याय से उन्होंने सम्यग्दर्शन का वर्णन करना प्रारंभ किया है। अत: उसके सांगोपांग वर्णन के पश्चात् वे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का भी विस्तार से तद्विषय-सम्बद्ध उठनेवाली नाना शंकाओं का समाधान करते हुए वर्णन करते। इसी के साथ उन-उन प्रकरणों पर भी वे अवश्य लिखते, जिनके कि विस्तार से आगे कहने की बात रचे गये ग्रंथ में अनेक बार कही है। मैं यहां पर उन स्थलों की एक सूची दे रहा हूँ, जिन पर आगे वर्णन करने के लिए मल्लजी सा० ने लिखा है - यह सूची निर्णयसागर से मुद्रित सन् 1911 के इस ग्रंथ के संस्करण से दी जा रही है, जो कि दिगम्बर जैन नामक मासिक पत्र के पंचम वर्ष के उपहार के रूप में प्रकट हुआ था।

(1) पृष्ठ 42 की 12वीं पंक्ति में कर्मों की प्रति समय सत्ता बतलाते हुए लिखा है - 'सो इन सबनिका विशेष आगैं कर्म अधिकार विषैं लिखैंगे, तहां जानना।'

इस उल्लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के वर्णन में यथावसर कर्मों का विस्तृत विवेचन एक स्वतंत्र अधिकार के द्वारा करना चाहते थे।

(2) पृष्ठ 193 की पंक्ति दूसरी में वीतराग सर्वज्ञदेव और परिग्रह रहित निर्ग्रंथ गुरु का उल्लेख कर लिखा है – 'सो इनका वर्णन इस ग्रंथ विषैं आगैं विशेष लिखैंगे, सो जानना।'

यह उल्लेख स्पष्ट कह रहा है कि वे सम्यग्दर्शन के प्रकरण में सत्यार्थ देव–गुरु–शास्त्र का विशेष निरूपण करना चाहते थे।

(3) पृष्ठ 223 पर सम्यग्दर्शन के स्वरूप की चर्चा करते हुए 15वीं पंक्ति में वे लिखते हैं – 'तातैं सम्यक् श्रद्धान का यह स्वरूप नाहीं। सांचा स्वरूप है सो आगैं वर्णन करेंगे, सो जानना।'

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि वे सम्यग्दर्शन के प्रकरण में 'सत्यार्थ तत्त्वार्थ–श्रद्धान' क्या है, इसका विस्तृत विवेचन करना चाहते थे।

(4) पृष्ठ 224 में श्वेताम्बरों के मत की चर्चा करते हुए प्रथम पंक्ति से लिखते हैं – 'और उनका मत के अनुसारि गृहस्थादिककै महाव्रत आदि बिना अंगीकार किए भी सम्यक्चारित्र हो है, तातैं यह स्वरूप नाहीं। सांचा स्वरूप अन्य है, सो आगैं कहेंगे।'

इस उल्लेख से विदित होता है कि मल्लजी सा० सम्यक्चारित्र के प्रकरण में श्वेताम्बरीय उक्त मान्यताओं पर विशद प्रकाश डालनेवाले थे।

(5) पृष्ठ 238 पर पाँचवें अध्याय का उपसंहार करते हुए 6 वीं पंक्ति में वे कहते हैं – 'सांचा जिनधर्म का स्वरूप आगैं कहैं हैं, ताकरि मोक्षमार्ग विषैं प्रवर्तना योग्य है।'

इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे 'सच्चे जिनधर्म का स्वरूप' आगे बहुत विस्तार से कहनेवाले थे।

(6) पृष्ठ 335 पर द्रव्यलिंगी मुनि की प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए पंक्ति 17 में लिखा है – 'सो अभिप्राय विषैं वासना है, ताका फल लागै है। सो इसका विशेष व्याख्यान आगैं करैंगे।'

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि पंडितजी सा० सम्यक्चारित्र के प्रकरण में 'द्रव्यलिंगी मुनि के मनोभावों का सूक्ष्म चित्रण' करना चाहते थे।

(7) पृष्ठ 458 पर सम्यक्त्वी जीव के सांसारिक कार्य करते हुए भी उसके सत्यार्थ श्रद्धान बने रहने का वर्णन करते हुए पैरा दूसरे की पंक्ति 5 में वे लिखते हैं – 'विषयसेवनादि कार्य वा क्रोधादि कार्य करै है, तथापि तिस श्रद्धान का वाकैं नाश न हो है। याका विशेष निर्णय आगैं करैंगे।'

इस उल्लेख से सिद्ध है कि वे अविरत सम्यग्दृष्टि के उन मनोगत भावों का विस्तार से आगे निरूपण करना चाहते थे जिन्हें कि वह हेय जानते हुए भी चारित्र मोह के प्रबल उदय के कारण छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है।

यह परम हर्ष की बात है कि श्री टोडरमलजी की स्मृति में श्री सेठ पूरणचंद्रजी गोदीका एवं उनके परिवार ने जयपुर में एक विशाल भवन का निर्माण कराया है और उसके उद्घाटन के साथ 'द्विशताब्दी समारोह' एवं पंडित टोडरमलजी-स्मृति ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। इस अवसर पर उपस्थित होनेवाले विद्वद्-वर्ग से और साथ ही भवन के व्यवस्थापकों से मैं निवेदन करूँगा कि ये परस्पर विचार-विनिमय करके ऐसी व्यवस्था करें कि कुछ सिद्धांत-मर्मज्ञ मूर्धन्य विद्वान् उक्त भवन में एक साथ बैठकर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के अधूरे रह गये अंश को मल्लजी सा० की ही विचार सरणी का आश्रय लेते हुए उसे पूरा करने के लिए संलग्न हों, तभी उक्त भवन की सच्ची सफलता समझी जायेगी।

जब तक यह कार्य संभव न हो, तब तक ऊपर बतलाये हुए उक्त सातों स्थलों का मार्मिक विवेचन अधिकारी विद्वानों से लिखवाकर मोक्षमार्ग प्रकाशक के परिशिष्ट के रूप में प्रकट कराने की व्यवस्था तो उक्त भवन की ओर से होनी ही चाहिए।

आशा है 'टोडरमल स्मारक भवन' के निर्माता एवं उनके द्विशताब्दी समारोह के प्रस्तोता महानुभाव मेरे इस नम्र निवेदन पर ध्यान देकर पंडितजी सा० के अधूरे मोक्षमार्ग प्रकाशक को पूरा कराने के लिए अवश्य प्रयत्नशील होंगे। ●●

मोक्षमार्ग प्रकाशक एक असाधारण ग्रंथ

श्री क्षुल्लक - शीतलसागरजी

लगभग 18 वर्ष पहले की बात है, पंडित टोडरमलजी रचित 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नामक ग्रंथ देखने में आया। तथा उस समय उसका आद्योपांत स्वाध्याय भी किया। प्रस्तावना के पढ़ने से पंडितजी के विषय में जानकारी हुई। यद्यपि पहले अन्य और भी बहुत से ग्रंथों का स्वाध्याय किया गया था, लेकिन जैसा आकर्षण इस ग्रंथ ने मेरा अपनी ओर किया, आज तक अन्य ने नहीं किया और न आगे किसी अन्य ग्रंथ से आशा ही है। अब भी इस ग्रंथ को पढ़ने की रुचि बनी ही रहती है।

वास्तव में पंडित टोडरमलजी एक महान आश्चर्यकारी विद्वान थे। उनके पूर्व जन्म का ऐसा कोई असाधारण संस्कार कहना चाहिए, जिसके बल पर उन्होंने अल्पायु में न्याय, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों का महान अध्ययन करके अपना संपूर्ण जीवन साहित्य-सेवा में समर्पित किया। यदि वे अपनी पूर्ण आयुपर्यंत जीवित रहते तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वे कितने ही प्राचीन ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद करके समाज-कल्याण में अत्यधिक सहायक होते। फिर भी उन्होंने अपने समय की प्रचलित हिन्दी भाषा में जो अनेक प्राकृत व संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया है तथा स्वतंत्र रचनायें की हैं, उनसे बहुत कल्याण हुआ है और हो रहा है।

सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य रचित गोमट्टसार (कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड), लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार आदि प्राकृत ग्रंथों का एवं गुणभद्राचार्य रचित 'आत्मानुशासन', अमृतचंद्र सूरि विरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' आदि संस्कृत ग्रंथों का सर्व प्रथम हिन्दी अनुवाद करने का श्रेय पंडितजी को ही है। ऐसे जटिल ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद करके उनको पाठकों के समाने लाना साधारण बात नहीं है। यह उनकी प्रखर प्रतिभा का परिचायक है।

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पंडितजी की स्वतंत्र रचना है। जो कि चारों अनुयोगों के शास्त्रों का गंभीर अध्ययन करने के बाद में लिखी गई है। रचना सचमुच में मोक्षाभिलाषियों को मोक्ष प्राप्ति में प्रकाश प्रदान करनेवाली है। जो इसको एक बार पढ़ना प्रारंभ कर देता है, उसका जी यह नहीं चाहता कि इसे अपूर्ण रहने दिया जाये तथा जो एक बार इसे पढ़ लेता है, उसकी दूसरी, तीसरी व चौथी बार पढ़ लेने की भावना बनी रहती है। इसका एक बार भी ध्यान से पढ़ लेने पर वह जीव अपनी अनादिकालीन मिथ्यावासना को छोड़ने के लिए अवश्य प्रेरित होता है। पर समाज का दुर्भाग्य है कि पंडितजी उसे अपने जीवन काल में परिपूर्ण नहीं कर सके। फिर भी पुस्तकाकार 503 पृष्ठों में जो विवेचन है वह आत्मकल्याण के लिये अपने ढंग का निराला है - इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते।

पंडित टोडरमलजी ने इस ग्रंथ को रचने में मनोवैज्ञानिक जैसा कार्य किया है और तभी उन्होंने पढ़नेवालों को पढ़ते-पढ़ते जहाँ-जहाँ जो-जो शंका होना मालूम हुआ, वह शंका लिखकर उचित समाधान किया है।

इस ग्रंथ की पंडितजी के द्वारा स्वयं की लिखी हुई प्रतिलिपि अभी तक जयपुर के दीवान बधीचंदजी के दिगम्बर जैन मंदिर में विद्यमान है। इसे देखने का सौभाग्य मुझे मिला था। जैन समाज का ऐसा कोई विरला ही मंदिर बचा हो जहाँ यह ग्रंथ न हो। इन बीस वर्षों में तो इस ग्रंथ की हजारों की तादाद में प्रतियाँ छपकर वितरित हो चुकी हैं जो कि पंडितजी द्वारा रचित इस ग्रंथ के असाधारण महत्व को प्रकट करती है। मेरी भावना है कि ऐसे महान् ग्रंथ का प्रत्येक व्यक्ति स्वाध्याय करे और सही कल्याण मार्ग को अपनावे। ●●

मोक्षमार्ग प्रकाशक – एक अध्ययन

श्री जुगलिकशोर जैन 'युगल', एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा

आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी का मोक्षमार्ग प्रकाशक हिन्दी जैन-गद्य-साहित्याकाश का दैदीप्यमान चन्द्र है। भाव, भाषा और शैली की अपनी निराली विशेषताओं से समन्वित यह ग्रंथ वास्तव में हिन्दी साहित्य की एक अनुपम निधि है। मोक्षमार्ग के प्रकाशन जैसे जगत के सबसे भारी उत्तरदायित्व को लेकर इसका प्रणयन हुआ और इस उद्देश्य का इसमें जो सर्वांग निर्वाह हुआ है, वह वास्तव में स्तुत्य है। अनवधि अज्ञान-तमावृत्त अंत: चक्षुओं के घन-आवरण को ध्वस्त कर ध्रुव ज्ञानालोक का अनायास उद्घाटन कर देनेवाला मोक्षमार्ग प्रकाशक निश्चय ही सत् साहित्य का शृंगार है, जो विश्व के एक सर्व महान प्रयोजन और जगत की एक कठिनतम समस्या का सरलतम समाधान प्रस्तुत करता है। जागतिक दु:ख और उनके कारणों की बुद्धिगम्य सम्यक्विवेचना देकर शाश्वत् सुख का मार्ग खोल देनेवाली यह अमर साहित्यिक कृति सभी दृष्टि से अतोल और अमोल है। मोक्षमार्ग प्रकाशक का प्रणेता नि:संदेह लोक-मांगल्य का पवित्र अधिष्ठाता है जो अज्ञान का रूप धरकर कर संपूर्ण विश्व में छाये हुए अमंगल का विघटन कर लोक में निराकुल शांति की पुनीत प्रतिष्ठा चाहता है; और लोक में इससे महान् किसी इतर कार्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस अर्थ में पंडित

टोडरमल एक महान् लोकदृष्टा और एक महान लोक-स्रष्टा भी हैं। भ्रांत लोकजीवन को शाश्वत सत्य की पुनीत दिशा देने का गुरुतर भार अपने शीश पर लेकर मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसी लघु-सी कृति के माध्यम से इसे जिस कौशल से निभाया गया है, वह आश्चर्योत्पादक है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक का प्रणेता एक धार्मिक विद्वान ही हो ऐसी बात नहीं है, वरन वह एक सुलझा हुआ सुधारक भी है। व्यक्ति तथा समाज की पतन-प्रणालियों-रूढ़ियों एवं मूढ़ताओं का वह कट्टर शत्रु है, जिसके संकेत मोक्षमार्ग प्रकाशक में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। धार्मिक अंध-विश्वास उसे पसंद ही नहीं है। तत्त्व की तुला पर जो हल्का सिद्ध हो जाता है, वह उसे कभी भी मान्य नहीं है। और वह किसी भी सत्य-गवेषी को मान्य नहीं हो सकता। सागर के तट से वह भीख नहीं मांगता वरन् उसकी गहराइयों में जाकर मोती निकालता है। और पंडित टोडरमलजी की यही विशेषतायें अंत में उनके बलिदान का कारण भी बनीं जो इस बात का प्रतीक है कि तत्कालीन भारतीय समाज सांप्रदायिकता का हलाहल पीकर उन्मत्त हो चुका था और निश्चय ही पंडित टोडरमल जैसे महापुरुष का बलिदान समुज्ज्वल भारतीय संस्कृति के मस्तक पर एक ऐसा कलंक है, जिसका विनाश सांप्रदायिकता के विनाश के साथ ही संभव है, अन्यथा नहीं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की भाषा :- पंडित टोडरमलजी प्राकृत और संस्कृत भाषा के भी बहुत बड़े विद्वान् थे और वे संस्कृत में काव्य रचना भी करते थे। इसके साथ न्याय, व्याकरण, काव्य, छंद, अलंकार आदि का भी उनको अच्छा ज्ञान था। फिर भी मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना सरल हिन्दी (ढूंढारी) में करके उन्होंने लोक की एक बड़ी भारी आवश्यकता का सम्मान किया है। यद्यपि ढूंढारी एक सीधी सादी भाषा है किंतु पंडित टोडरमलजी के सबल मस्तिष्क का सहचार पाकर वह चमत्कृत हो उठी है। और उसमें सतर्क अध्यात्म के गंभीर भावों के भार को संभालने की अनूठी क्षमता उत्पन्न हो गई है। भाषा सुबोध, सुकोमल तथा सुमधुर है और संसार के प्रचंडताप से तप्त प्राणी को मुक्ति के शीतल सलिल का सिंचन सी देती प्रतीत होती है। मोक्षमार्ग प्रकाशक की वाक्य रचना भी ऐसी नपी तुली है कि उसमें शब्दों की हानिवृद्धि अथवा परिवर्तन संभव ही नहीं लगता। संस्कृत और प्राकृत के कठिन भाषा-विधानों में प्रतिबद्ध तथा आधुनिक मानव के लिये अगम्य-सा अध्यात्म लोकभाषा में पंडित टोडरमल जैसे अध्यात्म के कुशल प्रवक्ता की लेखनी में उन्मुक्त होकर मोक्षमार्ग प्रकाशक के बहाने सत्य के दर्शन हेतु मानों मानव मात्र का आह्वान कर रहा है।

शैली - मोक्षमार्ग प्रकाशक की विषय प्रतिपादन शैली अनूठी है और लेखक का संपूर्ण व्यक्तित्व इसमें उभर आया है। ढूंढारी जैसी सीधी सादी भाषा जिसमें किसी गंभीर विषय के प्रतिपादन के लिये पूरा शब्द कोश भी उपलब्ध नहीं हो सकता और उसके साथ अध्यात्म जैसा सूक्ष्म और गंभीर

विषय-भाषा और विषय के इस विरोध का पंडित टोडरमलजी की शैली में इस प्रकार समन्वय हुआ है कि समूचे ग्रंथ में कहीं भी भाषा विषय से पीछे नहीं रही है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की वाक्य रचना तथा विषय प्रतिपादन शैली बड़े ही संक्षिप्त हैं। और पंडित टोडरमलजी की यह एक बड़ी भारी विशेषता है कि विषय प्रतिपादन और वाक्य रचना के संकोच में भी कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है और कोई विषय छूटा भी नहीं है। व्यर्थ का विस्तार तो उसमें है ही नहीं। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिये सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ किसी विषय का विस्तार भी हुआ है, वहाँ उत्तरोत्तर उसमें नवीनता भी आती गई है। और वह विस्तार विषय के सांगोपांग विवेचन की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होंने छुपा है, उसमें 'क्यों' का प्रश्न-वाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्‌भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज ही हृदयंगम हो जाता है और कोई समाधान ही शेष नहीं रहता।

अध्यात्म जैसे गूढ़ विषय का विवेचन होने पर भी समग्र मोक्षमार्ग प्रकाशक की शैली में एक औपन्यासिक छटा है। पढ़ते पढ़ते जी अघाता नहीं है और आगे बढ़ने की उत्सुकता शांत होती ही नहीं है। और मोक्षमार्ग प्रकाशक के पाठक की उत्सुकता तो इस ग्रंथ की अपूर्णता के कारण सदा के लिए अमर बन गई है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की शैली की एक अन्य बड़ी विशेषता उसका तर्क-पाटव तथा उसका तर्क-बाहुल्य है। उसकी तर्क-वाटिका की बहुरंगी छटा दर्शनीय है। तर्क-स्थलों में पंडित टोडरमलजी की प्रतिभा किसी बड़े भारी तर्क शास्त्री को भी चुनौती सी देनी लगती है। उनका मस्तिष्क तर्क ढूंढने में जितना निपुण है उसके हृदयग्राही समाधान में भी वह उतना ही कुशल है। साथ ही तर्क का आगमन कहीं भी लोक-रंजन अथवा अपनी विद्वत्ता या प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित करके किसी पर अपना बौद्धिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिये बल पूर्वक नहीं हुआ है। किंतु विषय के प्रतिपादन क्रम में सहज ही उसका उदय हुआ है। और मोक्षमार्ग के गूढ़ विषय को सुगम बनाकर आत्मसात् कर देने की लोक हितकारी भावना उसमें सर्वत्र ही आविर्भूत रही है। उनके तर्कों में आग्रह नहीं है। सिद्धांत के उत्तुंग मेरु के समक्ष उनके तर्क सजल मेघ के समान बरस पड़ते हैं। पंडित टोडरमलजी तर्क शास्त्र के विशेषज्ञ विद्वान् नहीं किंतु उनके तर्क मानव मन की सहज संभावनाएं हैं। अपने तर्क की सिद्धि सर्वत्र ही पंडित टोडरमलजी उदाहरणों के द्वारा करते हैं। उनकी प्रतिभा में से उदाहरण इस प्रकार फूट निकलते हैं। जैसे किसी सुमन कलिका के उद्‌घाटन पर पराग एवं सौरभ फूट निकलते हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक में सर्वत्र ही विषय को हृदयंगम करने में उदाहरणों का योग बड़ा ही अनमोल रहा है। लोक-कल्याण प्रेरित उनके तर्क और उदाहरणों की नैसर्गिकता पर मंत्र-मुग्ध सा मन इनके प्रति बरबस ही श्रद्धावनत होकर उनके प्रतिपादित तत्त्व को आत्मसात् करने के लिए आतुर हो उठता है।

मोक्षमार्ग के प्रकाशन तुल्य एक गुरुतर उत्तरदायित्व लेकर चलनेवाली किसी मौलिक सैद्धांतिक कृति की एक यह भी विशेषता होनी चाहिए कि उसका प्रत्येक तथ्य युक्ति तथा आगम-सम्मत हो अन्यथा उसके प्रणयन से लोक के भ्रांत होने जैसे भारी अनर्थों की संभावनाएं रहती हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक में पंडित टोडरमलजी ने अपनी शैली में सर्वत्र ही इस नीति का अनुगमन किया है। और जहाँ अपने कथनों की सिद्धि में उन्होंने युक्ति का अवलंबन लिया है वहाँ साथ ही आर्ष आचार्यों के मूल उद्धरणों को आगम प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करके उस कथन की पुष्टि की है जिससे संदेह को संपूर्ण संभावना समूल निरस्त हो गई है।

भाव – ग्रंथ के नाम से ही जैसा स्पष्ट है मोक्षमार्ग प्रकाशक आद्योपांत मोक्षमार्ग का ही विज्ञापन करता है। मुक्ति ही उसका विषय है। अत: इस ग्रंथ में पंडित टोडरमलजी की समस्त भावाभिव्यक्ति इसी विषय का अनुशीलन करती रही है। मुक्ति का प्रतिपक्षी संसार तथा उसके अंतरंग और बहिरंग कारण तथा संसार का प्रतिपक्षी मोक्ष एवं उसके अंतरंग और बहिरंग साधनों की इतनी सुंदर सांगोपांग विवेचना हुई है कि हृदय मुग्ध हो जाता है पंडित टोडरमलजी ने जिस विषय को उठाया है, उसकी खाक छान डाली है। संसार और मुक्ति से संबंधित कोई बात उन्होंने उठा नहीं रखी है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के शंका-समाधान स्थलों को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लेखक कोई बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। किसी विषय के संबंध में मन में जितनी शंकाओं का उत्थान संभव हो सकता है, एक-एक करके अपने सुंदर क्रम में उन सभी का अवतरण मोक्षमार्ग प्रकाशक में हुआ है। और फिर उनका समाधान तो यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि क्या इस युग में किसी ऐसे मेधावी पुरुष का अस्तित्व भी संभव हो सकता है? प्रज्ञा के कोष इस पुरुष ने जिस विषय को छुआ है, उसका वे कोना कोना झांक आये हैं। इन स्थलों में किसी जटिल मस्तिष्क का स्नायु मण्डल ही शिथिल हो जाता है और वह अपनी संचित शेमुषी को नम्रीभूत होकर लेखक के चरणों में विकीर्ण कर देता है।

समग्र ही मोक्षमार्ग प्रकाशक में पंडित टोडरमलजी को सत्य का आग्रह रहा है। सत्य की स्वीकृति में जहाँ वे सुमन से कोमल हैं, असत्य के परिहार में वहाँ वे शैल-से कठोर हैं। उनके संपूर्ण तत्त्वज्ञान का आधार वीतराग विज्ञान है क्योंकि मुक्ति सौख्य का एकमात्र वही साधन हो सकता है। अत: वीतरागता का विरोध उन्हें कभी सह्य नहीं रहा है। उनके सभी कथन तर्क, आगम और अनुभव से प्रमाणित हैं। अत: वहाँ असत्य के परिग्रह अथवा मनोकल्पना के लिये कोई अवकाश नहीं है। सत्य ही मानों उनका जीवन-दर्शन है। अत: उसके प्रतिपादन में असत्य का परिहार स्वयमेव ही हो गया है। असत्य के समर्थक को सत्य कड़वा लगता ही है। अत: सत्य से उसे स्वाभाविक ही द्वेष हो जाता है। किंतु पंडित टोडरमलजी का सत्याग्रही स्वाभिमान असत्य के समक्ष कभी झुकता ही नहीं है। उनमें न

लौकैषणा है और न लोकरंजन क्योंकि इनमें सत्य कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता, जीवन में इनकी अपेक्षा सदा ही असत्य की ओर अग्रसर करती है।

पंडित टोडरमलजी एक बड़े भारी अध्यात्म दृष्टा हैं। अध्यात्म उनके जीवन में साकार हो चला था। अत: अध्यात्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के विवेचन की उनमें महती क्षमता परिलक्षित होती है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में उनका अध्यात्म उनकी स्पर्द्धास्पद विद्वत्ता का सहचार पाकर चमत्कृत हो उठा है।

यद्यपि मोक्षमार्ग प्रकाशक एक आध्यात्मिक ग्रंथ है किंतु उसमें यत्र-तत्र तत्कालीन समाज की अवस्था के भी अनेक संकेत बिखरे पड़े हैं। देश में सांप्रदायिकता निरंकुश हो चुकी थी। जिसका संकेत दूसरे अधिकार में क्रोध के वर्णन में इस प्रकार उपलब्ध होता है - 'तहां क्रोध का उदय होते पदार्थनिविषैं अनिष्टपनौ वा ताका बुरा होना चाहै, कोऊ मंदिरादि अचेतन पदार्थ बुरा लागै तब फोरना तोरना इत्यादि करि वाका बुरा चाहै'। उस समय जैन समाज भट्टारकीय प्रवृत्तियों से प्रभावित हो चुका था। जैन साहित्य तथा जैनाचार में उनके कारण विकृति तथा शैथिल्य का समावेश हो चुका था जिसका वर्णन पंडित टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है - ''(प्रथम अध्याय) इस निकृष्ट काल विषै उत्कृट जैनमत का घटना तो भया.... ऐसे तीव्र कषाय जैनाभास इहां इस निकृष्ट काल विषै हो है।'' ''(8वाँ अधिकार) इस काल विषै कोई जैनमत विषै भी कषायी भये हैं सों तिनने कारण पाय अन्यथा कथन लिख्या है।'' देश, समाज तथा धर्म-विरोधी प्रवृत्तियों का पंडित टोडरमलजी ने अपने जीवन में सदा ही विरोध किया है और इस कार्य में उन्होंने कभी अपने पराये का भेद नहीं रखा है। इस प्रकार असत्य के समक्ष सदा ही सत्य का उद्घाटन करके वे लोक का मार्ग-दर्शन करते रहे हैं।

विषय - मोक्षमार्ग प्रकाशक का विषय महा-मंगलमय है। यद्यपि वह अपूर्ण ही रह गया है क्योंकि उसका प्रणेता अल्पवय में ही चिर-प्रयाण कर गया। अल्पवय और महामेधा की संगति साधारण जनों को तो आश्चर्योत्पादक सी लगती है। यह जगत का दुर्भाग्य है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक अपने पूर्ण स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है। ग्रंथकर्ता 'इसका आगे वर्णन करेंगे' के द्वारा इसके महा विस्तार की यत्र-तत्र सूचना देते ही रहे हैं। यदि वह पूर्ण हो सकता तो मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अपने संपूर्ण वैभव के साथ उसमें अवतरित होते और तब उसका क्या स्वरूप होता - यह कल्पना का विषय नहीं है। फिर भी यह ग्रंथ अपने अपूर्ण होने में भी इतना परिपूर्ण है कि जड़ता से ग्रसित आज के जगत के लिये उसके पास प्रचुर सामग्री है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हिन्दी जैन साहित्य के कोष में इसकी समता की अन्य कोई कृति नहीं है।

महामना पंडित टोडरमलजी के मस्तिष्क में तो मोक्षमार्ग प्रकाशक के न मालूम कितने अधिकार प्रच्छन्न थे किंतु उसके नव अधिकार भी पूरे नहीं हो सके हैं। नवम अधिकार भी अधूरा रह गया है।

वास्तव में उसके आठ अधिकार तो ग्रंथ की उत्थानिका मात्र हैं। मोक्षमार्ग के प्रथम चरण सम्यग्दर्शन का वर्णन तो नवें अधिकार से ही प्रारंभ हुआ है। और वह भी अधिकांश अपूर्ण ही रह गया है। आगे सम्यग्दर्शन के सांगोपांग वर्णन के लिये ही न मालूम कितने अधिकार अपेक्षित होते?

मोक्षमार्ग प्रकाशक के इस अपूर्ण गर्भ में भी न मालूम कितने रहस्य भरे पड़े हैं। उसके विषय के विकास-क्रम में 'धर्म और उसकी जीवन के उत्कर्ष में अनिवार्यता, धर्म की उपलब्धि के साधन देव, गुरु और सत् साहित्य तथा परीक्षापूर्वक उनका स्वीकार, धर्म-विरोधी तत्त्व, आस्तिकता-नास्तिकता, पारंपरिक कुलाचार में धर्म की असंभावना, पुण्य-पाप और उनके फल की सिद्धि, मुक्ति तथा उसका फल स्थायी तथा स्वाधीन सुख आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से सहज ही उसमें गर्भित हो गये हैं।'

इस ग्रंथ के नव-अधिकारों का विषयानुरूप बड़ा ही स्वाभाविक विकास हुआ है। प्रथम अधिकार में उत्तम फल अर्थात् उत्तम सुख के लिये परम इष्ट अरहंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय, तथा साधु का स्वरूप विस्तार से कहा गया है। अनेक स्थलों पर पंडित टोडरमलजी के अभिधा-परक वाक्यों से भी बड़े महत्त्वपूर्ण व्यंग्यार्थ फलित होते हैं। जैसे ग्रंथ के प्रारंभ में ही अरहंतों के स्वरूप-वर्णन की प्रथम पंक्ति हैं 'तहां प्रथम अरहंतनि का स्वरूप विचारिये हैं' तथा सिद्धों के स्वरूप वर्णन की प्रथम पंक्ति है 'अब सिद्धनि का स्वरूप ध्याइये हैं' दोनों वाक्यों में अभिधा का ही प्रयोग है किंतु अरहंतों के साथ 'विचारिये' और सिद्धों के साथ 'ध्याइये' शब्द बड़े महत्त्व के हैं। वास्तव में ध्यान का ध्येय सिद्धों का स्वरूप ही है क्योंकि आत्म-विकास की चरम अभिव्यक्ति उन्हीं में होती है। अरहंतों का स्वरूप अपूर्ण होने से ध्येय नहीं है। अत: 'विचारिये' तथा 'ध्याइये' शब्दों का बड़ा सार्थक प्रयोग हुआ है। इन परमेष्टियों के नमस्कार तथा इनकी उपासना का उद्देश्य निराकुल शांति तथा उसके साधन वीतरागता की उपलब्धि मात्र है। अन्य किसी भी लौकिक-प्रयोजन-प्रेरित इनकी उपासना आत्महितकारिणी नहीं होती, उसका विस्तृत वर्णन पंडित टोडरमलजी ने प्रथम अधिकार में किया है।

यद्यपि मोक्षमार्ग प्रकाशक में पंडित टोडरमलजी को मोक्षमार्ग का विवेचन करना ही इष्ट रहता है किंतु मोक्ष-प्रतिपक्षी बंध दशा और उसके कारणों के परिज्ञान के बिना मुक्ति संभव ही नहीं है। अत: सर्व प्रथम संसार दशा के वर्णन से उन्होंने अपने ग्रंथ का प्रारंभ किया है। इसीलिए इस ग्रंथ के दूसरे, तीसरे तथा चौथे अधिकार संसार तथा उसका निमित्त कर्म, तथा कर्मोदय से होनेवाले आत्मा के विविध काषायिक परिणाम, सांसारिक प्राणियों के चतुर्गति संबंधी दु:ख और उनके मूल कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा चारित्र के मार्मिक वर्णन से अलंकृत हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के पाँचवें अधिकार 'विविध मत समीक्षा' में जहां पंडित टोडरमलजी के

प्रकांड पांडित्य तथा उनके विशाल ज्ञान कोष का परिचय मिलता है, वहाँ उससे यह भी एकदम स्पष्ट हो जाता है कि इस अधिकार का उदय ही उस सत्यान्वेषी पुरुष की लोकरंजनकारी वृत्ति के अभाव की सत्-प्रेरणा से हुआ है। उसमें न अपने की ममता है और न पर की गर्हा।

छठा अधिकार सत्य तत्त्व विरोधी असत्यायतनों के स्वरूप विस्तार में प्रतिबद्ध है। उसमें यह निर्देश किया गया है कि मुक्ति के पिपासु को अजीर्ण में भोजन की भाँति मुक्ति-विरोधी तत्त्वों से कभी संपर्क नहीं साधना चाहिए। अन्यथा वह पुरुष मुक्ति-पथ को खो देता है।

समूचे मोक्षमार्ग प्रकाशक में उसका सातवाँ तथा नवाँ अधिकार सर्वाधिक महत्त्व के हैं। मुक्त तथा मुक्ति-पथिक पुरुष तथा इनकी तात्त्विक वाणी का दुर्लभ योग पाकर भी 'जैन' संज्ञक प्राणी किस प्रकार अज्ञान की उपासना करता रहता है और तत्त्व के सम्मुख होकर भी किस प्रकार तत्त्व का विरोध करता रहता है, इसका मनोमुग्धकारी सांगोपांग विशद विवेचन सातवें अधिकार की विषय सामग्री है।

समग्र जैन वाङ्मय विषय भेद की दृष्टि से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के चार वर्गों में विभक्त है। अत: आठवें अधिकार में 'प्रत्येक अनुयोग का विषय उसकी वर्णन शैली तथा प्रयोजन और शैली के कारण दिखाई देनेवाला उनका पारस्परिक विरोध तथा स्याद्वाद पद्धति में इस विरोध का अद्भुत समन्वय और मुक्ति पथ के पथिक के लिये जीवन में सत्साहित्य का महत्त्व' आदि विषय बड़ी रोचकता से संग्रहीत किये गये हैं।

नवां अधिकार इस ग्रंथ का अंतिम स्वरूप है और वह भी अपूर्ण है। मुक्ति के बाधक तत्त्वों का सविस्तार दिग्दर्शन कर चुकने के उपरांत मोक्षमार्ग के अविभाज्य अवयव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की विस्तृत विवेचना पंडित टोडरमलजी नवें अधिकार से ही करना चाहते थे। किंतु उसमें मात्र सम्यग्दर्शन का ही थोड़ा सा वर्णन हो पाया है। सम्यग्दर्शन का अवशिष्ट तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तो बिलकुल अछूते ही रह गये हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक का तत्त्वज्ञान – मोक्षमार्ग प्रकाशक में जैन तत्त्वज्ञान से संबंधित प्राय: सभी विषय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में समाविष्ट हो गये हैं। यद्यपि उसका मूल विषय तो मोक्षमार्ग का प्रकाशन ही है किंतु प्रकारांतर से उसमें जैन कर्म सिद्धांत, निमित्त-उपादान, स्याद्वाद-अनेकांत, निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, दैव तथा पुरुषार्थ पर बड़ी तात्त्विक विवेचनायें उपलब्ध होती हैं।

कर्म सिद्धांत – कर्म-सिद्धांत जैनदर्शन का एक मौलिक अनुसंधान है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। आत्मा के राग-द्वेषरूप विकारी भावों का निमित्त पाकर पौद्गलिक (जड़) कार्मण वर्गणा में चुंबक और लोह की भांति जो स्वाभाविक स्पंदन तथा उनका आत्म-प्रदेशों के साथ जो बंधन होता है, उसका परिचय विश्व को केवल जैन दर्शन ही देता है। आत्मा के साथ रहने की अवधि में भी जड़ कर्मों

में आत्मा के परिणामों के निमित्त से विविध रासायनिक (अनुभाग संबंधी) परिवर्तन होते हैं, उनका अत्यंत सूक्ष्म विवेचन भी जैनागम में उपलब्ध होता है। जैन दर्शन का यह अनुसंधान विश्व को उसकी एक अनूठी देन है। आत्मा के राग-द्वेष भावों से कर्म बंध और कर्म के उदय से आत्मा के राग-द्वेषभाव इस प्रकार की संगति होने पर भी आत्मा और कर्म दो भिन्न तत्त्व होने के कारण केवल अपने-अपने परिणामों को ही निष्पन्न करते हैं परस्पर एक-दूसरे के परिणामों को नहीं। अत: दोनों में विद्यमान इस अकर्त्तृत्व का रहस्योद्घाटन भी जैनदर्शन करता है। और इस प्रकार वह आत्मा की इस भ्रांति को कि 'कर्म उसके संसार, विकार, अथवा सुख-दु:ख को उत्पन्न करता है अथवा इनकी उत्पत्ति में योगदान करता है' निर्मूल करता है। पंडित टोडरमलजी ने आतमा और कर्म संबंधी इस रहस्य का मोक्षमार्ग प्रकाशक में अनेक स्थलों पर उद्घाटन किया है -

(दूसरा अधिकार) ''जीव भाव को निमित्त करि पुद्गल परमाणुनिविषैं ज्ञानावरणादि रूप शक्ति हो है। इहाँ विचार करि अपने उद्यमतें कार्य करे तो ज्ञान चाहिये अर तैसा निमित्त बने स्वयमेव तैसे परिणमन होय तो तहां ज्ञानका किछू प्रयोजन नाहीं।''

''सो ऐसे होने विषै कोऊ कर्म-वर्गणा-रूप पुद्गल पिंडके ज्ञान तो नाहीं है जो मैं ऐसे परिणामों अर और भी कोई परिणमावन हारा है नाहीं, ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक भाव बनि रह्या है ताकरि तैसे ही परिणमय पाइये हैं।''

''बहुरि जब कर्म प्रकृतिनि का उदयकाल आवै तब स्वयमेव तिनि प्रकृतिनि के अनुभाग के अनुसारि कार्य बनैं। कर्मतिनिका कार्यनिकौं निपजावता नाहीं। याका उदयकाल आय वह कार्य बनै है इतना ही निमित्त नैमित्तिक संबंध जानना।''

निमित्त-उपादान - किसी एक पदार्थ में जब कोई कार्य निष्पन्न होता है तो वहां एक दूसरा पदार्थ भी नियम से विद्यमान होता है जो उस कार्य को उत्पन्न भी नहीं करता, उसमें योग भी नहीं देता, किंतु उस कार्य की उत्पत्ति के साथ अपनी अनुकूलता रखता है वस्तुस्थिति के इस नियम को उपादान निमित्त संबंध कहते हैं। जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है उसे उपादान, उस कार्य को उपादेय अथवा नैमित्तिक, तथा संयोगी इतर पदार्थ को निमित्त कहते हैं। निमित्त उपादान के संबंध में जगत की भ्रांति यह है कि व्यक्ति अपनी भूल से उत्पन्न अपने दोषों का कारण उस पदार्थ को घोषित कर बैठता है; जो उस समय कार्य के साथ मात्र विद्यमान रहता है। और इस प्रकार स्वयं निर्दोष हो जाना चाहता है। किंतु जैसे एक चोर अपने चौर्य कर्म का आरोप चांदनी को देकर दंड-मुक्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार अपने उपादान से उत्पन्न दोष का भार निमित्त पर रखने की चेष्टा आत्मा में उत्तरोत्तर विकार तथा दु:ख का संचय करती है; क्योंकि इस प्रवृत्ति में स्वदोष दर्शन तथा आत्म-निरीक्षण के लिये अवकाश ही नहीं

है। जैन दर्शन उपादान निमित्त संबंधी इस भ्रांति का बड़ा सुंदर समाधान प्रस्तुत करता है। जैनदर्शन का यह मत है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ अनंत शक्ति का समुदाय है और वे शक्तियां पदार्थ में सदा ही निरपेक्ष भाव से परिणमित होती रहती हैं। अपने परिणमन में उन्हें किसी इतर पदार्थ से कुछ भी आदान-प्रदान नहीं करना पड़ता। यदि आदान-प्रदान को सैद्धांतिक रूप से स्वीकार कर लिया जाय तो चेतन, जड़ को अपनी चेतना तथा जड़, चेतन को अपनी जड़ता भी प्रदान कर सकेगा किंतु यह असंभवता कभी साकार होती ही नहीं है। अत: यह निर्विवाद है कि लोक में आदान-प्रदान की बात एकदम औपचारिक है, यथार्थ नहीं। वस्तु-स्वभाव-गत इस नियम के अनुसार निमित्त और उपादान दोनों की अपनी अपनी स्वतंत्र मर्यादायें हैं। यद्यपि दोनों की स्वतंत्र स्थिति है तो भी इस तथ्य का उल्लंघन कभी नहीं होता कि जब उपादान अपनी शक्ति से परिणमनशील होकर किसी कार्य को निष्पन्न करता है तो वहाँ इतर पदार्थ निमित्त के रूप में विद्यमान होता ही है। निमित्त-उपादान की स्वतंत्र स्थिति तथा उनका अनिवार्य सहचार ये दोनों ऐसे तथ्य हैं जो निमित्त उपादान संबंधी अगणित प्रश्नों के समाधान के लिये पर्याप्त हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक में यथावसर अनेक स्थलों पर निमित्त-उपादान संबंधी इसी तथ्य का बल पूर्वक समर्थन किया है, जैसे (दूसरा अधिकार) ''जो कर्म आप कर्ता होय उद्यम करि जीव के स्वभाव को घातै, बाह्य सामग्री मिलावै तब कर्म के चेतनपनौं भी चाहिये अर बलवानपनों भी चाहिये, सो तो है नाहीं। सहज ही निमित्त नैमित्तिक संबंध है। जब उन कर्मनि का उदय काल होय तिस काल विषैं आप ही आत्मा स्वभाव रूप न परिणमें विभाव रूप परिणमें।''

(सातवां अधिकार) ''कोऊ कहैगा निमित्त मात्र तो है? ताका उत्तर - पर द्रव्य जोरावरी तों कोई बिगारता नाहीं अपने भाव बिगरै तब वह भी बाह्य निमित्त है।... ऐसे परद्रव्य का दोष देखना मिथ्या भाव है।''

(सातवां अधिकार) ''जातैं पर द्रव्य का ग्रहण त्याग आत्मा के होय तौ आत्मा पर द्रव्य का कर्त्ता हर्त्ता होय सो कोई द्रव्य कोई द्रव्य के आधीन है नाहीं।''

अपने निमित्त-उपादान के प्रकरण में महापंडित बनारसीदासजी ने भी उसी तथ्य का समर्थन करते हुए अपने काव्य के मात्र दो चरणों में निमित्त उपादान संबंधी संपूर्ण विवाद को समाधिस्थ कर दिया है। वे लिखते हैं :-

उपादान निज गुण जहां तहां निमित पर होय;
भेदज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोय।

निश्चय व्यवहार - मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में पंडित टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहार रूप अनेकांत का विशद विवेचन किया है। यह वर्णन पंडित टोडरमलजी की प्रज्ञा की पैनाई

का ज्वलंत प्रमाण है। मोक्षमार्ग की बाधक सूक्ष्म से सूक्ष्म भूल भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से नहीं बच सकी है। निश्चय और व्यवहार की एकांत मान्यताएं मोक्षमार्ग में बाधक बनकर कैसे खड़ी रहती हैं इसका ऐसा विस्तृत, सांगोपांग तथा सरल वर्णन हिन्दी जैन साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

अनेकांत जैन दर्शन का प्राण है। अनेक अंत अर्थात् अनेक धर्म पदार्थ स्वयं अनेकांत स्वरूप अर्थात् अनंत धर्म या अनंत स्वभाव स्वरूप होता है। प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् आदि अनंत स्वभाव होते हैं। ये स्वभाव वस्तु की रक्षा करते हैं। यथा अस्ति धर्म पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का नियमन करके पदार्थ को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रखता है अर्थात् उसे पररूप नहीं होने देता। इसी प्रकार नास्ति धर्म उसमें अन्य पदार्थ का प्रवेश निषिद्ध कर अन्य पदार्थ को उस रूप नहीं होने देता। इस प्रकार एक ही पदार्थ अस्ति स्वरूप भी है और नास्ति स्वरूप भी है ऐसा अनेकांत है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अविनष्ट रहकर प्रति समय अपनी नवीन अवस्था का उत्पाद और पुरानी अवस्था का विनाश किया करता है। अत: वह नित्यानित्यात्मक है और एक ही वस्तु अभेद और अखंड होने पर भी उसमें अनंत गुण अथवा शक्तियां तथा उन शक्तियों की अनंत अवस्थाएं प्रति समय होती हैं। अत: वह एकानेकात्मक है। यह अनेकांत का सैद्धांतिक पक्ष है। जीवन में इस सिद्धांत की महती उपयोगिता है। उसका संदेश है कि विश्व के अनंत जड़चेतन पदार्थ अपने-अपने अस्ति स्वभाव से प्रेरित होकर सदा ही अपने स्वरूप में रहते हैं। और वे कदाचित् आकाश के एक ही क्षेत्र में अत्यंत निकट भी रहें तो भी इस प्रकार नितांत भिन्न रहते हैं जैसे हिमालय और बिन्ध्याचल, और वे इस प्रकार कभी नहीं मिलते जैसे नदी के दो किनारे। सबकी अपनी-अपनी सीमा है और अपना-अपना घर। सभी अपनी-अपनी सीमा में अपनी-अपनी शक्ति से अपने नियत कार्यों का संपादन करते ही रहते हैं। एक को दूसरे की अपेक्षा ही नहीं है तो फिर परस्पर सीमोल्लंघन का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: उनके पारस्परिक सहयोग और प्रभाव की बात भी निर्मूल हो जाती है। पदार्थ का कार्य पदार्थ में हो और उसका प्रभाव कहीं अन्यत्र हो यह तथ्य सदोष है। अपराध अथवा सुकृत कोई करे और फल किसी अन्य को मिले यह बात लोक को भी सम्मत नहीं है। अत: प्रत्येक पदार्थ अपने कार्य को अपनी शक्ति से अपने लिये अपने में से अपने में ही निष्पन्न करता है - ऐसी षट्कारकीय निर्बाध व्यवस्था है। फलस्वरूप एक पदार्थ कभी अन्य का कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण अथवा कर्ता, कर्म, कारण, सहयोगी तथा प्रभावक होता ही नहीं है। दो पदार्थों के एकत्व के बिना उनका पारस्परिक कर्त्तृत्व, कर्मत्व, कारणत्व अथवा अन्य भी कोई संबंध बनता ही नहीं है। यदि दो पदार्थों के एकत्व की बात सैद्धांतिक रूप से स्वीकार कर ली जाय तो यह अनंत द्रव्यात्मक लोक आज हमारे समक्ष एक महापिण्ड के रूप में विद्यमान होता। किंतु यह एकत्व की बात नितांत असत्य है क्योंकि भिन्न पदार्थों के भिन्न परिणामों की भिन्न ही प्रतीति और अनुभूति होती है।

यह विश्व व्यवस्था है। इसके भीतर प्रत्येक पदार्थ सदा ही सुरक्षित है। और अपने अगणित क्रिया-कलापों का एक छत्र सम्राट है। पदार्थ के इस पर-निरपेक्ष स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली पद्धति को निश्चयनय कहते हैं। पदार्थ की अंतरंग स्थिति पर निरपेक्ष तथा स्वयं स्वतंत्र होते हुए भी उसका एक बहिरंग पक्ष भी है। और वह यह कि वह एकाकी होकर भी लोक के अन्य पदार्थों के साथ रहता है। भिन्न पदार्थों में परस्पर कभी संयोग और कभी वियोग भी होता है। कभी-कभी वह संयोग और वियोग भी इतना व्यवस्थित होता है कि वह एक नियम अथवा सिद्धांत का रूप धारण कर लेता है और फिर उन दो पदार्थों के संयोग-वियोग अथवा संयोग-वियोग में होनेवाले उनके परिणाम उस नियम से ही अनुशासित होते हैं। दो पदार्थों के संयोग वियोग में उनमें एक साथ अथवा पूर्वोत्तर काल में नियम से होनेवाले परिणामों में लोक में कर्ता-कर्म अथवा कारण-कार्य भाव का व्यपदेश भी होने लगता है। जैसे यह त्रिकाल बाधित नियम है कि आत्मा में जब चैतन्य-विकार अर्थात् राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं तो पौद्गलिक कार्माण वर्गणा आत्मा की ओर आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की भाँति बंध को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्वभाव के आश्रय से निर्विकार परिणमन करता है तो कार्माण-वर्गणा का आत्मा के प्रदेशों से वियोग हो जाता है। अत: इस नियम के निरपवाद होने से ऐसा भी व्यपदेश आगम और लोक में किया जाता है कि आत्मा विकार से कर्म बाँधता है और निर्विकार भावना से कर्मों का क्षय करता है। यद्यपि आत्मा और कर्म दो भिन्न पदार्थ होने के कारण परस्पर एक-दूसरे के कर्ता, कर्म अथवा कारण कभी भी नहीं होते किंतु एक सुनिश्चित नियम के अंतर्गत उनका संयोग वियोग होने के कारण उनमें प्रयोजन अथवा निमित्तवश पारस्परिक कर्ता, कर्म कारण आदि का व्यपदेश एकदम अनुचित अथवा निराधार नहीं है। वस्तु के इस बाह्य पक्ष का विवेचन करनेवाली पद्धति को व्यवहारनय कहते हैं। दोनों ही नय की विवेचन पद्धति का पंडित टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सप्तम अधिकार में बड़ा सुंदर स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते हैं - ''जिनमार्ग विषैं कहीं तौ निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है ताकों तो 'सत्यार्थ ऐसे ही हैं ऐसा जानना, बहुरि कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान हैं ताकौं ऐसे हैं नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोऊ नयनि का ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनि के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानि ऐसै भी है, ऐसै भी है, ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तने करि तौ दोऊ नयनि का ग्रहण करना कह्या है नाहीं।''

निश्चय और व्यवहारनय के संबंध में पंडित प्रवर टोडरमलजी की इस व्याख्या के प्रकाश में यदि हम देखें तो लोक के अनंत पदार्थों में घटनेवाले अनंत प्रकार के संबंधों से हमारे भीतर उत्पन्न अनंत भ्रम तुरंत निरस्त हो जाता है। लोक की कैसी भी परिस्थिति और कैसा ही घटनाचक्र क्यों न हो और उनके कर्ता, कर्म, कारणों के संबंध में कैसी भी भ्रांति क्यों न हो, निश्चय और व्यवहार की तुला पर

रखते अविलंब उनका संतुलन हो जाता है। सर्वज्ञोपदिष्ट आगम में विवक्षा और प्रयोजन भेद के कारण दिखाई देनेवाले पारस्परिक विरोध में इस प्रकार सामंजस्य स्थापित हो जाता है कि फिर जीवन में उसका कभी उदय नहीं होता। जीवन में अनेकांत की यही सर्वोपरि उपयोगिता है कि उसका स्वीकार बुद्धि को निर्मल बनाता है, मस्तिष्क का संपूर्ण विकार धुल जाता है। मिथ्या कारण कार्य के स्वीकार में अपनी भूल से अपने भीतर उत्पन्न दोषों का निरंतर कर्मादिक पर आरोप करते रहने और फिर भी दोष का वारण न होने से जो क्षोभ, आकुलता, अशांति जीवन में चलती रहती है अनेकांत उसका एकमात्र समाधान है। अनेकांत के आलोक में निश्चयनय के द्वारा अपनी भूल अपने को विदित हो जाने पर फिर भूल और उससे संबद्ध दोषों की संतति का अस्तित्व ही संभव नहीं होता।

लोक में आत्मा के संबंध से शरीर को जीव, शरीर के संबंध से आत्मा को मूर्तिक, इंद्रियों की पौद्गलिक रचना को प्राण कहने की अनादि रूढि है। इसी प्रकार आत्मा शरीर की व्यवस्था करता है, शरीर आत्मा का संचालन करता है, कर्म आत्मा को भयंकर कष्ट देते हैं, इत्यादि लोक तथा आगम के पारस्परिक कर्ता कर्म भाव प्रेरित सभी कथन व्यवहार नयात्मक औपचारिक पद्धतियां ही हैं।

इस रहस्य को हृदयंगम कर लेने पर लोक के अनंत पदार्थों से आत्मा के हानि-लाभ की समस्त संभावनायें समाप्त हो जाती हैं। आत्मा कर्म के भयंकर भय की गठरी अपने शीश से उतारकर फैंक देता है। और कर्तृत्व की कारा में घुटनेवाली चैतन्य की श्वासों को स्वाधीनता का उन्मुक्त पवन नव जीवन देता है। यही सत्य मोक्षमार्ग है और शेष सब बन्धमार्ग है। जितने कुछ पर-मुखापेक्षी परिणाम हैं, वे सब बन्ध भाव अथवा बन्ध मार्ग में ही गर्भित होते हैं। ये बन्ध भाव जब प्रशस्त राग (पुण्य) का रूप धारण वीतराग मोक्षमार्ग के साथ उदित होकर उसका समर्थन करते हैं, अथवा आत्मा को उसके प्रति प्रेरणा प्रदान करते हैं, तो इन्हें भी व्यवहारनय की उपचरित शैली में मोक्षमार्ग की संज्ञा दी जाती है। किंतु निश्चयनय उन्हें सदा बन्ध भाव की कोटि में ही रखता है। उसकी दृष्टि में सदा ही केवल एक वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग की कक्षा में प्रतिष्ठित रहता है।

निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग के संबंध में देव, गुरु और आगम का सानिध्य पाकर भी आर्हत् मतानुसारी पुरुषों में भी जो अगणित भ्रांतियां पड़ी रहती हैं। उनका मार्मिक विश्लेषण पंडित टोडरमलजी ने सप्तम अधिकार में किया है। जो लोग निश्चय व्यवहार दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानते हैं, उनका परिहार पंडित टोडरमलजी इन शब्दों में करते हैं :- ''मोक्षमार्ग दोय नाहीं, मोक्षमार्ग का निरूपण दोय प्रकार है। जहां सांचा मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है अर जहां जो मोक्षमार्ग तो है नाहीं परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है वा सहचारी है ताको उपचार करि मोक्षमार्ग कहिये सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। जातैं निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार

निरूपण सो व्यवहार। और निरूपण अपेक्षा दोय मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है। ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानैं सो भी भ्रम है।''

इस प्रकार निश्चय व्यवहार के संबंध में अज्ञान से अनुशासित होकर आत्मा जितनी प्रकार से भूल करता है, एक-एक करके उन सभी का चित्रण करते हुए पंडित टोडरमलजी ने जो तर्क, आगम और अनुभव सम्मत समाधान दिया है, वह एक असाधारण वस्तु है।

पुण्य-पाप – पुण्य और पाप दोनों आत्मा की विकारी अंतर्वृत्तियाँ हैं। और जैनदर्शन ने इनकी भी अपने साहित्य में विस्तृत मीमांसा की है।

देवपूजा, गुरुपासना, दान, अनुकंपा आदि प्रशस्त परिणाम पुण्य हैं और इनका फल स्वर्गादि होते हैं। तथा हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि अप्रशस्त आत्मपरिणाम पाप हैं और उनका फल नरकादि होते हैं।

अधिकांश भारतीय दर्शन पाप को आत्मा के लिये अहितकर और पुण्य को आत्मा के लिये हितकर प्रतिपादित करते हैं। किंतु जैनदर्शन उन दोनों को निर्वाण का बाधक स्वीकार करता है। जैसे पाप आत्मा का विषम भाव है, उसी प्रकार पुण्य भी। पुण्य और पाप दोनों में ही आत्मा अपनी स्वरूप स्थिति में न रहकर पराधीन रहता है। दोनों ही आत्मा की परमुखापेक्षी वृत्तियां हैं। जैसे पाप किसी इंद्रिय विषय का आश्रय लेकर प्रवर्तित होता है, उसी प्रकार दान, अनुकंपा आदि पुण्य परिणाम भी किसी प्राणी के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि इन दोनों भावों की प्रवृत्ति के लिये आत्मेतर किसी अन्य पदार्थ का आश्रय अनिवार्य है। और पराश्रित भाव आत्मा को पराधीन करते हुए भी जन्म लेते हैं। अत: वे आत्मा के स्वाभाविक समरसीभाव नहीं कहे जा सकते, फलत: वे निर्माण के बाधक ही होते हैं।

पुण्य और पाप दोनों परिणामों में अर्थ क्रियाकारित्व भी नहीं होता। कोई प्राणी किसी का अहित करने की भावना तो करे किंतु उसकी भावना से किसी का अहित होना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार कोई प्राणी किसी की रक्षा के परिणाम तो करे किंतु उसके परिणामों से किसी की रक्षा होना अनिवार्य नहीं है। अर्थ क्रियाकारित्व न होने के कारण सदा ही विवशता का अनुभव होने से इन भावों में आत्मा की विकलता अवश्यंभावी है। अत: जैन मनीषी आत्मा के ज्ञान-आनंद स्वरूप स्वभाव के समक्ष इन भावों की अत्यंत निरर्थकता घोषित करते हुए आत्मा के हित में इनकी उपादेयता का भी निषेध करते हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में पंडित टोडरमलजी ने इसका अत्यंत स्पष्ट प्रतिपादन

किया है। वे कहते हैं – ''बहुरि इस शुभोपयोग को बंध का ही कारण जानना। जातैं बंध और मोक्ष के प्रतिपक्षीपना है। तातैं एक ही भाव पुण्य बंध को भी कारण होय अर मोक्ष को भी कारण होय–ऐसा मानना भ्रम है।

.....बहुरि नीचली दशा विषै केई जीवनि के शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइये। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कह्या है। वस्तु विचारतें शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है। जातैं बंध का कारण होय सोई मोक्ष का घातक है। ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग अशुभोयोग को हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना।'' .....''बहुरि कोई ऐसे माने कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग को कारण है सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसा कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै।''

दैव–पुरुषार्थ – जैनदर्शन दैव और पुरुषार्थ की भी एक बुद्धिगम्य जीवनोपयोगी व्याख्या प्रस्तुत करता है। पुरुषार्थ प्राय: पुरुष के उन प्रयत्नों को समझा जाता है जिनका प्रयोग व्यक्ति लौकिक उपलब्धियों के लिये करता है। इस संबंध में जैन दर्शन का मत यह है कि लौकिक उपलब्धियाँ पुरुषप्रयत्न सापेक्ष होती ही नहीं हैं। यदि वे पुरुषप्रयत्नसाध्य हों तो जो जितना श्रम करे, उसे उतना ही अधिक मिलना ही चाहिए। किंतु वस्तुस्थिति बहुलता से इसके विपरीत देखी जाती है। अत: शरीर से लेकर मन, वाणी, सौंदर्य, आरोग्य आदि तथा धन, धान्य, स्त्री, पुत्रादि सभी वस्तुएँ दैवकृत हैं। आत्मा तो मात्र इनकी उपलब्धि के लिये राग–द्वेष का विपरीत पुरुषार्थ मात्र कर सकता है। इसके आगे इनके संपादन में आत्मा का कोई अधिकार नहीं है। दैव पूर्व नियोजित होता है और पुरुषार्थ इहचेष्टित। लोक में दैव भाग्य को कहते हैं। वर्तमान जीवन में जो भी लौकिक उपलब्धियां होती हैं, वे पूर्व नियोजित दैव के अनुकूल होती हैं। और भावी भाग्य की रचना का आधार आत्मा का वर्तमान कर्म अर्थात् वर्तमान पुरुषार्थ होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि पाप में प्रवर्तित होता है तो उसके निमित्त से पाप कर्म का संचय होता है और यदि वह पुण्य में वर्तन करता है तो उससे पुण्य कर्म संचित होता है। यही पुण्य–पाप कर्म आत्मा का दैव अर्थात् भाग्य कहलाते हैं।

जड़ कर्मों के निमित्त से समस्त लौकिक सुख दु:ख की तो प्राप्ति संभव होती है किंतु आत्मा के स्वाधीन शाश्वत आनंद की प्राप्ति न तो पाप–पुण्य के पुरुषार्थ से होती है और न उनके द्वारा संचित कर्मों से। किंतु उसकी उपलब्धि तो एकमात्र ज्ञानानंद निकेतन आत्म–स्वरूप के प्रति सचेष्ट सम्यक् पुरुषार्थ से ही होती है। अत: पुण्य और पाप के भाव तथा उनके निमित्त से संचित मोहादि तथा वेदनीयादि कर्म तथा इन कर्मों के फल में प्राप्त बाह्य सन्निधि यह सब दैव का ही परिकर है। इनमें

प्रवाहित पुरुषार्थ निरंतर आत्मा के नश्वर भाग्य की रचना करता है कि जो सदा ही दुखद होता है। आत्मा की शाश्वत् मुक्ति स्वरूप महाभाग्य की रचना तो पुण्य-पाप से विलक्षण आत्मा का सम्यक् पुरुषार्थ ही करता है। पुण्य और पाप के फल में जिसे समानरूप से पराधीनता तथा आकुलता का अनुभव होता है; ऐसा निकट भव्य प्राणी ही अपने जागृत अंतर से यह निर्णय करता है कि ''निश्चय ही पुण्य पाप का संपूर्ण परिकर पराया है। और मैं ज्ञान आनंद स्वरूप शुद्ध चेतन तत्त्व हूँ।'' तब इस निर्णय से ही दैव के प्रतिबंधों को अस्वीकार करता हुआ आत्म-पुरुषार्थ जागृत होकर चिर अवरुद्ध मुक्ति के द्वार का उद्घाटन करता है। अत: यह कथन तथ्य-शून्य है कि दैव (कर्म) के चक्र में उलझे हुए प्राणी को मुक्ति का अवकाश ही नहीं है।

पंडितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के नवें अधिकार में इस विषय का सतर्क ऊहापोह किया है। जो लोग द्रव्य कर्म भावकर्म की परंपरा में सम्यक् पुरुषार्थ का अभाव स्वीकार करते हैं, उसका उन्होंने इस प्रकार प्रतिषेध किया है - ''तत्त्व निर्णय करने विषैं उपयोग न लगावै सो तो या ही का दोष है। बहुरि पुरुषार्थ करि तत्त्व निर्णय विषै उपयोग लगावे तब स्वयमेव ही मोह का अभाव भये सम्यक्त्वादि रूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बने है। सो मुख्यपनैं तो तत्त्व निर्णय विषै उपयोग लगावने का पुरुषार्थ करना। बहुरि उपदेश भी दीजिये है सो इस ही पुरुषार्थ करावने के अर्थ दीजिये है। अर तत्त्व निर्णय न करने विषै कोई कर्म का दोष है नाहीं। अर तू आपतो महन्त रह्या चाहै अर अपना दोष कर्मनि कै लगावै सो जिन आज्ञा मानै तो ऐसी अनीति संभवै नाहीं।.....''

अंत में इतने विवेचन के उपरांत यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक महामना पंडित टोडरमलजी के अगणित गुण रत्नों का अनमोल निधान है। उस सागर की छाती में न मालूम कितने मुक्ता बिखरे पड़े हैं।

आज के बुद्धिवादी मानव के लिये मोक्षमार्ग प्रकाशक निश्चित ही एक भव्य प्रकाशस्तम्भ के समान दिशा निर्दिष्ट कर रहा है। जीवन के विकास के लिये सत्यासत्य के समुच्चय में से सत्य की शोध करने के लिये वह हमारे अंतर्चक्षुओं को दिव्य आलोक देता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में प्रतिपादित तत्त्व किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष से सम्बद्ध नहीं है वरन् वह तो निखिल ही विश्व के लिये है। उसका प्रणेता मोक्ष के अवरुद्ध द्वार का निखिल ही जगत के लिये उद्घाटन करने के महान् उदात्त आशयवाला है। और इसी पुनीत प्रेरणा के परिणाम स्वरूप मोक्षमार्ग प्रकाशक का उदय भी हुआ है। अत: मोक्षमार्ग प्रकाशक किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष का उत्तराधिकार न होकर मानव मात्र के मन मंदिर में उपास्यदेव के रूप में प्रतिष्ठित होनेयोग्य है।

निश्चित ही मोक्षमार्ग प्रकाशक की भाषा, उसका भाव गांभीर्य उसकी अनूठी रचना शैली और

उसमें गर्भित अगाध आगम ज्ञान ने पंडित टोडरमलजी की 'आचार्यकल्प' संज्ञा को चरितार्थ कर दिया है।

अपने प्राणों के मूल्य पर मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसी अनुपम निधि विश्व को देकर नि:संदेह पंडित टोडरमलजी ने समग्र विश्व और विश्व साहित्य को उपकृत किया है। मताग्रह का अंजन लगाकर भले ही विश्व उसका मूल्यांकन न कर पाये किंतु इससे इस रत्नाकर की गरिमा कम नहीं होती। वरन् उसे न पहिचानकर विश्व मुक्ति के सर्वोच्च वरदान से वंचित ही रहा है।

काश! हम उनके जीवन में पंडित टोडरमलजी को पहिचान पाते तो मोक्षमार्ग प्रकाशक आज अपने संपूर्ण स्वरूप में हमें उपलब्ध होता। फिर भी यदि हम उपलब्ध मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रकाश में अपनी चिर-विस्मृत स्वरूप निधि का अनुसंधान कर सकें तो यही हमारे जीवन की सर्व महान् उपलब्धि होगी और यही पंडित टोडरमलजी और उनके मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रति हमारा सबसे बड़ा सम्मान होगा।

अंत में मैं अपनी शत-सहस्र श्रद्धांजलियाँ उन महापुरुष के चरण में समर्पित करता हूँ। ●●

पंडित टोडरमलजी का शास्त्र सभा भवन

जयपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय (बड़ा मंदिर तेरहपंथियों का) में पंडित टोडरमलजी प्रतिदिन शास्त्र प्रवचन करते और दीवान रतनचंदजी आदि सैकड़ों श्रोतागुण धर्म-लाभ करते थे।

श्री पंडित टोडरमलजी के प्रति

दिये धर्म हित प्राण

रचयिता - श्री 'सुधेश' जैन, नागौद

हे जिनवाणी के मंदिर के निष्ठावान पुजारी।
तव कृतज्ञ सहै जैन जगत का हर मुमुक्षु नर नारी।।

किया अल्प वय में ही धार्मिक ज्ञान राशि का अर्जन।
पुन: किया जिज्ञासु जनों हित सद्ग्रंथों का सर्जन।।
यों जिनवाणी की सेवा हित कर निज जीवन अर्पण।
मोक्ष मार्ग का रूप दिखाने हेतु दिये नव दर्पण।।

अत: तुम्हारी इन दोनों के हेतु सभी आभारी।
हे जिनवाणी के मंदिर के निष्ठावान पुजारी!

यद्यपि कीर्ति-कामना कुछ भी थी न तुम्हारे उर में।
फिर भी वर्द्धित कीर्ति नहीं थी समा सकी 'जयपुर' में।।
चन्द्र-चन्द्रिका सी वह फैली चारों ओर यहाँ पर।
विज्ञों के मानस में आयी नव्य हिलोर यहाँ पर।।

मोक्ष मार्ग से परिचित होने लगे पुन: संसारी।
हे जिनवाणी के मंदिर के निष्ठावान पुजारी!

मर्मज्ञों ने किया तुम्हारी प्रतिभा का मूल्यांकन।
यह विलोक विद्वेषी तुम पर लगे लगाने लाञ्छन।।
इतना ही न, तुम्हारे पीछे पड़े हाथ वे धोकर।
छल पूर्वक तुमको मरवाने किया यत्न मम खोकर।।

किसी तरह कुचला कर लेली जाये जान तुम्हारी।
हे जिनवाणी के मंदिर के निष्ठावान पुजारी!

उसको भी तो समझा तुमने अपने लिए कसौटी।
दिये धर्म हित प्राण, तुम्हारी श्वास नहीं फिर लौटी।।
'जयपुर' के कण कण में अंकित यह उत्सर्ग-कहानी।
दुर्लभ है अब आज तुम्हारे जैसा दृढ़ श्रद्धानी।।

जहाँ कही भी होओ तुम लो श्रद्धांजली हमारी।
हे जिनवाणी के मंदिर के निष्ठावान पुजारी!

दे सम्यक्त्व-प्रेरणा सबको यह शिव-मार्ग-प्रकाशक।
जो है अब मिथ्यात्व तिमिर का सूर्य समान विनाशक।।
ज्योति स्तम्भ समान अहर्निशि यह शिव मार्ग दिखाये।
ओ मुमुक्षुओं को शिव पथ पर चलना सतत सिखाये।।

इसके कारण अमर हुई है पावन कीर्ति तुम्हारी।
हे जिनवाणी के मंदिर के निष्ठावान पुजारी!

●●

महान विद्वान् पंडित टोडरमलजी

श्री सत्यंधरकुमार सेठी, उज्जैन

19 वीं शताब्दी के महाविद्वान् आचार्य-कल्प पंडित टोडरमलजी का यह द्विशताब्दी-महोत्सव एवं टोडरमल स्मारक का निर्माण वास्तव में जयपुर जैन समाज के इतिहास में अमर रहेगा। जयपुर वास्तव में जैन इतिहास में अमर रहेगा। जयपुर वास्तव में जैन इतिहास में एक गौरवशाली नगर रहा है। जिसने समय-समय पर विद्वानों को जन्म दिया और उनके द्वारा जिनवाणी तथा हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवायें हुई। उन विद्वानों में श्रद्धेय पंडित टोडरमलजी का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। क्योंकि पंडित टोडरमलजी विद्वान् तो थे ही लेकिन वे एक ऐसे विद्वान थे जिन्होंने अपने जीवन का हर क्षण साहित्य-सर्जन और उसके पठन-पाठन में दिया। वे एक अध्ययनशील विद्वान थे जिनकी प्रतिभा, विद्वत्ता त्याग और सच्चरित्रता की छाप सारे धार्मिक जगत पर पड़ी हुई थी। वे उम्र में छोटे थे; फिर भी ज्ञान वृद्ध थे। उनकी शास्त्र सभाओं में सैंकड़ों की संख्या में श्रोता आते थे और अगणित पत्र बाहर से बड़े-बड़े मनीषियों के आते थे जो जैन दर्शन के संबंध में अपनी शंकाओं का निराकरण चाहते थे। श्रद्धेय पंडितजी की जीवनी आज हमें पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो रही है। उनकी जीवन का अगर कोई नमूना है तो उन द्वारा रचित मोक्षमार्ग प्रकाशक नामा ग्रंथ है। जो हिन्दी साहित्य का ढूंढारी भाषा में अनुपम ग्रंथ रत्न है। इस ग्रंथ के अध्ययन से पता चलता है कि उनका जीवन कैसा था। इस ग्रंथ का प्रचार उनके जीवन काल में कितना हुआ यह तो नहीं कहा जा सकता; लेकिन इस ग्रंथ की प्राचीन प्रतियाँ कई ग्रंथ भंडारों में उपलब्ध हैं इससे पता चलता है कि जैन जगत् में उनके प्रति काफी श्रद्धा थी। वे महान् आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। इस महान ग्रंथ का पठन-पाठन बहुत जल्दी जैन समाज में प्रचलित हो गया और उसने काफी स्थान प्राप्त कर लिया।

इस ग्रंथ की रचना अपूर्व है। इसमें प्रारंभ से लेकर अंत तक मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत तत्त्व क्या है और अप्रयोजनभूत तत्त्व क्या है - यह समझाने का प्रयत्न किया है। साथ में निश्चयनय और

व्यवहारनय का भी अपूर्व ढंग से वर्णन किया है। यदि इस कथन को पढ़ा जाय तो यह समझ में आता है कि इन दोनों के बिना जैन तत्त्व ज्ञान अधूरा है। मोक्षमार्ग में प्रवेश करनेवाले मुमुक्षु के लिए निश्चय और व्यवहार एक नि:सरणी है – इसको समझने में यदि कोई भूल करता है तो वह एकांती बनकर निश्चयाभासी या व्यवहाराभासी बन जाता है। मल्लजी ने इस पर काफी प्रकाश डाला है। इसी तरह बंध, आश्रव, संवर और निर्जरा तत्त्व भी समझाया गया है। श्रद्धेय पंडितजी इस ग्रंथ रत्न को पूर्ण नहीं कर सके और वे अल्प अवस्था में ही मृत्यु के शिकार बन गये।

महापुरुष जहाँ उदार और सहृदयी होते हैं, वहाँ कुछ ऐसे भी पुरुष होते हैं, जो उनकी विद्वत्ता, त्याग, और प्रतिभा से ईर्ष्या करते हैं। ऐसे कई उदाहरण भारतीय इतिहास व धार्मिक जगत् में मिलते हैं। पंडितजी को भी इसका शिकार होना पड़ा। पंडितजी विचारों में उदार और क्रांतिकारी साधु पुरुष थे। वे धर्म-मय जीवन चाहते थे।

आज भी इस महान ग्रंथ का घर-घर में प्रचार है और मुमुक्षु लोग आदर से इसका पठन-पाठन करके अपना कल्याण कर रहे हैं।

आध्यात्मिक जगत् के महान् संत कानजीस्वामी का यह ग्रंथ हृदय का हार है। उन्होंने लाखों की संख्या में इसका प्रचार किया है और करवा रहे हैं।

मैं इस अवसर पर वीरवाणी के संपादक मंडल व विशेष कर श्रद्धेय पूज्य पंडित चैनसुखदासजी साहब के प्रति आभार प्रकट किये बिना नहीं रहूंगा, जिनकी महान् प्रेरणा से ही यह समारोह और वीरवाणी का विशेषांक प्रकाशित हो रहा है। श्रद्धेय पंडित चैनसुखदासजी ने पंडित टोडरमलजी के संबंध में काफी साहित्य प्रकाशित किया है। इनकी उनमें अपूर्व श्रद्धा है। और वे मानते हैं कि यदि टोडरमलजी नहीं होते तो जैन धर्म में कई अंध-श्रद्धायें और रूढ़ियाँ घर कर जातीं। और धर्म का रूप ही विकृत हो जाता। मल्लजी कट्टर सुधारक थे – उनके विचारों में क्रांति थी। उनको शिथिलाचार पसंद नहीं था। वे सिर्फ यह चाहते थे कि जैन धर्म निर्मल बना रहे, और मलिनता से दूर रहे। मल्लजी के समय में धर्म में शिथिलाचार आ गया था, साधुओं में भी उसका असर हो गया था, ऐसा उनके साहित्य से प्रतिभासित होता है। उनका पुत्र भी अपने पिता के सदृश ही क्रांतिकारी था, जिसने गुमान पंथ चलाया। और इस पंथ की भी अपनी कुछ विशेषताएं हैं।

आज भी कुछ साधु और श्रावक इस पंथ को खत्म करने के लिए आगे बढ़ रहे हैं। वे चाहते हैं कि समाज में शिथिलाचार बढ़े। इसलिए कुछ वर्षों पहले एक विद्वान् ने टोडरमलजी व मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के संबंध में अपने अविवेक पूर्ण विचार प्रकट किये थे और समाज ने विरोध के रूप में उनसे वे शब्द वापिस लेने को कहा था।

इस अवसर पर हम श्रद्धेय पंडितजी के चरणों में विनम्र सहस्र श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं। और चाहते हैं कि श्रद्धेय पंडितजी की ये कृतियां अमर बनी रहें और विश्व के लिए मोक्षमार्ग प्रशस्त करती रहें। ●●

प्रथमानुयोग और मोक्षमार्ग प्रकाशक

श्री प्रकाश हितैषी शास्त्री

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी आज से 200 वर्ष पूर्व इस भारत भू पर बहुश्रुताभ्यासी, अपूर्व प्रतिभाशाली प्रकाण्ड विद्वान थे, जिन्होंने अपने क्षयोपशम के बल पर अल्पावधि में ही विशाल आगम ज्ञान प्राप्त कर गोम्मटसार (कर्मकाण्ड और जीवकाण्ड), लब्धिसार, आत्मानुशासन आदि महान ग्रंथों की विशाल टीकायें कीं तथा चारों अनुयोगों का सार लेकर स्वतंत्र मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ की रचना कर आत्महितैषी प्राणियों को वह अमूल्य-रत्न प्रदान किया, जिसकी गणना महान आगम ग्रंथों में की जाती है। यद्यपि यह ग्रंथ वे अपने जीवन में पूर्ण नहीं कर सके, किंतु फिर भी जितना लिख गये हैं, उतना अनेक विद्वान मिलकर भी अपने जीवन में इस महत्ता के साथ पूर्ण नहीं कर सकते। यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का पूर्ण यथेष्ट वर्णन कर पाते तो यह एक महान् विशाल आगम ग्रंथ होता, किंतु वे अपने अल्प जीवन में सम्यग्दर्शन का ही वर्णन पूरा नहीं कर पाये थे कि बीच में ही इस लोक से चले गये।

इस ग्रंथ में 9 अधिकार हैं। उनमें से आठवें अधिकार में चारों अनुयोगों की कथन पद्धति को समझने का ढंग बतलाया है। क्योंकि चारों अनुयोगों का उद्देश्य एकमात्र वीतराग मार्ग का प्रदर्शन करना है किंतु उनकी कथन पद्धति पृथक्-पृथक् है। उस पद्धति को समझे बिना तत्त्व का रहस्य समझ में नहीं आ सकता। जैसे प्रथमानुयोग में मात्र कौवे के मांस छोड़नेवाले को व्रती कहा है। चरणानुयोग कहता है, व्रत तो दो ही प्रकार के हैं, एक अणुव्रत और दूसरे महाव्रत। अत: पाँच पापों का त्याग उसके न होने से वह अव्रती है। करणानुयोग कहता है कि जब तक व्यक्ति की कषाय न छूटे, तब तक वह मात्र बाह्य त्याग से व्रती कैसे हो सकता है? इसके आगे द्रव्यानुयोग कहता है कि कषायों का त्याग आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और सम्यग्चारित्र से ही हो सकता है; अन्यथा कोई भी कषाय का त्याग नहीं कर सकता। कषाय छोड़ी नहीं जाती, छूट जाती है। यहाँ पर ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रत्येक अनुयोग एक-दूसरे का विरोध कर रहा है किंतु चारों अनुयोग राग घटाने का ही उपदेश दे रहे हैं। किसी भी अनुयोग का प्रयोजन रागवर्धन नहीं है।

यहाँ पर हमको चारों अनुयोगों की कथन पद्धति को समझना होगा, तभी हम धर्म-रहस्य को पा सकेंगे। इन अनुयोगों के दृष्टिकोण को श्री पंडितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अधिकार में बड़ा ही स्पष्ट किया है। इस अधिकार में चारों अनुयोगों का प्रयोजन, उनकी पद्धति, उसमें दोष-कल्पना तथा आक्षेपयोग्य उपदेशों का स्पष्टीकरण किया है। इन चारों अनुयोगों में से सर्व प्रथम प्रथमानुयोग को लिया है। क्योंकि धर्ममार्ग की ओर आकृष्ट करने के लिये यही अनुयोग अधिक कार्यकारी होता है। कहा भी है -

'प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्त्योऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोगः।'

जी.प्र.टी.गा. 361-2

अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि के लिये धर्म से प्रेरणा देनेवाला प्रथमानुयोग है। किंतु इसका यही प्रयोजन नहीं है कि इसे सिर्फ मिथ्यादृष्टियों को पढ़ना चाहिये किंतु व्युत्पन्न सम्यग्दृष्टि भी इसे पढ़कर अपने विराग की वृद्धि कर सकता है। इस विषय में मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है -

''बहुरि जिन जीवनि के तत्त्वज्ञान भया होय, पीछे इस प्रथमानुयोगकौं वांचैं सुनैं, तौ तिनकौ यहु तिसका उदाहरणरूप भासे है। जैसैं जीव अनादि निधन है, शरीरादि संयोगी पदार्थ हैं, ऐसैं यहु जानैं था। बहुरि पुराणनि विषैं जीवनि के भवांतर निरूपण किए, ते तिस जानने के उदाहरण भए। बहुरि शुभ अशुभ शुद्धोपयोगकौं जानैं था, वा तिनके फलकौं जानैं था। बहुरि पुराणनि विषैं तिन उपयोगनि की प्रवृत्ति अर तिनका फल जीवनिकैं भया सो निरूपण किया। सो ही तिस जाननें का उदाहरण भया। ऐसैं ही अन्य जानना।'' मो.मा.प्र., पृष्ठ 395

इस प्रकार यह अनुयोग महापुरुषों के जीवन चरित्र द्वारा जहाँ अज्ञानी जीव को धर्म मार्ग की प्रेरणा देता है वहाँ ज्ञानी जन को भी अत्यन्त उपयोगी है। क्योंकि कथा साहित्य साक्षर, निरक्षर, स्त्री, बालक, वृद्ध, युवा आदि सभी लोगों का विषय है। कहना चाहिये वह दरिद्रों का, धनवानों का, किसानों का, विद्वानों का, समान रूप से भोज्य है। कथा साहित्य की विशेषता है कि वह जितना सुना जाता है, वह सब याद हो जाता है। वह कथा वस्तु जन-जन के मन पर अंकित होकर स्मृति संस्कारों में ठहरती है, वही पुनः उसकी वाणी में आविर्भूत होती है और एक से दस और दस से शत, सहस्र की कर्ण-परंपराओं में कोटि-कोटि लोगों तक पहुँचती है। अतः यह सर्वोपयोगी, सर्वसुलभ अनुयोग है। अतः सभी आचार्यों ने इसका प्रकरण सर्व प्रथम रखा है।

इस अनुयोग में मूलकथाएं तो यथावत् निरूपित की जाती हैं किंतु प्रसंगवश चर्चा वार्ता होती है, वह ग्रंथकर्ता के विचार के अनुरूप होती है, किंतु वह विचारधारा उस प्रसंग के प्रयोजन की साधक ही होती है। उसके विपरीत नहीं होती। जैसे ग्रंथ में पंडितजी ने उदाहरण देकर समझाया है-

''जैसे तीर्थंकरदेवनि के कल्याणकनि विषैं इन्द्र आया, यहु कथा तो सत्य है। बहुरि इन्द्र स्तुति करी, ताका व्याख्यान किया, सो इन्द्र तौ और ही प्रकार स्तुति कीनी थी, अर यहां ग्रंथ कर्ता और ही प्रकार स्तुति कीनी लिखी। परंतु स्तुतिरूप प्रयोजन अन्यथा न भया।..... ऐसैं ही अन्यत्र जानना।''

मो.मा.प्र., पृष्ठ 399

यहाँ प्रासंगिक वार्ता प्रयोजन की पूरक होने से अयथार्थ भी नहीं कही जा सकती है।

प्रथमानुयोग में धर्म रुचि बढ़ाने के लिये थोड़े से शुभादि भावों का फल विशेष बतला दिया जाता है। जैसे अंजन चोर णमोकार मंत्र को 'आणं ताणं कछु न जाणं, सेठ वचन परमाणं।' रूप अशुद्ध

जपता हुआ भी सम्यग्दृष्टि बन गया, और फिर मोक्ष चला गया। जबकि आत्मश्रद्धान और देव-गुरु-शास्त्र के श्रद्धान बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है किंतु श्रद्धा की महत्ता बतलाने के लिये इस प्रकार कह दिया है। क्योंकि विशेष फल दिखाये बिना अज्ञानी जीव धर्म मार्ग में नहीं लगते हैं। इस प्रकार बढ़ा-चढ़ाकर कथन करना असत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि असत्य तो तभी कहा जा सकता है, जब पुण्य के फल को पाप का फल बतावे तथा पाप के फल को पुण्य का फल बताया जाये।

कहीं पर एक के भावों का फल अनेक को मिलता हुआ दिखाया जाता है। वह सब व्यवहार कथन है। जैसे मैना रानी ने भगवान की पूजा की, उससे 700 रोगियों का कुष्ट मिट गया, ऐसा दर्शाया गया है, किंतु उसमें उन सबकी भक्ति भावनाओं और शुभोदय के निमित्त से सबका कुष्ट रोग दूर हुआ था। पंडितजी ने कहा भी है -

''.....उपदेश विषै कहीं व्यवहार वर्णन है, कहीं निश्चय वर्णन है। यहाँ उपचार रूप व्यवहार वर्णन किया है, ऐसैं याकौं प्रमाण कीजिए है। याकौं तारतम्य न मानि लेना। तारतम्य करणानुयोग विषै निरूपण किया है, सो जानना। बहुरि प्रथमानुयोग विषैं उपचार रूप कोई धर्म का अंग भए संपूर्ण धर्म भया कहिए है। जैसे जिन जीवनी के शंका कांक्षादिक न भए, तिनकै सम्यक्त्व भया कहिये। सो एक कोई कार्य विषैं शंका कांक्षा न किए ही तो सम्यक्त्व न होय, सम्यक्त्व तौ तत्त्व श्रद्धान भये हो है। परंतु निश्चय सम्यक्त्व का तौ व्यवहार विषैं उपचार किया, बहुरि व्यवहार सम्यक्त्व के कोई एक अंग विषैं संपूर्ण व्यवहार सम्यक्त्व का उपचार किया, ऐसैं उपचार करि सम्यक्त्व भया कहिए है। .....तहां जानै जैनधर्म अंगीकार किया होय, वा छोटी मोटी प्रतिज्ञा गृही होय, तांकौं श्रावक कहिये, सो श्रावक तौ पंचम गुणस्थानवर्ती भए हो है। परंतु पूर्ववत् उपचार कहि याकौं श्रावक कहा है। उत्तर पुराण विषैं श्रेणिक कौं श्रावकोत्तम कह्या, सौ वह तो असंयत था। परंतु जैनी था, तातै कहा, ऐसैं ही अन्यत्र जानना।''

मो.मा.प्र., पृष्ठ 401-2

इसी प्रकार कहीं पर बहुत हिंसादि पाप छुटाने के लिये अल्प हिंसा विधेय बतला दी है, अथवा बहुत राग छुटाने के लिये अल्प राग उपादेय कह दिया गया है, किंतु पाप मात्र या राग मात्र हेय है, वह उपादेय कैसे हो सकता है किंतु त्याग की अपेक्षा व्यवहार से उसे उपादेय कहा है। वास्तविक दृष्टि में तो संपूर्ण राग मात्र हेय ही है।

कहीं पर इस अनुयोग में धर्म-प्रेम वश कोई अनुचित कार्य या अपने पद के प्रतिकूल कार्य भी करता है तो उसको भी प्रशंसनीय कहा गया है। जैसे विष्णुकुमार मुनि ने मुनिपद छोड़कर सात सौ मुनियों की रक्षा की किंतु यह कार्य उनके पद के अनुकूल नहीं था फिर भी धर्मानुराग से किया तो उनको श्रेष्ठ वात्सल्य अंग का धारी कहा गया है। इसी विषय में मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा गया है - ''बहुरि

प्रथमानुयोग विषैं कोई धर्म बुद्धितैं अनुचित कार्य करै ताकी भी प्रशंसा करिए है। जैसे विष्णुकुमार मुनिनिका उपसर्ग दूरि किया, सो धर्मानुरागतैं किया, परंतु मुनिपद छोड़ि यहु कार्य करना योग्य न था। जातैं ऐसा कार्य तौ गृहस्थ धर्म विषै सम्भवै अर गृहस्थ धर्म तैं मुनिधर्म ऊँचा है सो ऊँचा धर्म को छोड़ नीचा धर्म अंगीकार किया सो अयोग्य है, परंतु वात्सल्य अंग की प्रधानता करि विष्णुकुमारजी की प्रशंसा करी। इस छल करि औरनिकों ऊँचा धर्म छोड़ि नीचां धर्म अंगीकार करना योग्य नाहीं। बहुरि जैसे गुवालिया मुनि कौं अग्नि कर तपाया सो करुणातैं यहु कार्य किया, परंतु आया उपसर्ग को तौ दूरि करै, सहज अवस्था विषैं जे शीतादिक की परिषह हो है तिनकौ दूरि कीए रति मानने का कारण होय, तामें उनकौ रति करनी नाहीं, तब उलटा उपसर्ग होय। याही तैं विवेकी उनकै शीतादिक का उपचार करते नाहीं। गुवालिया अविवेकी था, करुणाकरि यहु कार्य किया तातैं याकी प्रशंसा करी। इस छलकरि औरनि कौ धर्म पद्धति विषैं जो विरुद्ध होय सो कार्य करना योग्य नाहीं।'' मो.मा.प्र., पृष्ठ 403

इस अनुयोग में अलंकारादि से जनमन रंजन करने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। उसमें भी जन साधारण के उपयोग लगाने के लिये मनोरंजक साधन समझकर इनका उपयोग किया जाता है, इनका यही मुख्य प्रयोजन है। कहीं पर पुराणों में शृंगारादि का एवं संग्रामादि का बहुलता से वर्णन मिलता है, जिसका धर्म में कोई संबंध नहीं है, अतएव कोई कहे कि आचार्यों ने इस शृंगारादि का वर्णन क्यों किया? इसका उत्तर भी मोक्षमार्ग प्रकाशक में बड़ा सुंदर दिया गया है कि उन महापुरुषों ने इतना पुण्य वैभव पाकर तथा सभी अनुकूल सामग्री प्रकार भी अन्त में उसे ठुकराकर आत्मकल्याण किया। यहाँ पर भी वैभव आदि से राग छुड़ाने का ही प्रयोजन मुख्य है। क्योंकि चारों अनुयोगों का लक्ष्य वीतराग मार्ग ही है।

सरागी जीवों का मन ऐसे कथानकों में लग जाता है। मात्र वीतराग कथा में उनका मन नहीं लगता है। अतएव जैसे बच्चों को बतासा में रखकर दवा खिला दी जाती है, उसी प्रकार आचार्यों ने यहाँ प्रयोग किया है।

यहाँ यह भी प्रश्न नहीं उठता कि शृंगारादि की कथा सुनने से विरागी जीवों के राग की वृद्धि होगी, क्योंकि जो विरागी हैं, जिनके अंतरंग में राग-द्वेष नहीं है, उनको शृंगारादि की कथा सुनने से राग कैसे उत्पन्न हो सकता है?

कोई कहे कि जो रागी हैं वे लोग तो इस तरह के शृंगारादि की कथा सुनकर विशेष राग करेंगे। इससे वीतरागमार्ग रागपोषक सिद्ध होता है, अत: इस प्रकार के रागवर्द्धक कथानक नहीं लिखना चाहिये जो मार्ग को दूषित करें। इसका उत्तर पंडितजी ने बड़ा सुंदर दिया है। वे लिखते हैं -

''बहुरि तू कहैगा-जिनकै शृंगारादि कथन सुनै रागादि होय आये, तिनकौं तो वैसा कथन सुनना योग्य नाहीं।

ताका उत्तर यह है – जहां धर्म ही का तौ प्रयोजन अर जहां तहां धर्मकौं पोषैं ऐसैं जैन पुराणादिक तिन विषैं प्रसंग पाय शृंगारादिक का कथन किया, ताकौं सुने भी जो बहुत रागी भया, तौ अन्यत्र कहां विरागी होसी, पुराण सुनना छोड़ि और कार्य भी ऐसा ही करेगा, जहां बहुत रागादि होय। तातैं वाकै भी पुराण सुने थोरा बहुत धर्म बुद्धि होय ही होय। और कार्यनिते यहु कार्य भला ही है।''

मो.मा.प्र., पृष्ठ 426

कहीं-कहीं पर प्रथमानुयोग में कथाभेद भी पाया जाता है, उसका उत्तर देते हुए कहा है – 'ऐसैं विरोध लिए कथन कालदोष तैं भए हैं। इस कालविषैं प्रत्यक्षज्ञानी व बहुश्रुतनि का तो अभाव भया, अर स्तोक बुद्धि ग्रंथ रचने के अधिकारी भए। तिनकैं भ्रमतैं कोई अर्थ अन्यथा भासै, तकौं तैसैं लिखे, अथवा इस काल विषै केई जैनमत विषैं भी कषायी भए हैं, सो तिनने कारण पाय अनयथा कथन लिख्या है। ऐसैं अन्यथा कथन भया, तातैं जैन शास्त्रनि विषैं विरोध भासने लगा। जहाँ विरोध भासै तहां इतना करना कि इस कथन करनेवाले बहुत प्रमाणीक है कि उस कथन करनेवाले बहुत प्रमाणीक है – ऐसा विचारकरि बड़े आचार्यनि का कह्या कथन प्रमाण करना। बहुरि जिनमत के शास्त्र बहुत हैं तिनकी आम्नाय मिलावनी। जो परंपरा आम्नाय तैं मिलै, सो कथन प्रमाण करना। ऐसैं विचार किएं भी सत्य असत्य का निर्णय न होय सकै, तौ जैसैं केवलीकौं भास्य है तैसैं प्रमाण है, ऐसैं, मान लैना। जातें देवादिकका वा तत्वनिका निर्धार भए बिना तो मोक्षमार्ग होय नाहीं। तिनिका तौ निर्धार भी होय सकै हैं, सो कोई इनका स्वरूप विरुद्ध कहै तो आप ही को भासि जाय। बहुरि अन्य कथन का निर्धार न होय, वा संशयादि रहै वा अन्यथा जानपना होय जाये, अर केवली का कह्या प्रमाण है, ऐसा श्रद्धान रहे, तो मोक्षमार्ग विषैं विघ्न नाहीं, ऐसा जानना।'

मो.मा.प्र., पृष्ठ 445-46

इस प्रकार उपरोक्त शंका का कितना सुंदर समाधान किया है। यह प्रथमानुयोग शुभ अशुभ और शुद्ध भावों के फल को बतलानेवाला निर्मल दर्पण है। यदि इसकी कथन पद्धति को समझा जावे तो यह आत्म हितैषियों के महान् कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। क्योंकि कथानक का मर्मस्थल हृदय को सीधा स्पर्श करता है। ●●

''या जगत विषैं सब ही पदार्थ अपने स्वभाव ही कूं धारै हैं। काहू द्रव्य का काहू द्रव्य सूं संबंध नांही, सब जुदे हैं। अर मैं अनादि काल तैं मिथ्यात्व रागादिक के योग तैं देहादिक पर-पदार्थनि कूं अपने जानता भया सो वै तौ मेरे तीन काल मैं न होय। अर मैं वृथा अपने जानै यही तैं संसार विषैं भ्रम्या। अर अब सम्यग्ज्ञान के प्रभावतैं मैं यह जानी तो यह अन्य पदार्थ मैं नांहीं, यह जड, मैं चैतन्य, मेरै इनकै कहा संबंध? सो ये ही ज्ञान कल्याण का कारण है।''

– आत्मानुशासन

पंडित टोडरमलजी का 'पद्य-साहित्य'

श्री प्रेमचंद रांवका, बी.ए., जयपुर

धन्य सुरस के रसिक जीव, नित्य सुकृति जग मांहि।
जिनके यश के काय में, जरा मरणज भय नांहि।।

संवत् 1797 (1740 ई0) में जयपुर नगर में जन्म लेनेवाले पंडित टोडरमलजी अपने समय के अद्भुत क्रांतिकारी थे। वे तत्कालीन विद्वद्वर्ग में सर्वोच्च प्रतिभा संपन्न थे। श्रद्धेय पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के शब्दों में - 'वे अकुतो भय थे। मानों उनके देह का प्रत्येक स्कन्ध निर्भयता से निर्मित हुआ हो। वे 'आचार्य समन्तभद्र' के समान परीक्षा प्रधानी थे।' डॉ. कस्तूरचंदजी कासलीवाल के अनुसार : 'वे लकीर का फकीर होना पसंद नहीं करते थे। तर्क एवं श्रद्धा का उनमें अद्भुत संगम था। वे श्रद्धा की तरह कोमल और तर्क के समान कठोर थे। उनके अद्भुत पांडित्य के सामने कोई शास्त्रार्थ करने का साहस न करता था।' - पर यह चरित्र-नायक, तत्कालीन जयपुर नरेश श्री माधवसिंह प्रथम के शासन-काल में 27-28 वर्ष की अल्पायु में ही काल के ग्रास बन गये।

13वीं शताब्दी के आचार्यकल्प पंडित आशाधर के बाद 18 वीं शताब्दी के पंडित टोडरमलजी ही ऐसे मणिरत्न थे जिनको 'आचार्यकल्प' से अलंकृत करने के लिए साहित्य जगत को विवश होना पड़ा। वे प्रत्युत्पन्न मति और लोकोत्तर प्रतिभा के धनी थे, जिनकी इतिहास में तुलना संभव नहीं। वे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, आदि भाषाओं से पूर्णत: अभिज्ञ थे। न्याय, दर्शन, गणित, साहित्य, सिद्धांत आदि जैन एवं जैनेतर ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन, मनन एवं अनुचिन्तन किया था। इन सबका गहनतम अनुभव हमें उनकी अब तक की विभिन्न ग्रंथों की भाषा टीकाओं व उनकी मौलिक रचनाओं में मिलता है। उनकी अब तक की प्राप्त कृतियां निम्नलिखित है :- (1) रहस्यपूर्ण चिट्ठी, (2) गोम्मटसार टीका (जीवकाण्ड कर्मकाण्ड), (3) लब्धिसार टीका, (4) क्षपणासार टीका, (5) त्रिलोकसार टीका, (6) आत्मानुशासन टीका, (7) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय टीका, (8) मोक्षमार्ग प्रकाशक और (9) गोम्मटसार पूजा (संस्कृत) इनमें पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय और मोक्षमार्ग प्रकाशक अपूर्ण है।

इन रचनाओं के अध्ययन से यह परिज्ञात होता है कि पंडित टोडरमलजी वस्तुत: अप्रतिम ज्ञान के भंडार थे। यद्यपि ये कृतियां उनको उच्च कोटि का टीकाकार सिद्ध करती हैं; तथापि इनमें यथास्थान बीच-बीच में प्रयुक्त पद्यों से उनके कविपने का भी स्पष्ट परिचय मिलता है। पंडितजी को मात्र 'गद्यकार' कहना, उनके साथ पक्षपात करना है। सच तो यह है कि साहित्य की दोनों विधाओं पद्य तथा गद्य में वे निपुण थे। उनकी पद्य रचना उतनी ही सौष्ठव, सम्मार्जित एवं भाव भाषा से परिपूर्ण है, जितना उनका गद्य साहित्य। जिसने स्वयं अपना 'परिचय' कव्य की प्रमुख विधा दोहा, चौपाई व सवैये आदि

के माध्यम से प्रस्तुत किया, उनकी 'काव्य-प्रियता' का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 'लब्धिसार टीका' की पद्यमय प्रशस्ति में वह दोहा इस प्रकार है –

रम्भापति स्तुत गुन जनक, जाकौ जोगीदास।
सोई मेरो प्रान है, धारैं प्रकट प्रकाश।।

मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मेरा क्या स्वभाव हैं-इस भाव को स्वनाम धन्य कवि ने 'लब्धिसार' की टीका-प्रशस्ति के निम्न सवैये में प्रकट किया है, जिससे उनके लौकिक और आध्यात्मिक जीवन का पता चलता है –

मैं हूं जीव-द्रव्य नित्य, चेतन स्वरूप मेरो,
लग्यो है अनादितैं कलंक कर्म मल कौ।
ताही कौ निमित्त पाय रागादिक भाव भये,
भयो है शरीर कौ मिलाप जैसे खल कौ।।
रागादिक भावनिकौ पाप के निमित्त पुनि,
होत कर्म बन्ध ऐसे है बनाव कल कौ।
ऐसे ही भ्रमत भयो, मानुष शरीर जोग,
बनै तो बनै यहां उपाय, निज थल कौ।।

आगे के चौपाई में कहते हैं –

मैं आतम अरु पुद्गल स्कंध, मिलिकै भयो परस्पर बंध।
सो असमान जाति पर्याय, उपज्यौ मानुष नाम कहाय।।

इन पद्यों को पढ़कर कौन कह सकता है कि पंडित टोडरमलजी केवल गद्यकार ही थे? यद्यपि वे स्वयं कोई कवि नहीं थे, और न काव्य रचना करना उनका उद्देश्य ही था। पर उनके सहज स्वाभाविक छन्दों के प्रयोगों को देखकर उनको 'कवि' मानने से इनकार भी नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि एक कवि से कम नहीं थे। पद्य रचना में भी वे उतने ही निपुण थे, जितना उनका नैंपुण्य हमें उनकी विशाल गद्य टीकाओं से प्रतिभासित होता है। उपर्युक्त छंदों में पंडितजी की आध्यात्मिक शक्ति का तो पता चलता ही है, पर साथ ही साथ उनके लौकिक जीवन की झांकी भी हम पाते हैं। इस संदर्भ में निम्न छंद भी अवलोकनीय है –

वचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया।
ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनि में नहिं हमारो मेल।।

पंडित परमानंदजी शास्त्री के अनुसार आप केवल हिन्दी गद्य भाषा के ही लेखक नहीं थे, किंतु

आपमें पद्य रचना करने की भी क्षमता थी और हिन्दी भाषा के साथ-साथ 'संस्कृत भाषा' में भी पद्य रचना अच्छी तरह से कर सकते थे। 'गोम्मटसार' की पूजा, उन्होंने संस्कृत के पद्यों में ही रची है, जिसमें 'गोम्मटसार' के गुणों की महत्ता व्यक्त करते हुये उसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की गई है। इसके अतिरिक्त 'संदृष्टि अधिकार' का आदि अंत मंगल भी संस्कृत श्लोकों में ही दिया गया है -

संदृष्टेर्लब्धिसारस्य, क्षपणासारपीयुष:।
प्रकाशिन: पदं स्तौमि नेमिचन्दोर्माधवप्रभो:।।

यह पद्य द्वयर्थक है। प्रथम अर्थ में 'क्षपणासार' के साथ 'लब्धिसार' की 'संदृष्टि' को प्रकाश में लानेवाले 'माधवचन्द्र' के गुरु 'आचार्य नेमिचंद्र' सैद्धांतिक के चरणों की स्तुति की गई है, और दूसरे अर्थ में 'करुणलब्धि' के परिणाम स्वरूप कर्मों की क्षपणा को प्राप्त और समीचीन दृष्टि के प्रकाशक 'नारायण' के गुरु 'नेमिनाथ' भगवान के चरणों की स्तुति का उपक्रम किया गया है। इसी तरह अंतिम पद्य भी तीनों अर्थों को लिए हुए हैं, जिसमें शुद्धात्मा (अरहंत) अनेकांत वाणी और उत्तम साधुओं को 'संदृष्टि' की निर्विघ्न रचना के लिए नमस्कार किया गया है -

शुद्धात्मानमनेकान्तं साधुमुत्तममंगलम्।
वन्दे संदृष्टि-सिद्धर्थं संदृष्ट्यर्थं प्रकाशकम्।।

इसी तरह हिन्दी भाषी के पद्यों में भी 'पंडितजी' की 'कवित्व-शक्ति' का अच्छा परिचय मिलता है-

मैं नमो नगन जैन जन, ज्ञान ध्यान धनलीन।
मैं न मान बिन दान धन, एन हीन तन छीन।।

यह पद्य पंडितजी की कुशल भाव भाषा का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। 'गोम्मटसार' के इस 'मंगलाचरण' से 'पंडितजी' की 'शब्द-रुचि' का पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है। यह छन्द चित्रालंकार के रहस्य को सुरीति से प्रकट करता है। प्रत्येक पद का अवलोकन यह सिद्ध करता है। चित्रालंकार के साथ-यमक, अनुप्रास और रूपक आदि अलंकारों का भी यह पद्य निर्देश करता है। कवि की इस पद्य में यही भावना है कि मैं ज्ञान और ध्यान रूपी धन में लीन रहनेवाले, काम और मान से रहित, मेघ के समान धर्मोपदेश की वृष्टि करनेवाले, पाप रहित और क्षीण शरीर वाले उन 'दिगम्बर' साधुओं को भी नमस्कार करता हूँ।

पंडित परमानन्दजी शास्त्री के अनुसार, ''यह पद्य गोमुत्रिका बन्ध का कारण है। इसमें ऊपर से नीचे की ओर क्रमश: एक-एक अक्षर छोड़ने पर पद्य की ऊपर की पंक्ति बन जाती है और इसी तरह नीचे से ऊपर की ओर एक-एक अक्षर छोड़ने से नीचे की पंक्ति भी बन जाती है। पर इस तरह से

'चित्र-बन्ध' कविता दुरुह होने के कारण पाठकों की उसमें शीघ्र गति नहीं होती। किंतु खूब सोचने विचारने के बाद ही उन्हें कवित्त के रहस्य का पता चलता है।''

अस्तु, यह पद्य स्वनाम धन्य पंडित टोडरमलजी के पद्य के भाव पक्ष और कला पक्ष का एक सुंदर नमूना है। जो पंडित के भाव पक्ष के साथ-साथ शास्त्रीय पक्ष को भी सफलता प्रदान करता है। यह पद्य इस तथ्य का द्योतक है कि, जहां एक ओर वे कुशल गद्यकार थे, तो दूसरी ओर उनमें 'सुकवि' के लक्षण भी थे। पर काल का ग्रास इन लक्षणों को प्रतिफलित होने में बाधक ही बना रहा। काश! यह 'सुकवि' यदि कुछ शरद् रात्रियां और बिता लेता तो उसकी काव्यमयता परवर्ती साहित्यकारों को विस्मय में डाले बिना नहीं रहती। गद्यकार होते हुए भी उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र व्याप्त काव्यत्व हमें रसानन्द की अनुभूति प्रदान करता है। उनकी 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' गद्यमय होते हुए भी यत्र-तत्र काव्यत्व के दर्शन करा देती है; जो अध्यात्मरस से ओतप्रोत है। वे साधारण पत्र की भाँति मात्र लोक व्यवहार के नाते क्षेम कुशलता नहीं चाहते। वे लिखते हैं - 'तुम्हारे चिदानंद घन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए।' - उनके इस वाक्य में शिष्टाचार और अध्यात्म के साथ काव्यमयता भी विद्यमान है। एक ऐसी इसमें काव्यानुभूति है जो सहज ही साहित्यरसिकों को असीम आनंद प्रदान करती है। मन मंदिर के हृदयस्थ भावों में इससे एक तरंग उठती है, जो मानव मन का चिदानंद से सहजानंद का नाता जोड़ती है, जिससे मन, मन में रमण करता है, बाह्य वस्तुओं में उसका नाता टूटने लगता है और अंतरंग में परिपक्वता पैदा होती है और तब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का एकीकरण होने लगता है। इसी तरह 'त्रिलोकसार' की टीका के समाप्त होने पर 'पंडितजी' को जिस आनंद की अनुभूति प्राप्त हुई, उसका उल्लेख वे निम्न दोहे व सवैये में करते हैं -

आरंभो पूरण भयो, शास्त्र सुखद प्रासाद।
अब भये कृतकृत्य हम, पायो अति आह्लाद।।

सवैया

अरहंत सिद्ध सूर उपाध्याय, साधु सर्व,
अर्थ के प्रकाशी मंगलीक उपकारी है।
तिनको स्वरूप जानि रागतैं भई जो भक्ति,
काय को नमाय स्तुति को उचारी हैं।।
धन्य-धन्य तुम ही से सब काज भयो,
कर जोरी बारम्बार वन्दना हमारी है।
मंगल कल्याण सुख ऐसो हम चाहत,
हो हु मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है।।

इस सवैये से स्पष्ट होता है कि 'टोडरमलजी' परिवार में रहते हुए भी वीतराग धर्म को अद्भुत

रीति से हृदयंगम किये हुए थे। यह वीतरागता ही, थी जिसने उन्हें लोकोत्तर मानव, उत्कृष्ट-साहित्य प्रणेता और प्रबुद्ध चेता बनाया।

आज का आत्म-प्रशंसक साहित्यकार अपने दंभज्ञान की भी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। वह चौदह कैरेट की रचना करके भी अपने आपको नहीं कोसता। महाकवियों की कोटि में अपनी भी परिगणना का स्वप्न देखता रहता है। वह अपनी रचना को रचना के लिये और उसके माध्यम से अपना प्रवेश-पत्र प्राप्त करने के लिये ही प्रश्रय देता है। अपने नाम मात्र की प्रशंसा के लिये परकाया प्रवेश कर कृत्रिमता के आवरण में स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है। मानों ईश्वर ने उसे मौलिकता प्रदान की ही नहीं जिससे वह सत्य रूप में प्रकट नहीं हो पाता। पर आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी इस परकाया प्रवेश से उतने ही दूर थे जितने आज के कतिपय साहित्यकार मौलिकता से परे होते जा रहे हैं। इतने विशाल साहित्य की रचना कर लेने के बाद भी अहं उनको छू तक नहीं गया। अपनी लघुता प्रकट किये बिना वे रह नहीं सके। गोम्मटसार की टीका के अंत में दिए गये दोहे से उनकी सरलता, विनम्रता और लघुता आदि के भाव सहज ही प्रकट हो जाते हैं:-

''आज्ञा अनुसारी भये, अर्थ लिखे या मांहि।
धरि कषाय करि कल्पना, हम कछु कीनों नांहि।।''

- इस छोटे से छन्द से ही टोडरमलजी की 'पद्य-गरिमा' परिलक्षित होती है। यह दोहा उनकी भावना प्रकट करता है कि आगम आज्ञानुसारि ही अर्थ किया गया है। अपनी ओर से कषायवश कुछ भी नहीं लिखा है।

इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि पंडित टोडरमलजी सरस्वती के वरद पुत्र थे। वे एक साथ विद्वान, समाज-सुधारक, साहित्य-सेवी, वीतराग-तत्वज्ञ एवं अपार प्रतिभा के धनी थे। उनकी घटनाएं इस तथ्य की साक्षी हैं कि वे कलम और वाणी दोनों के धनी थे। मोक्षमार्ग प्रकाशक उनकी स्वतंत्र मौलिक कृति है जो एक सैद्धांतिक ग्रन्थ है। इसमें मोक्ष-प्राप्ति का यथार्थ उपाय बतलाया गया है। यद्यपि यह पंडितजी की गद्यमय प्रौढ़ रचना है, जो नौ अधिकारों में विभक्त है, पर इसमें पंडितजी ने अधिकारों के प्रारंभ होने से पूर्व 'दोहों' का भी प्रयोग किया है। अपने मंगलाचरण में 'वीतराग-विज्ञान' को नमस्कार करते हुए इस ग्रंथ का आरंभ करते हैं :-

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।
नमहुं ताहि जातैं भये, अरहन्तादि महान्।।

मिथ्याभाव के कारण, मोक्ष का अभाव होगा, निज भाव की महत्ता, मोक्ष-मार्ग का शुद्ध-स्वरूप, दु:ख का कारण और सुख का उपाय आदि रहस्यों को पंडितजी ने अपने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रंथ के 'दोहों' में ही स्पष्ट कर दिया है। जो कतिपय यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :-

मिथ्या भाव अभाव तैं, जो प्रकटै निज भाव।
सो जयवंत रहो सदा, यह ही मोक्ष उपाय।।2 अधि०।।

सो निज भाव सदा सुखद, अपनो करो प्रकाश।
जो विधि भव-दु:खनि कौ, करि है सत्ता नाश।।3 अधि०।।

इस भव के सब दु:खनि के, कारण मिथ्या भाव।
तिनकी सत्ता नाशकरि, प्रकटै मोक्ष उपाव।।4 अधि०।।

इस भव-तरु का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताकौ करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव।।7 अधि०।।

'शिव' उपाय करतें प्रथम, कारन मंगलरूप।
विघ्न विनाशन सुखकरन, नमौं शुद्ध शिवभूप।।9 अधि०।।

साराशंत: - यह कहा जा सकता है कि 'आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी' अपने समय के जैन-साहित्य के ही नहीं, समूचे 'हिन्दी-साहित्याकाश' में एक जाज्वल्यमान प्रतिभा लिए हुए थे। उनकी स्वाध्याय-प्रवृत्ति साहित्यानुरागिता और अप्रतिहत विद्वत्ता का सिंहावलोकन कर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, वे साक्षात् 'मां भारती' के 'वरद-पुत्र' थे। साहित्य की दोनों धाराओं गद्य और पद्य पर उनका समान रूप से प्रभुत्व था। एक ओर वे विशाल और संभवत: हिन्दी साहित्य के प्रथम गद्य-निर्माताओं में से हैं, तो दूसरी ओर 'पद्य-धारा' को भी उन्होंने कभी अकेला नहीं छोड़ा। दोहा, सवैया, चौपाई आदि छंदों तथा यमक, अनुप्रास और रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग कर उन्होंने काव्य-पक्ष को भाव, भाषा-शैली आदि शास्त्रीय-गुणों से भरपूर किया और गद्य के साथ-साथ पद्य को भी उसी प्रकार अलंकृत किया। यद्यपि गद्यवत्, पद्य-पक्ष पर पंडितजी ने अपनी लेखनी गतिमान नहीं की, तथापि उनका 'पद्य-साहित्य' गद्य-साहित्य की मात्रा में अत्यल्प होता हुआ भी, भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों की दृष्टियों से अत्यन्त प्रभावशाली प्रतीत होता है। तत्कालीन प्रचलित ढूंढारी और ब्रज भाषा को अपनाकर उनका पक्ष 'पद्य-साहित्य' और भी अधिक काव्यत्व के दर्शन कराता है। निश्चयत: 'प्रात: स्मरणीय पंडित टोडरमलजी' अमरलोक के महामानव थे। सूर्य सदृश उदीयमान होकर उन्होंने संसार के अज्ञानान्धकार को दूर किया। ऐसी महान आत्मा के चरणों में मस्तक नत हुए बिना नहीं रहता- जिसने अपनी अत्यल्पावस्था में स्व-परहिताय प्राणों का बलिदान किया। इसीलिए श्रद्धेय पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के अंतरंग से निम्न छंद स्वत: ही नि:सृत हुए बिना न रहा -

वे हैं अमर लोक के मानव, मरकर भी जो सदा अमर।
क्योंकि दिव्य आलोक पुंज से, उनने जग का हरा तिमिर।।[1]

1. वीरवाणी, वर्ष 1, अंक 19-21, मुख पृष्ठ (टोडरमलांक)

●●

महान् साहित्यकार पंडित टोडरमलजी

श्री डॉ० प्रेमसागर जैन

पंडित टोडरमलजी का जन्म जयपुर के ही एक मध्यम कोटि के परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम जोगीदास और माता का रम्भा था। जब वे ११वर्ष के थे, तभी न्याय, व्याकरण और गणित जैसे विषयों में निष्णात हो गये थे। शिक्षक आश्चर्यचकित थे। ऐसा मेधावी छात्र उन्होंने अपने जीवन काल में देखा नहीं था। उसकी प्रतिभा ने अद्‌भुत रस को जन्म दिया था। वे विद्वान् बने और सतत् अध्ययन ने उन्हें पारंगत बना दिया। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं पर भी उनका अधिकार था। इस सबमें शिक्षकों का माध्यम तो था, किंतु स्वत: की प्रतिभा ही अधिक थी। यदि वह न होती तो 'बंसि बजाई फूंक' वाली बात भी हो सकती थी। एक काम तो उन्होंने ऐसा किया था, जिसमें अध्यापकों का यत्किंचित भी सहाय्य नहीं था, वह था कन्नड़ लिपि का अभ्यास। कन्नड़ एक मुश्किल लिपि है। द्राविड परिवार की सभी लिपियाँ कठिन हैं। उनको बिना किसी की सहायता के सीखना और भी कठिन है, किंतु प्रतिभावानों के लिए कुछ भी दुरूह नहीं है। पंडित टोडरमल ने उसका परिचय दिया। कन्नड़ के जैन आचार्यों ने अनेक ग्रंथों का निर्माण किया और वे सब कन्नड़ लिपि में ही अंकित हैं। अत: उसे बिना पढ़े जैन वाङ्मय के एक बड़े और मौलिक अंश से अछूता रह जाना होगा। पंडितजी ने उस कमी को अनुभव किया था। उन्होंने स्वत: के प्रयास से उस लिपि पर अधिकार प्राप्त कर लिया। यह एक बहुत बड़ी बात थी। उनकी टीकाओं और वचनिकाओं में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, ऐसा मैं समझ सका हूँ।

पंडितजी की प्रभूत साहित्यिक गतिविधियों से लगता है कि तत्संबंधी चेतनाकेंद्र उन्हें पूर्व संस्काररूप में जागृत मिला था। बिना उसके वे इतने समर्थ नहीं हो सकते थे। उनकी 11 रचनाएँ उपलब्ध हैं। कोई हलकी नहीं, सभी गंभीर और महत्वपूर्ण। उनमें पहली कोटि है टीका ग्रंथों की। उन्होंने गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, क्षपणासार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, आत्मानुशासन और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका और वचनिकाएं रचीं। इनमें अंतिम ग्रंथ की टीका अधूरी रह गई है, अवशिष्ट सब पूर्ण हैं। ये सभी विशाल आकार के ग्रंथ हैं। इनका मूल प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में निबद्ध था। अत: उनकी टीका रचने के लिए भाषा विषय और लिपि सभी की सूक्ष्म जानकारी की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त सतत लगनशीलता भी अनिवार्य थी। पंडित टोडरमलजी में सभी बातें थीं। अत: कार्य पूरा कर सके।

जहाँ तक उनकी टीकाओं और वचनिकाओं का संबंध है, वे केवल अनुवाद भर नहीं है, अपितु उनमें वचनिकाकार के अपने विशाल तुलनात्मक अध्ययन की छाप भी है। हिन्दी में ऐसे वचनिकाकार नहीं मिलते। यह परम्परा संस्कृत के वृत्तिकारों की है। वे मूल ग्रंथ की शाब्दिक और

भावात्मक टीका तक ही बँधे नहीं होते थे। अपितु बीच-बीच में अपनी मान्यताएँ भी रखते जाते थे। इस भाँति एक नये ग्रंथ के ही दर्शन हो उठते थे। नींव पुरानी भवन नया, विशाल अध्ययन के बल पर नवीन अभिव्यक्ति में ढला हुआ। प्रसिद्ध टीकाकार के बल पर नवीन अभिव्यक्ति में ढला हुआ। प्रसिद्ध टीकाकार ब्रह्मदेव ने वृहद्द्रव्यसंग्रह की संस्कृत में वृत्ति लिखी है। वृत्ति का स्वर अध्यात्म परक है, जबकि द्रव्यसंग्रह द्रव्यानुयोग का ग्रंथ है। उसकी केवल 35वीं गाथा पर ही ब्रह्मदेव का 50 पृष्ठों का व्याख्यान है। वह अकेला ही पृथक् ग्रन्थ कहलाने का अधिकारी है। हिन्दी टीकाकार इस परंपरा को न सहेज सके। पंडित जयचंद छाबड़ा की द्रव्यसंग्रह की हिन्दी टीका अभी वर्णी ग्रंथमाला से प्रकाशित हुई है, वह भी ब्रह्मदेव की टीका को छू तक नहीं पाती। किंतु पंडित टोडरमल को हिन्दी टीकाकारों का अपवाद कहा जा सकता है। वे मूलत: प्राकृत संस्कृत के व्यक्ति थे। उनके अध्ययन का मोड़ भी उन्हीं मार्गों में अनुबन्धित होता रहा। अत: उन पर संस्कृत की छाप अधिक है। यह उनका हिन्दी प्रेम था और जनसाधारण तक जैनश्रुत को पहुंचाने का तीव्र भाव था जो उन्होंने संस्कृत में न लिखकर हिन्दी में लिखा। केवल गोम्मटसार की टीका ने ही उन्हें अमर बना दिया। त्रिलोकसार गणित का ग्रंथ है। पंडितजी की जैसी गति अध्यात्म में थी, वैसी ही गणित में। उन्होंने गणित के अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन किया था। अत: त्रिलोकसार का केवल अनुवाद भर ही नहीं है, अपितु स्थान-स्थान पर गणित की विद्वत्तापूर्ण चर्चाएं भी हैं और पंडित टोडरमल का त्रिलोकसार एक नया त्रिलोकसार हो गया है। आत्मानुशासन स्वत: ही संस्कृत का एक सरस ग्रंथ है। उस पर पंडित टोडरमल की टीका और भी अधिक सरस और विद्वत्तापूर्ण है। उन्होंने आत्मानुशासन की संस्कृत टीका को भी आधार बनाया है। क्षपणासार और लब्धिसार की टीकाएं भी अपने में पूर्ण और सरस हैं। पंडित टोडरमलजी एक महान टीकाकार थे। उनकी टीकाओं ने यदि एक ओर जैन वाङ्मय को विस्मृति के आवर्त से निकाला तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। जैन और हिन्दी दोनों ही उनके ऋणी रहेंगे।

'अर्थसंदृष्टि' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यह किसी मूल ग्रंथ की टीका नहीं है, एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पंडितजी ने गोम्मटसार आदि ग्रंथों का कितना सूक्ष्म और आत्मग्रही अध्ययन किया था। उसे रखने का उनका ढंग भी अपना था। उससे वह सर्वसाधारण तक पहुँच सका। अभिव्यक्ति में सहज सरलता कोई गंभीर विद्वान ही ला सकता है, अधकचरा नहीं। विषय गंभीर, भाषा और शैली आसान तभी हो सकती है, जब लेखक ने विषय को पचा लिया हो। बहुत से विद्वान् पचा नहीं पाते और उद्धरणों के रूप में उबकाई लेते रहते हैं। पंडितजी ने पहले स्वयं आत्मसात् किया, तब लिखने में संलग्न हुए। अत: उनका गंभीर और सूक्ष्म कार्य भी लोगों के दिलों तक पहुँच सका।

'आध्यात्मिक पत्र' एक चिट्ठी है - आध्यात्मिक चिट्ठी। आज वह रहस्यपूर्ण चिट्ठी के नाम से प्रसिद्ध है। शैली के क्षेत्र में पंडितजी का नितांत अभिनव प्रयोग। कृति सरस है। 'हिन्दी में जैन

रहस्यवाद' पर काम करनेवाले अनुसन्धित्सु उससे बहुत अधिक लाभान्वित हो सकते हैं। यह पत्र पंडितजी के जैन अध्यात्मज्ञान का जैसे सर्टीफिकेट ही है, अथवा विजयपताका ही है। वह पंडित टोडरमल का गौरवचिह्न है। आज उसके अध्ययन-अध्यापन और नये मानदंडों पर कसने की आवश्यकता है।

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' और पंडित टोडरमलजी एक ही हैं। एक का नाम लेने से दूसरा स्वत: अभिव्यक्त हो जाता है। आज दो सौ वर्ष से यह ग्रंथ घर-घर में प्रतिष्ठित है। विद्वान से लेकर सर्वसाधारण तक उससे लाभान्वित हुए हैं। विद्वानों के लिए वह एक प्रकार से हैण्डबुक सी है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' क्या है? जैनदर्शन और अध्यात्म का आसान सार-थोड़े से में। हर कोई पढ़ और समझ सकता है। जैनदर्शन समझने के लिए केवल एक ही ग्रंथ पर्याप्त है। अठारहवीं शती की यह कृति आज एक अप्रतिम है। जैन धर्म के अनेक ठोस विद्वान् हुए किंतु ऐसी सारग्राही रचना कोई नहीं रच सका। विदेशों के जिज्ञासु विद्वान् जैनदर्शन का ऐसा ही ग्रंथ चाहते हैं। यह युग संक्षेप में आसान ढंग से बहुत कुछ कह जाने का है। लोगों के पास समय नहीं है, थोड़े में बहुत ग्रहण करना चाहते हैं। मैं सन् 1939 में वाराणसी अध्ययनार्थ गया था। वहाँ सन् 1947 तक रहा। मैंने जैनदर्शन के बड़े से बड़े विद्वान् को ऐसे एक ग्रंथ के रचे जाने की बात करते सुना। उन्होंने प्रयास भी किया हिन्दी और अंग्रेजी में लिखने का। किंतु केवल पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का 'जैनदर्शन' इस अभाव की कुछ हद तक सम्पूर्ति कर सका। अभी और आवश्यकता है। तब तक 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' को ही यथाशक्ति नवीन भाषा और शैली में ढाल दिया जाये, अभाव पूरा होगा, विद्वान् सन्तुष्ट होंगे, मुझे विश्वास है। यद्यपि यह ग्रंथ अधूरा रह गया था, फिर भी अपने में इतना पूरा है कि उसके पूरा करने की आवश्यकता नहीं है। नये-नये प्रयासों को भी प्रेरणा मिले। और 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की धन और शान को कोई पा सके ऐसा मैं चाहूँगा। उसकी आज महती आवश्यकता है। लेखक और विद्वान् में अंतर होना है। लेखक बहुत होते हैं, विद्वान कम। ऐसे ग्रंथ की रचना के लिए लेखक और विद्वान् दोनों ही होना जरूरी है। विद्वान् भी ऐसा वैसा नहीं। ऐसे वैसे से मेरा मतलब है, जिसने अनेकानेक ग्रंथों को रट लिया है, याद कर लिया है, ऐसा नहीं, अपितु जिसने उन्हें आत्मसात् किया है, पचाया है और जिसका हाजमा दुरुस्त है। पंडित टोडरमलजी ने ऐसा ही तो किया था, तब तो वे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' रच सके। उन्होंने तल्लीन होकर लिखा। साग-दाल में नमक है या नहीं, का उन्हें भान भी नहीं रह गया था। यह दशा छह माह तक चली। मोक्षमार्ग प्रकाशक उनके ज्ञान का प्रकाश है, तो उनके दिल का पावन मानस्तम्भ भी। दोनों का समन्वय है। ऐसा बिना एकनिष्ठ हुए नहीं हो सकता। काश, आज कोई कर सके!

पंडित टोडरमलजी कवि थे और ऊंचे दर्जे के। जैनदर्शन और भक्ति के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध है कि शायद ही कोई ऐसा जैन आचार्य हो, जिसने सैद्धांतिक विद्वत्ता के साथ-साथ भक्तिपरक काव्यों की रचना न की हो। मैंने अपने ग्रंथ 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' में इस मान्यता को प्रमाणित

किया है। जैन विद्वान् यदि तार्किक था तो भावुक भी। आत्मा को ही परमात्मा मानने की बात तर्क और सिद्धांत से पुष्ट की गई, किंतु जब उसे आत्मसात् करने की बात उठी तो अनुभूति को प्रमुखता मिली। सच यह है कि जैन साधना का मूलस्वर अनुभूति परक है। पंडित टोडरमलजी भी ऐसे ही थे। वे सैद्धांतिक और दार्शनिक थे तो भावुक भी। गोम्मटसार की टीका में उनका जितना मन लगा, उससे कम पूजा निर्माण में नहीं। गोम्मटसार की पूजा उनके तल्लीन हृदय की प्रतीक है। वहाँ उनका द्रवणशील हृदय प्रवाहित हुआ है। वही उनका वास्तिवक रूप था। उन्होंने जिस लगन से जैन वाङ्मय को समूचा जीवन दे दिया, उसका प्रेरणा स्रोत भी वह अनुभूति ही थी, जो जिनेन्द्र के प्रति प्रतिक्षण जलती रही। यदि वह न होती तो लगन न उमगती और उसके बिना वे समूचा जीवन तो न दे पाते। उनमें दर्शन और अनुभूति का समन्वय हुआ था। उनके सैद्धांतिक ग्रंथों की अंतिम प्रशस्तियां कवित्तमय हैं। उनमें विद्वान् कवि का भावुक हृदय देखते बनता है। मानों यह भी ग्रंथ का सार हो। एक दृष्टान्त देखिए –

''मैं हों जीवद्रव्य नित्य चेतना स्वरूप से मेरो,
लग्यो है अनादि तें कलंक कर्ममल को।
वाही को निमित्त पाय रागादिक भाव भए,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल को।।
रागादिक भावन को पायकें निमित्त प्रति,
होत कर्मबन्ध ऐसो है बनाव कल को।
ऐसे ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग,
बने तो बने यहां उपाय निज थल को।।''

पंडित टोडरमलजी ने जैनधर्म के मर्म को समझा ही नहीं, अनुभव भी किया था। वे उनके सार को ग्रहण कर सके थे। इसके दो परिणाम हुए। एक तो जैनधर्म के नाम पर पनपते पाखण्ड का उन्होंने जोरदार शब्दों में खण्डन किया और दूसरे, जैन अध्यात्मवाद के आधार पर जन-जन के समभाव को निधड़क होकर कहा। जब पाखण्ड और आडम्बर धर्म की आस्तीन में फण उठाये हों, तब उन पर आघात कितना भयंकर होता है, यह मध्ययुगीन-धर्म साधनाओं का इतिहास जानता है। जब सोक्रेटीज ने नक्षत्रों को देवता कहने से इनकार कर दिया, तब बारह-में से ग्यारह न्यायाधीशों ने उसे तत्काल फाँसी की सजा दे दी। लूथर ने पाप के मोक्ष भेजनेवाले टिकटों का विरोध किया तो उसकी जान के लाले पड़ गये। वह युग पाखण्डों का था। जिसने जहाँ विरोध किया, दण्डित हुआ। अच्छा हुआ जो गार्गी ने याज्ञवल्क्य से हार स्वीकार कर ली, अन्यथा उसका सिर धड़ से अलग कर ही दिया जाता। तो, पाखण्डों का विरोध करना आसान नहीं था। उसके लिए बलवती आत्मा और सुपुष्ट सैद्धांतिक पृष्ठभूमि की आवश्यकता थी। पंडित टोडरमलजी निर्भीक बन सके, क्योंकि उन्होंने सम्यक्त्व को सही मायनों

में हृदयंगम किया था। उन्होंने क्षणभंगुर जीवन की यत्किंचित् चिंता नहीं की। उन्होंने जमकर कहा। उनका कहना बिल्कुल ठीक था, किंतु जमाने की हवा उसे पचा न सकी। नतीजा निकला जीवन का अन्त।

जैन सिद्धांत प्रत्येक आत्मा का स्वरूप एक-सा मानता है। वह न वर्गभेद करता है और न वर्ण-भेद। भगवान महावीर ने इसी बल पर चतुर्वर्णी व्यवस्था के खिलाफ एक क्रांति की थी। वह अपने में पूर्ण थी और सफल भी। महावीर का उपदेश समता को लिए था। उन्होंने जीव-जीव को समान माना। इसमें 'स्व' का व्यापकत्व था और वह भी सैद्धांतिक पृष्ठभूमि पर। एक बड़ी बात हुई, जन-जन को रुची। किंतु मध्यकाल में भगवान के अनुयायी जैनश्रुत के धूमिल पड़ जाने से उन्हीं कर्मकाण्ड, पाखण्ड और आडम्बरों से आवृत हो उठे, जिन्हें भगवान ने अपने दिव्यज्ञान से धूमिल कर दिया था। मैं यह मानता हूँ कि सतत विदेशी आक्रमण, विदेशी शासन, शासन के क्षण-क्षण परिवर्तन, दस्युओं के भय और धार्मिक संकीर्णता के परस्पर विद्वेष ने जैनश्रुत को तालों में बंद कर देने के लिए विवश किया, किंतु ऐसी परिस्थितियों के हट जाने पर भी वह तालों में बन्द ही रहा और हम बन्द द्वार पर चावल मात्र चढ़ाकर सरस्वती के आराधक का सेहरा बाँधते रहे, इससे सम्यग्ज्ञान के नाम पर कब मिथ्या ज्ञान आसन जमा बैठा, मालूम भी न पड़ा। फिर हम मिथ्याज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान मानने लगे और यदि किसी ने चेताया तो हम लड़ने से भी नहीं चूके। शताब्दियों के व्यवधान ने एक काम और किया कि हमारी भाषा बदलती गई, ऐसा होना स्वाभाविक ही था, किंतु ग्रंथ प्राचीन भाषा में लिखे तालों में बंद पड़े रहे। प्रचलित भाषाओं में उनके अनुवाद और अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता थी।

पंडित टोडरमलजी ने टीका और वचनिकाएँ रचते समय मूल ग्रंथों का सांगोपांग अध्ययन किया तो भगवान की दिव्य-ध्वनि में प्रस्फुटित समता भाव को समझ सके। उन्होंने समता की बात कही। वह जैन सम्यग्ज्ञान के अनुरूप थी। किंतु सदियों से चले आये मिथ्याडम्बरों के घटाटोप पर एक करारा आघात भी थी। जैन लोग तिलमिला गये, किंतु ऐसे भी थे जिन्होंने पंडितजी की बात समझी और उनके साथ चले। पंडितजी ने सभी मंदिरों में शास्त्र-सभाओं का प्रवचन प्रारंभ किया। यह जैन शिक्षा का पुराना माध्यम था। इन सभाओं में बैठ-बैठकर निरक्षर व्यक्ति भी पंडित और ज्ञानी बन जाता था। शतश: व्यक्ति इससे लाभान्वित हुए और जैनदर्शन के जानकार बन सके। इन सभाओं को 'सैली' संज्ञा से भी अभिहित किया जाता था। बनारसीदासजी आगरा की ऐसी ही एक 'सैली' में जाकर विद्वान बने थे। उन सब में अध्यात्मज्ञान प्रमुख था। अध्यात्मज्ञान जीव के सही रूप को बनाता है। वह शरीर और आत्मा को नितांत पृथक मानता है। शरीर से संबंधित कोई भी कार्य धर्म की कोटि में नहीं आ सकता। अत: देहपरक कार्यों को धर्म नहीं माना जाता। पंडित टोडरमलजी ने इसे प्रस्तुत किया। इससे जैनश्रुत का लुप्त होता वास्तविकरूप फिर से प्रदीप्त हो उठा। उस समय जयपुर के कतिपय धार्मिक संगठन शायद

ऐसा नहीं चाहते थे। क्योंकि ऐसा होने से उनके सम्पत्ति-अर्जन का द्वार बन्द हो जाता। पाखंडों के द्वारा अंधविश्वास जगाकर जो धन पैदा हो सकता है, वह अन्यथा नहीं। पंडितजी ने उनके नाजायज धन प्राप्ति के साधन पर कुठाराघात किया, किंतु पंडितजी का यह उद्देश्य नहीं था। उन्होंने तो ठीक ज्ञान की बात कही, किंतु लोग उसके अभ्यस्त नहीं रह गये थे, तो उन्हें बुरी लगी।

पंडित टोडरमलजी स्वयं एक निरीह और अनासक्त व्यक्ति थे। वे साधु नहीं हुए थे, एक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते थे, किंतु सादा जीवनोपयुक्त जीविका कमाने के बाद वे अपना सब समय शास्त्रों के पठन-पाठन और साहित्य रचना में लगाते थे। किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं था। संसार में रहकर भी संसार से अनासक्त होना सामर्थ्यवान आत्मा की ही बात है। पंडितजी के जीवन का स्वर बदल गया था। वे संसारी होकर भी असंसारी थे। मुनिपद धारण करके भी ऐसा नहीं हो पाता। मुनियों की यदि धनाकांक्षा आज छूटती है तो यश:कांक्षा बढ़ जाती है। मेरी दृष्टि में वह अधिक हानिकारक होती है। दिल का संसार से हटाना जरूरी है, फिर कहीं भी रहा जाये, कोई वेश धारण किया जाये, अभी नहीं तो सन्निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त होगा ही। इस अनासक्ति की बात जैन शास्त्रों में तो है ही, गीता आदि अजैन ग्रंथों में नहीं है। महाराज भरत ने इसी के बल पर साम्राज्य का संचालन करते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर लिया था। पंडित टोडरमलजी इस कलियुग में भले ही मोक्षगामी न बने हों, किंतु इससे संसार के प्रति उनकी निरीहता तो प्रगट होती ही है।

पंडितजी ने अपनी रचनाएँ ढूँढारी हिन्दी में लिखीं, यह हिन्दी भाषा और साहित्य की उनकी महती देन थी। हिन्दी के मनीषी विद्वान् उसे समझें और स्वीकार करें, ऐसा मैं चाहूंगा। उनका गद्य हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। हिन्दी के इतिहास में उसे सादर स्थान मिलना ही चाहिए। उसके बिना हिन्दी के मध्यकालीन गद्य और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मध्य का अध्याय अधूरा रह जायेगा। भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी के उद्‌भव और विकास का आंकलन भी बिना जैन रचनाओं को देखे ठीक-ठीक नहीं हो सकता। ऐसी एक नहीं, अनेक रचनाएँ हैं। उनमें पंडित टोडरमलजी का गद्य अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। उनकी भाषा की विधा और प्रवृत्ति पर राजस्थानी प्रभाव है, वह तुलनात्मक भाषा शास्त्रियों के लिए उपयोगी प्रमाणित होगा।

इस भाँति साहित्य को, समाज को, दर्शन को, सिद्धांत को और सबसे बड़ी बात इंसानियत को पंडितजी ने जो कुछ दिया, वह केवल जैनो के लिए ही नहीं, समूची भारतीय धरा के लिए एक गौरवपूर्ण अध्याय है। ●●

श्रद्धांजलि

श्री सुमेरचंद कौशल, बी.ए., एल.एल.बी., एडवोकेट

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के सन्मान की पूर्ति की बात यद्यपि फारसी भाषा की यह लोकोक्ति 'देर आयद दुरुस्त आयद' अनेक युगों से देख रही थी, तथापि आज दो सौ वर्षों के पश्चात् ही सही, पंडितजी की जन्म नगरी की जैन समाज द्वारा यह उक्ति अत्यन्त सार्थक हो रही है। पंडित टोडरमलजी जन्मजात मेधावी विद्वान् थे। तभी तो इतनी छोटी सी आयु में वे, गोम्मटसार लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि महान् ग्रंथों की टीका और मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना कर सके। अंतिम ग्रंथ हिन्दी दि० जैन साहित्य में अपने ढंग का प्रथम मौलिक ग्रंथ है। इसी ग्रंथ से हिन्दी जाननेवाले लोगों का जितना अपार कल्याण हुआ है उतना किसी अन्य ग्रंथ से नहीं। इतना ही नहीं; संस्कृत और प्राकृत के विद्वान् भी जब कोई प्रश्न खड़ा होता है, तब उस विषय में पंडित टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में क्या लिखा है, उसका उद्धरण देकर, समाधान करते हैं। मुझे किशोरावस्था में मोक्षशास्त्र तक की परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् जैन धर्म का मर्म, 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पढ़ने पर ही हृदयंगम हो सका। निश्चयाभासी तथा व्यवहाराभासी की चर्चा के पश्चात् जब तीसरे प्रकार के आभास की चर्चा पढ़ी (निश्चय व्यवहाराभासी की) तब हृदय बाग-बाग हो उठा तथा निश्चय हुआ कि मोक्ष का मार्ग एक ही हो सकता है दो नहीं। मल्लजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक इतनी सरल और सुबोध शैली में लिखा है कि एक साधारण बुद्धिवाले जिज्ञासु के लिये, जैन धर्म का ज्ञान कर लेना सहज हो गया है। पंडितराज टोडरमलजी की प्रतिभा केवल गद्य लेखन तक ही सीमित नहीं थी; वे हिन्दी और संस्कृत में सुंदर पद्य भी लिखते थे। वे पद्य में अधिक न लिख सके तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक भी पूर्ण न कर सके। ऐसे बलिदानी उद्धारक विद्वान के प्रति-

शब्दों में सामर्थ नहीं; उनकी गौरव गाथा गाऊं।
अपने श्रद्धा सुमन चढ़ाने; बार बार उनको सिर नाऊं।।

●●

तप:पूत साहित्य-साधक

श्री विद्यावती राजाराम जैन, आरा

पंडित टोडरमलजी अपने युग की एक दिव्य ज्योति थे। उन्होंने जैनागम ग्रंथों की अपने प्रदेश की ढूंढाडी हिन्दी में यदि टीकाएँ न लिखी होतीं तो आज जैन समाज में स्वाध्याय की परंपरा स्खलित हो गई होती। जीवन के भौतिक सुखों की उपेक्षा कर उन्होंने जिस तन्मयता के साथ साहित्य साधना की उससे हमारा समाज गौरवान्वित है। वे समाज के शृंगार थे। अत्यंत प्रसन्नता है कि कानजीस्वामी के द्वारा उक्त तप:पूत पंडित प्रवर के स्मारक का उद्घाटन संपन्न होने जा रहा है, यह स्वयं में एक महान घटना है। अच्छा होता कि जैन-समाज इस पुण्य दिवस को 'कुंदकुंद दिवस' के रूप में स्मरण कर जैन साहित्य के पुनरोद्धार की उस पुण्य बेला में प्रतिज्ञा करता। समाज को चाहिए कि आचार्यकल्प 'टोडरमल ग्रंथमाला' के अंतर्गत उनके द्वारा प्रणीत एवं पठित सभी ग्रंथों का सर्वांग सुन्दर एवं संस्ता प्रकाशन करे।

ऐसी पुण्यस्मृतियों के क्षण में यदि भारत सरकार से यह प्रार्थना की जाती कि वह टोडरमल स्मृति दिवस के उपलक्ष में डाक टिकिट जारी करें तो बड़ी ही प्रसन्नता की बात होती। ●●

जयपुर... मुलतान... सौराष्ट्र

श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़

महान् पंडित श्री टोडरमलजी ने अपने साधर्मी प्रेम के बल से मानो जयपुर और मुलतान को एक कर दिया हो ऐसा वातावरण आज हमें दिख रहा है। आपके अध्यात्मरसपूर्ण संदेश ने मुलतान मेटकर जयपुर में ही मिला दिया.... अत:... हमारे मुलतानवासी साधर्मी आज मुलतान के न रहकर के जयपुर के बन गये, और हमारे जयपुर के वह विद्वान् आज जयपुर के न रहकर भारत के बन गये।

दो सौ वर्ष पहले का एक अध्यात्म-संदेश (रहस्यपूर्ण चिट्ठी) जो कि जयपुर से पंडितजी ने मुलतान भेजा था, उसी संदेश को सुरक्षित रखकरके मुलतानवासियों ने फिर हमको दिया। यह अध्यात्म-संदेश पढ़कर के हमें यह उत्सुकता होती थी कि हमारे वे मुलतानवासी साधर्मी कैसे होंगे? उन्हें हम देखें... जिनको 'अध्यात्मरसरोचक' कहके पंडितजी ने संबोधित किया था! आज जयपुर में बसे हुए हमारे इन मुलतानवासी साधर्मी बंधुओं का अध्यात्मप्रेम देख करके हमें हर्ष होता है।

जयपुर और मुलतान के साधर्मियों के साथ एक तीसरा भी प्रवाह मिल करके आज रत्नत्रय जैसा त्रिवेणी संगम बन रहा है–यह तीसरा अध्यात्म प्रभाव है सौराष्ट्र का? – जो कि श्री कानजीस्वामी ने बहाया है। पंडित टोडरमलजी के सभी साहित्य पर श्री कानजीस्वामी की अतीव श्रद्धा है; उनकी मुलतानवासी साधर्मियों के लिये लिखी हुई अध्यात्म–रसपूर्ण चिट्ठी आपको इतनी पसंद आयी कि तीन बार उसके ऊपर विस्तृत विवेचन किया – जो कि पुस्तकरूप में भी छपकर प्रकट हुई है।

इस तरह आज यहाँ, पंडितजी की भूमि में ही–जयपुर, मुलतान व सौराष्ट्र के साधर्मियों का यह त्रिवेणी संगम हो रहा है– जिसके पुनीत अध्यात्म प्रवाह में स्नान कर पावन होने को भारत भरके साधर्मी एकत्र हुए हैं।

पंडितजी के साहित्य के परिचय में हमें दो बात अत्यंत आदर्शरूप मिलीं–एक तो आपका अध्यात्मप्रेम और दूसरा साधर्मी प्रेम? हमारे जैन समाज में इन दोनों की आज पूर्ण रूपेण आवश्यकता है। साधर्मी से मिलने की आपके हृदय में कितनी उत्कंठा रहती है, और साधर्मी को तत्त्वचर्चा के पत्र लिखने में आपके हृदय में कितना वात्सल्य भाव उमड़ रहा है – यह आज दो सौ वर्ष के बाद भी उनके शब्दों में दिख रहा है। आपने लिखा है।

''अध्यात्मरसरोचक स्वधर्मी भाई श्री, तुम्हारे चिदानन्द घन के अनुभव से सहज आनंद की वृद्धि चाहता हूँ'' देखिये, कितना सरस भावपूर्ण संबोधन किया है? जयपुर का यह संदेश जब मुलतानवासी साधर्मियों ने पढ़ा होगा तब कितना हर्ष हुआ होगा उन साधर्मियों को? पुराण की बात याद आती है। जब माली आ करके नगरी में महावीर भगवान के पधारने का शुभ संदेश सुनाता है, तब राजा शुभ समाचार सुनते ही आनंदित होकर अपने राजचिह्न को छोड़कर शेष सब आभूषण उस माली को भेंट कर देते हैं; वैसे ही अपने अंतर के सम्यक्त्वादि के बारे में व अनुभव के बारे में अध्यात्म प्रश्नों के समाधानरूप यह संदेश सैकड़ों कोस दूरी से लानेवाले के प्रति कितना हर्षादर हुआ होगा? और कितनी प्रसन्नता हुई होगी – इसमें भरे हुए अपने साधर्मी का धर्म प्रेम देखकर? इसका एक अनुमान इस पर से हो सकता है कि उन्होंने यह चिट्ठी (अध्यात्म संदेश) को अमूल्य जवाहर (रत्न) समझकर उसकी अत्यन्त सुरक्षा की और शास्त्र भंडार में उसको स्थान दिया; इतना ही नहीं, अनेक नगरों में उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी पहुँचा दी जो आज भी शास्त्र भंडारों को विभूषित कर रही हैं। और वही संदेश आज से करीब पचास वर्ष पहले खुरई (सागर) के कर्तव्य प्रबोध–कार्यालय के द्वारा प्रकाशित होकर सौराष्ट्र तक पहुँचा और पूज्य कानजीस्वामी जैसे आध्यात्मिक संत को मिला – जिसे पढ़कर 200 वर्ष पहिले के अपने उस अध्यात्मरसिक साधर्मी को पहचान के आप अत्यंत प्रसन्न हुए, और सौराष्ट्र की जिज्ञासु जनता को उसका रहस्य सुनाकर अध्यात्म का प्रभाव बढ़ाया। आज हम सबके लिये यह आनंद

का प्रसंग है कि हमारे आदरणीय पंडितजी के ही निमित्त से उसकी जन्मभूमि में ही, मुलतान-जयपुर-सौराष्ट्र के ही नहीं अपितु भारत भर के अनेक मुमुक्षु साधर्मियों का यहाँ मिलन हो रहा है.... और अध्यात्म रस का घोलन हो रहा है। ●●

मोक्षमार्ग के उद्घाटन की रीति

हम सब हैं साधर्मी

विश्व में माता-पिता-पुत्र का अथवा भाई-बहन का संबंध निर्दोष व उत्तम है किंतु साधर्मी का संबंध तो इनसे भी बहुत उच्च स्थान रखता है, इसी से यह सुप्रसिद्ध है कि 'सच्चा सगापण साधर्मी का' इसकी तुलना में आ सके ऐसा कोई संबंध हो तो वह एक ही है - गुरु व शिष्य का; परन्तु गुरु-शिष्य का यह संबंध भी अनन्त: तो साधर्मी के संबंध में ही समा जाता है, क्योंकि एक ही धर्म के माननेवालों में जो बड़ा वह गुरु व छोटा वह शिष्य; अत: 'सच्चा सगापन साधर्मी का' - इसकी सबसे उत्कृष्टता है।

एक ही राष्ट्र में रहनेवाले विभिन्न धर्मवाले जन राष्ट्रीय भावना से एक-दूसरे को भाई-भाई समझने में जब गौरव मानते हैं, तब एक ही जिन शासन की छाया में रहनेवाले, और एक ही देव-गुरु-धर्म की उपासना करनेवाले में धार्मिक भावना से जो बन्धुत्व का निर्दोष वात्सल्य वर्तता है, और 'यह मेरा साधर्मी है' ऐसा कहने से इनके अन्तर में जो निर्दोष भावना व धार्मिक गौरव बहता है - इसकी तुलना विश्व का कोई भी संबंध नहीं कर सकता।

अपना धर्म तो वीतराग धर्म! इनमें साधर्मी-साधर्मी के संबंध की उत्कृष्टता का दूसरा कारण यह है कि इसमें एक-दूसरे के संबंध से मात्र धार्मिक भावना की पुष्टि के सिवाय दूसरी - कोई आशा या अभिलाषा नहीं रहती। मुझे जो धर्म प्रिय लगा, मेरे साधर्मी को भी वह धर्म प्रिय लगा, अत: उसने मेरी धर्म भावना को पुष्ट की.... और उसकी धर्म भावना को मैं पुष्ट करूं। - ऐसे परस्पर धर्म पुष्टि की निर्दोष भावना से शोभित धर्मवात्सल्य जगत में जयवंत हो।

अमर शहीद पंडितप्रवर टोडरमलजी

श्री मूलचंद पाटनी

स्वनाम धन्य पंडित प्रवर टोडरमलजी नि:संदेह अनूठे व्यक्तित्व और असाधारण प्रतिभा के धनी थे। उनमें तत्त्वदर्शन की विराट् शक्ति, ज्ञान की अद्भुत गौरव गरिमा और पवित्र एवं निश्चल जीवन प्रवृत्ति थी। उनने एक सच्चे सपूत की तरह जैन समाज के प्रति कर्तव्य-निर्वाह, सच्ची लगन और भावना को यथार्थ में साकार किया था।

क्रांति के सूत्रधार

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि जब कोई समाज कुरूढ़ियों वैचारिक संकीर्णताओं, मिथ्या मान्यताओं और भ्रांत धारणाओं से ग्रस्त होकर घुन की तरह पिसने लगता है तब उसमें अवश्य ही क्रांति होती है जिसका सूत्रधार बनने एवं सत्य और असत्य के बीच चिरयुगीन संघर्ष में सत्य की विजय दुंदुभि बजाने के लिए कोई युगपुरुष जन्म लेता है। पंडित टोडरमलजी सचमुच ऐसे ही एक युगपुरुष थे। वे 17वीं शताब्दी के अंत में अपनी मातुश्री रंभादेवी (जयपुर-राजस्थान) की धन्य कोंख से जैन समाज के क्षितिज पर एक मानवीय नक्षत्र के रूप में उस समय उदित हुए थे, जिस समय जैन समाज अपनी कुरूढ़ियाँ, मिथ्या-विश्वासों एवं भ्रांत-धारणाओं से ग्रस्त चल रहा था और उसकी संस्कृति अंधकार में पड़ी हुई थी। पंडितजी अपनी अल्पवय में ही विविध प्रतिभाओं में चमककर जैन समाज में व्याप्त व्यापक बुराइयों के विरुद्ध उत्पन्न क्रांति के सूत्रधार बन गए। उनने जैन समाज को एक ऐसा दिव्य प्रकाश दिया जिसमें जैन समाज ने चित्तरंजन सत्य को परखा, समझा और उस पर अपनी सांस्कृतिक समृद्धि की नींव डाली।

अमृतघट के निर्माता

जैन समाज की भावी पीढी भी उस दिव्य प्रकाश से लाभान्वित रहे इसी करुणा भाव से पंडितजी ने उस दिव्य प्रकाश (अनुभव-अमृत) को एक घट (ग्रंथ-नया परिवेश) में भरने का श्री गणेश किया था किंतु वे यौवन की प्रथम प्रहर में ही स्वयं के शहीद जो जाने से उसे पूरा नहीं भर सके। वह अमृतघट अधूरा रह जाने पर भी जितना है अपने आपमें पूर्ण है और उसमें जैन समाज को अंधकार की हालत में पूर्ण प्रकाश देने की सामर्थ्य है। काश! उससे कोई लाभ उठावे! लाभ उठाना तो दूर प्रत्युत, जैन समाज के ही कुछ लोग यहाँ तक कि श्रमण संस्था के कतिपय सदस्य भी अमृतघट के दिव्य प्रकाश पर अपनी भ्रांत-धारणाओं एवं आडंबर पूर्ण आचरण के अंधकार की छाया डालने का मिलजुलकर प्रयास कर रहे हैं, यही नहीं वे अपनी हर कोशिश को क्रांति का जामा भी पहनाने का स्वांग रच रहे हैं। पर उसमें सचाई कहाँ है? सच पूछा जाय तो उनका समूचा प्रयास सत्य को असत्य और असत्य को

सत्य बनाने के उनके दु:साहस का ही द्योतक है। जो भी हो मुझे विश्वास है कि वे अपने प्रयास में कभी सफल नहीं होंगे। उन्हें यह याद रहे कि सत्य कभी बदलता नहीं। हाँ, समयानुसार सत्यदृष्टा उसे नये-नये परिवेशों में अवश्य ही उपस्थित करते हैं। यह मानना होगा कि नये-नये परिवेशों का निर्माण जो चाहे उनके वश की बात नहीं। क्योंकि उसके पीछे सत्य दृष्टाओं का विशाल अनुभव रहता है। जो उन्हें शास्त्रीय अनुशीलता, चिंतन, मनन एवं विचार मंथन के बाद ही उपलब्ध होता है। इस तरह जो सत्य दृष्टा अपने उपलब्ध अनुभव अमृत से करुणावश घट भरते हैं, वे कोटि-कोटि मानवों को चाहे वे तत्कालीन पीढ़ी के हों या भावी पीढ़ी के बिना किसी भेदभाव के एक मशाल बनकर दिव्य प्रकाश देते हैं।

पंडित टोडरमलजी ने जिस प्रकाश-अनुभव-अमृत को घट में भरा था उसका अति प्रसिद्ध नाम है :- मोक्षमार्ग प्रकाशक। सचमुच ही उसमें चिरंतन सत्य का उद्‌घोष है। वह जैनागमों के मर्म को समझने की आधुनिक कुंजी है। कहना न होगा - वह पंडितजी के विशाल अनुभवों का एक रत्नकण है जिसमें प्रकाश ही प्रकाश है, जिसके द्वारा मुमुक्षु अपनी चिरकालीन मूल में भूल को निकालकर सत्यनिष्ठा के साथ मुक्तिपथ का प्रगतिशील पथिक बन सकता है। मैं कहना चाहूँगा कि पंडितजी के मोक्षमार्ग प्रकाशक के लिए जैन समाज और उसका विद्वद्वर्ग सदैव कृतज्ञ और ऋणी रहेगा।

अमर शहीद

जब युग पुरुष क्रांति का सूत्रधार बनता है, तब समाज विरोधी एवं प्रतिक्रियावादी तत्त्व अपने आपे के बाहर होकर पागलों की तरह आचरण करते हैं। यहाँ तक कि वे अपने पागलपन में क्रांति के सूत्रधारक की निर्मम हत्या तक कर डालते हैं। अत: क्रांति का सूत्रधार कोई सस्ता नहीं, बड़ा महंगा कदम है; साथ ही पूरा जोखिम भरा भी। इतिहास स्वयं साक्षी है कि पंडितप्रवर टोडरमलजी ने क्रांति के सूत्रधारण का एक महंगा और जोखिम भरा कदम उठाया था इसलिए उन्हें दो सौ वर्ष हुए समाज विरोधी तत्त्वों के हाथों ईसा मसीह और महात्मा गाँधी के तरह नसीब में एक शहीद की मौत मिली थी। सचमुच ही वे शहीद होकर अमर हो गए। पंडितजी की निर्मम हत्या जहाँ समाज विरोधी तत्त्वों की गंदी एवं घिनावनी चादर पर गहरा धब्बा रहेगाा वहाँ हम उन्हें अमर शहीद के रूप में सदैव स्मरण करेंगे।

श्रद्धांजलि

अमर शहीद की पुण्य स्मृति में मनाए जानेवाले द्विशताब्दी महोत्सव पर मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। साथ ही यह भावना व्यक्त करता हूँ कि पंडितजी के द्वारा अपने अमृतघट में उद्‌घोषित चिरंतन सत्य के प्रकाश में हम अपने जीवन को आलोकित करते रहें। वस्तुत: पंडितजी के प्रति हमारी असल और सफल श्रद्धांजलि यही होगी। ●●

जैन जगत के क्रांतिकारी अग्रदूत–

महापंडित टोडरमलजी

श्री राजमल गोधा, एम.ए., अलीगढ़ (टोंक)

यों तो इस भारतीय वसुंधरा पर सदैव से महापुरुषों, वीरों, मेधावी एवं साहित्य–सेवियों का जन्म हुआ है, किंतु विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जयपुर के क्षितिज पर एक ऐसे नक्षत्र का उदय हुआ जिसका प्रकाश चारों ओर फैला और जो देश में पंडित टोडरमलजी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐसे महान् प्रतिभाशाली विद्वान् को पाकर राजस्थान को ही नहीं अपितु समग्र भारत को गर्व है।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी का जन्म उस समय हुआ जब कि जैन समाज में धार्मिक आचार विचारों में शिथिलता आ गई थी, अन्धविश्वास व रूढिवादिता की भावना लोगों में अधिक व्याप्त हो गई थी तथा बाह्य क्रियाकांड काफी बढ़ गया था एवं भट्टारकों का बोलवाला अधिक था। पंडितजी ने इस शिथिलाचार के विरुद्ध आवाज उठाई तथा उसको दूर करने के आवश्यक कदम भी उठाये जिससे समाज में व्याप्त शिथिलाचार दूर हो सका। पंडितजी के इस प्रभाव से जैन समाज की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति में भी महान परिवर्तन हुआ। उनका लोगों पर इतना जोरदार प्रभाव पड़ा कि स्थान–स्थान पर मंदिरों में स्वाध्याय होना प्रारम्भ हो गया और श्रावक सच्चे धर्म के रहस्य को समझकर अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हो गये। जो जैन तत्त्व–ज्ञान–परंपरा विच्छिन्न हो गई थी, वह पुन: चालू हो गयी।

इसके अतिरिक्त पंडित टोडरमलजी की साहित्य साधना भी अपूर्व थी। उन्होंने अपनी साहित्य–सेवा द्वारा समाज को जो मार्गदर्शन दिया, वह सदा अविस्मरणीय रहेगा। उनकी विलक्षण प्रतिभा, तथा असाधारण विद्वत्ता ने सभी को आश्चर्य में डाल दिया। प्रारंभ से ही उनकी तीव्र बुद्धि थी। अल्पआयु में ही उन्होंने सैद्धांतिक ग्रंथों का गूढ़ रहस्य समझ लिया। तथा शीघ्र ही व्याकरण, संस्कृत, न्याय, गणित आदि पर पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ली। नि:संदेह सरस्वती का उन पर वरदहस्त था।

जिन गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि गहन सैद्धांतिक ग्रंथों का वर्षों से पठन–पाठन बंद था तथा जिनको जन साधारण नहीं समझ सकता था, उन ग्रंथों का विशेष अध्ययन कर आपने अपने अद्‌भुत ज्ञान से हिन्दी रूपांतर कर दिया तथा जन साधारण को अध्ययन के लिए सुलभ करा दिया।

पंडितजी ने गोम्मटसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, त्रिलोकसार आदि ग्रंथों की भाषा टीकाएं की हैं तथा उनकी स्वयं की कृति 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' हिन्दी भाषा का मौलिक, स्वतन्त्र व बेजोड़ हिन्दी गद्य ग्रंथ है जो अलंकार, भाषा एवं शैली से प्रतिष्ठित है। इनकी इस अनुपम कृति ने समाज में अल्प समय में ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। आज भी अनेक स्थानों पर इसका पठन किया जाता है।

हालांकि यह अधूरा रह गया है फिर भी विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार पंडित टोडरमलजी ने भारतीय जगत में जैन साहित्य को अपनी असाधारण हिन्दी रचनाओं के माध्यम से पुष्ट तथा वृद्धि करने का अद्वितीय कार्य किया है।

पंडितजी ने साहित्य की वृद्धि ही नहीं अपितु जैन साहित्य का देश में प्रचार भी किया है। उनके समय में स्थान-स्थान पर होनेवाली स्वाध्याय-सभाओं का होना एक जीता जागता उदाहरण है। तत्त्वचर्चा में भी अधिक रुचि लेते थे। बहुत दूर-दूर से पंडित लोग उनके पास शंका समाधान हेतु आते थे। पंडितजी उन सबको बड़े ही सरल एवं मधुर भाषा में समझाते थे। पंडितजी ने आगमानुकूल अपनी रचनाओं के बल पर जैन समाज में फैले हुए शिथिलाचार को दूर कर जैन परंपराओं के अनुरूप कितने ही सुधारकों को तैयार किया तथा ग्रंथों के पठन-पाठन द्वारा सच्चे मोक्षमार्ग को बतलाया। इस प्रकार रात दिन अपने परिश्रम से देश व समाज को जो कुछ दिया, वह इतिहास के पृष्ठों में अमर रहेगा।

दु:ख है पंडित टोडरमलजी अधिक समय तक समाज, देश व साहित्य की सेवा नहीं कर सके।

●●

स्व० आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के प्रति सुमन समर्पित करते हैं

श्री महादेवप्रसाद साहित्यरत्न

हे! मानव के चेतन,
जागृत प्रहरी-
तुमने एक नई-
दिशा दी,
भूल भटके मानव को।
दिव्य पुञ्ज,
उदात्त चरित्र,
सजग शाश्वत चिनगारी,
मानव को वस्तुत:,
दर्शाया,
मोक्ष-मार्ग सा पथ प्रशस्त,
चिन्तन कर।
क्षमाशील, निष्कपट,
अनमोल रत्न,
साधक, समदर्शी, सुज्ञान।
हो अवतरित इस भूतल पर,
सद्-साहित्यिक,
बने महान्।
अल्प अवस्था में,
अर्जन की,
ज्ञान-रश्मि,
स्वत:-बुद्धि से,
निधि-निधान।
पाती भेजी,
अध्यात्म रस की,
मुग्ध हुये वासी-
मुलतान।
हे! धर्मानुरागी,
तव प्रेरणा से,
जीवन अनेक सुधरते हैं।
अस्तु,
हे! आचार्य!
द्विशताब्दि-
स्मृति-दिवस पर,
सुमन समर्पित करते हैं।।

मोक्षमार्ग प्रकाशक – एक मौलिक कृति

श्री चन्द्रकुमार जैन, शिवपुरी (म.प्र.)

जिस प्रकार रजनी का गहन अंधकार जब जगत को अचेत और निष्क्रिय बना देता है, तब कुछ देर पश्चात् प्राची में भुवन भास्कर अपने ज्योतिर्मय प्रभापुंज से संपूर्ण विश्व को आलोकित कर नवचेतना का संचार करते हैं। ठीक उसी प्रकार अज्ञान अंधकार से त्रस्त यह अज्ञानी जीव, पर द्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके संसार वन में भटकता है, तब समय-समय पर धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है और निर्दोष परमहितोपदेशी, सर्वज्ञदेव की स्याद्वाद वाणी के निमित्त से अज्ञानी जीवों के ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं और तब वे शाश्वत सुख को प्राप्त करने के लिये उग्र पुरुषार्थ करने लगते हैं।

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के तीर्थ में जिनवाणी को लिपिबद्ध करने का श्रेय परम गुरु आचार्य प्रवर धरसेनादि मुनिगण को है। उन्होंने बल बुद्धि का क्रमिक ह्रास देखकर करुणा बुद्धि से आगम ज्ञान को चिरस्थायी बनाने के लिये अनेक ग्रंथों की रचना की प्रेरणा दी। उसी परंपरा में आचार्य प्रवर कुंदकुंद ने सीमंधर भगवान के प्रत्यक्ष उपदेश को सुनकर समय प्राभृतादि ग्रंथ बनाये। आचार्य उमास्वामी ने स्याद्वादवाणी को सूत्ररूप में आबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र का निर्माण किया, तथा और भी अनेक आचार्यों ने स्वानुभव से श्रुतपादप को पल्लवित किया।

इसके पश्चात् इस पंचम काल के दुष्प्रभाव से मनुष्य का ज्ञान क्षेत्र और भी संकुचित होता गया। उन्हें इन सूत्र रूप ग्रंथों का भावार्थ पूर्ण रूप से प्रतिभासित न होते देखकर श्री पूज्यपादस्वामी, श्री अकलंकदेव, श्री नेमिचंद्र एवं श्री अमृतचंद्रादि आचार्यों ने उनका भावार्थ एवं गूढ़ार्थ नय पद्धति से भलीभाँति समझाने के निमित्त से समयसार, कलश श्री तत्त्व प्रदीपिका, श्री सर्वार्थसिद्धि, श्री राजवार्तिक, श्री गोम्मटसारादि महान् ग्रंथराजों का निर्माण किया ताकि मुमुक्षुजन अनेकांत मार्ग का अनुसरण कर आत्मोत्थान कर सकें। तत्पश्चात् कुछ काल व्यतीत होने पर पुनः इन सिद्धान्त ग्रंथों का रहस्य जनसमुदाय से विस्मृत हो गया और ये एकांत मार्ग का अनुसरण कर स्वच्छंद होने लगे।

ऐसे समय में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी का आविर्भाव हुआ। उनके ज्ञान का क्षयोपशम आश्चर्यप्रद था। भोली जनता को विपरीत मार्ग का अनुसरण करते देख आपको बड़ा दुख हुआ। आपके हृदय से अज्ञानी जनसमूह के प्रति करुणा स्रोत फूट पड़ा। तभी कतिपय सामयिक विद्वानों की सद्प्रेरणा से आपने गोम्मटसारादि महान् ग्रंथ-राजों की विशद टीकायें कर अज्ञानी जनसमूह को सन्मार्ग पर लाने का भरसक प्रयत्न किया।

इन टीकाओं के पूर्ण होने पर पंडितजी बहुत आल्हादित हुए और उन्होंने अपने को कृतकृत्य समझा। परंतु तभी आपने अनुभव किया कि इन ग्रंथों से एक विशिष्ट वर्ग ही लाभान्वित हो सकता है

– सर्व साधारण नहीं। साथ ही आपने देखा कि लोग मनुष्य जैसी अत्यंत दुर्लभ एवं महत्त्वपूर्ण पर्याय का किस प्रकार दुरुपयोग कर रहे हैं। सर्व साधारण की इस अत्यंत दु:खद अवस्था का अवलोकन कर पंडितजी ने अनुभव किया कि इस अज्ञान–त्रस्त जनता को सन्मार्ग पर लाने के लिये एक मौलिक कृति का निर्माण कर सुबोध भाषा के माध्यम से प्रयोजनभूत तत्त्वों का क्रमिक ज्ञान कराया जावे। इसी कारुणिक विचार के फलस्वरूप पंडितजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक नामक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ का शुभारंभ किया।

जैसा कि ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है पंडितजी ने इस ग्रंथ में मोक्षोपयोगी जीवादि पदार्थों का शुद्ध एवं स्पष्ट विवेचन करने का शुभ प्रयास किया है। इस ग्रंथ में आपने प्रारंभ से ही सज्जनों के संपर्क में रहते हुए आगमाभ्यास की प्रेरणा दी है। पश्चात् संसार अवस्था के स्वरूप का निर्देशन करते हुए दुखों के मूल कारण मिथ्यात्व पर प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् की एकांत मान्यताओं का युक्तिपूर्वक खंडन करके उन्हें वीतराग धर्म ग्रहण करने का उपदेश दिया है, साथ ही अगृहीत मिथ्यात्व पोषक गृहीत मिथ्यात्व का निषेध किया।

वैसे तो मोक्षमार्ग प्रकाशक का प्रत्येक वाक्य गंभीर अध्ययन एवं मनन के योग्य है परंतु इसका सातवां, आठवां और नवमां अध्याय तो मुमुक्षुओं के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इन अध्यायों में पंडितजी नय पद्धति की कठिनाई को सुलझाकर उसका वास्तविक स्वरूप मुमुक्षुजनों के सामने रख दिया है। जो जीव एकान्त निश्चय का अवलंबन कर केवल शुद्ध आत्म द्रव्य को इस अशुद्ध पर्याय में घटित करके प्रमादी बन जाते हैं, उन्हें तर्क एवं आगम प्रमाणों से प्रतिज्ञा ग्रहण करने का महत्व बताया है। तथा जो एकान्त व्यवहार का अवलंबन कर शुभोपयोग को ही मोक्षमार्ग मानने लगे हैं, उन्हें शुद्धोपयोग को उपादेय बताकर आत्म मीमांसा करने का उपदेश दिया है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अध्याय का सार पंडितजी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की टीका की प्रशस्ति में छन्दबद्ध करके मंगलाचरण में लिखा है।

कोऊ नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
भये हैं स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोऊ व्यवहार दान शील तप भाव को ही,
आतम को हित जान छांड़त न मुद्धता।।
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग को,
भिन्न भिन्न जान यह बात करे बुद्धता।
जब जाने निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारन को उपचार माने तब उद्धता।।

इसी प्रकार आठवें अध्याय में अनुयोगों का प्रयोजन एवं उनका सापेक्ष विवेचन मुमुक्षुजन की अनेक शंकाओं का समाधान करता है।

नवमें अधिकार में मोक्षमार्ग के स्वरूप का निर्देश करते हुए मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षणों का समन्वयात्मक विवेचन भी पूरा नहीं किया जा सका है। अत्यंत शोक का विषय है कि पंडितजी की अकाल मृत्यु हो जाने से यह ग्रंथ पूर्ण न हो सका। यह हमारा दुर्भाग्य है। काश! यह ग्रंथ पूरा हो जाता तो मुमुक्षुजन बड़ी ही सरलता से आत्म मीमांसा कर सकते थे; किंतु फिर भी जितना लिखा गया है, वह भी मुमुक्षुओं को तत्त्व निर्णय में परम सहायक है।

अस्तु, पंडितजी के विशाल स्वानुभव जनित ज्ञान स्रोत से प्लावित इस मोक्षमार्ग प्रकाशक में निहित अध्यात्म रस का पान करना ही, पंडितजी के मौलिक कृतित्व के प्रति आभार प्रदर्शन होगा। ●●

युगदृष्टा आचार्यकल्प.....!!!

श्री विमलकुमार जैन सोंरया, मंडावरा (झांसी)

आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी युगविशेष के अवतार स्वरूप महामानव थे। उनकी प्रतिभा और प्रतिमा दोनों एक रूप थीं। उनका प्रादुर्भाव एक महामानव अथवा मानव विशेष के रूप में इस पावन वसुंधरा पर हुआ। जयपुर की वह पवित्र भूमि धन्य है जिस पर ऐसे पुण्यशाली महापुरुष का जन्म हुआ। उनकी सर्वतोमुखी विलक्षण प्रतिभा के दर्शन मात्र 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नामक ग्रंथ में देखने को पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। यह ग्रंथराज धर्म की साकार परिभाषा के साथ मुक्तिपथ का एक मूर्तिमान मार्ग है। इसमें मानव कल्याण की पावन प्रेरणाएँ विद्यमान हैं। उनके लेखन में दार्शनिक विज्ञता, शंका समाधान-कारिका, सिद्धांत-मर्मज्ञता पूर्ण रूप में परिलक्षित होती है।

इनकी महानतम विद्वत्ता और नैसर्गिकी प्रज्ञा का सम्यक् रूप गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार एवं क्षपणासार जैसे महानतम गहन सिद्धांत ग्रंथों की 'सम्यक्ज्ञानचंद्रिका' नामक भाषा टीका में देखने को मिलती है। इन्हें न्याय, दर्शन, व्याकरण, तर्क और काव्य के साथ संस्कृत, प्राकृत, गणित आदि विषयों का महान ज्ञान था। ऊँचे से ऊँचे भावों को सरल से सरल भाषा में प्रदर्शित करने पर भी उनके वर्णन में अस्वाभाविकता नाम मात्र को नहीं आने पाई।

मूर्धन्य विद्वान् होने के साथ ही साथ एक निर्भीक साधक, कट्टर धर्मावलम्बी और सच्चे महामानव के रूप में उनका जीवन दर्शन हमारे सामने आता है। अपने गुरु से शास्त्रार्थ की इच्छा

रखनेवाले आगंतुक विद्वान को आपने अपनी अल्पवय में ही गुरु के नाम के 17 अर्थ समझाकर आश्चर्यचकित कर दिया। यह थी आपकी विशाल ज्ञानवैभवता।

उनकी कर्तव्य-परायणता महान थी। ग्रंथराज गोम्मटसार की टीका के समय माँ के द्वारा बेटे की एकाग्रचित्त वृत्ति की परीक्षा ली गई थी। कहा जाता है कि जब पंडितप्रवर टोडरमलजी ने सिद्धांत ग्रंथों की टीकाएँ करना प्रारंभ किया तो प्रतिक्षण इनकी चित्तवृत्ति अपने कर्त्तव्य के पूर्ण करने में रहती थी। माँ ने बेटे की इस वृत्ति की परीक्षा लेनी चाही और उसके लिए एक उपाय सोचा कि 'भोजन के समय शाक में नमक न डालना।' यह परीक्षा छह माह तक निर्बाधरूप से चली, लेकिन बेटे ने माँ से यह नहीं कहा कि सब्जी में नमक नहीं है। क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति मात्र सिद्धांत ग्रंथों में एकाग्र थी। छह माह की लम्बी अवधि के बाद जब टीका समाप्त हो जाती है, पंडितजी अपनी माँ को उलाहना देते हैं कि माँ! आज सब्जी में नमक डालना भूल गई हैं? बेटे के शब्द सुनकर माँ मुस्कराती हुई बोली - बेटा! आज छह माह बाद तुम्हें नमक का स्वाद ज्ञात हुआ क्या? माँ और बेटे अपने-अपने कर्त्तव्य की इस परीक्षा पर विचार करते हुए मुस्करा उठे। यह थी महापंडित टोडरमलजी के कार्य के प्रति एकाग्र चित्तवृत्ति की बात! यही कारण है कि वह एक सच्चे कर्मठ व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आए।

समाज सुधारक के क्षेत्र में उनकी महान और अनुकरणीय अमूल्य सेवाएँ युगों-युगों तक गौरवता की प्रतीक रहेंगी। पाखण्डवाद और शिथिलाचार का कट्टरता से विरोध कर, अपने विशुद्ध और विपुल ज्ञान व पाण्डित्य के माध्यम से समाज में नवचेतना जागृत की। वह मानव सेवाओं को बहुत ही महत्व देते थे, इस संबंध में अनेकों उदाहरण उनके पावन जीवन से संबंधित सुनने में आते हैं।

उनमें मानवता के वे सच्चे गुण पूर्णरूपेण विद्यमान थे जिनके कारण वह महामानव कहलाए। प्रत्येक युग विशेष किसी व्यक्ति विशेष के महानतम अवतार के कारण अनेक युगों तक अपना महत्त्वपूर्ण गौरव उस व्यक्ति विशेष के माध्यम से प्रदर्शित करता रहता है।

उनकी संपूर्ण संस्कृति, सभ्यता, शासन सत्ता, समाज व्यवस्था, ज्ञान वैभवता व धर्म विशालता का एक साथ दर्शन मात्र उस युग में अवतरित महामानव के जीवनवृत्त के आधार पर ही चित्रपट की भाँति ज्ञात किया करते हैं। उस युग विशेष की संस्कृति का संपूर्ण इतिहास उस व्यक्ति विशेष के जीवन से ही ज्ञात किया जा सकता है। इस बात की पुष्टि आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी के जीवनवृत्त से की जा सकती है।

वह एक सच्चे क्रांतिकारी महामानव थे। वे एक सच्चे शहीद के रूप में हमारे सामने आते हैं। यद्यपि उनका वह पौद्गलिक शरीर अब नहीं है लेकिन उनकी कल्याणकारी अमरवाणी आज भी तादात्म्य रूप में है और अनेक युगों तक चिरस्मरणीय, वन्दनीय व अभिनंदनीय रहेगी।

इस प्रकार पूज्य पंडित टोडरमलजी को आचार्यकल्प महामानवता के प्रतीक, पंडितप्रवर सत्साहित्य-साधक, समाज सुधारक एवं क्रांतिकारी शहीद के रूप में स्मरण कर अपनी भक्ति पूर्ण श्रद्धांजलि समर्पण कर उनकी भव्य महान तेजोमय आत्मा के प्रति नमन करता हूँ। ●●

अमर विभूति पंडित टोडरमलजी का स्मारक भवन

डॉ. ताराचन्द जैन बख्शी, एम.एस.सी., एल.एल.बी.

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी जैनधर्म व साहित्य के अद्वितीय विद्वान थे। उनका 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जैनधर्म का असली स्वरूप प्रकट करता है। यह प्रतिदिन स्वाध्याय योग्य महान् ग्रंथ है। पंडित टोडरमलजी का सारा जीवन ही लोक सेवा व साहित्य साधना में व्यतीत हुआ। उन्होंने अपने अल्प जीवन काल में जनहित के लिये जो अमूल्य देन प्रदान की है - वह अभूतपूर्व व असाधारण है। उनकी रचनाएँ अमर हैं।

पंडित टोडरमलजी का जन्म संवत् 1797 के लगभग जयपुर के जैन परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रम्भाबाई था। इनकी स्मरण शक्ति बड़ी विलक्षण थी। पंडितजी की प्रखर बुद्धि को देखकर शिक्षक भी दंग रह जाते थे। और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। पंडितजी को 11-12 वर्ष की उम्र में ही व्याकरण, न्याय एवं गणित जैसे कठिन विषयों का गंभीर ज्ञान प्राप्त हो गया था। अध्ययन समाप्त होने के बाद उन्हें कुछ समय के लिये सिंघाणा में आजीविका के लिये जाना पड़ा। वहीं पंडितजी ने साहित्य निर्माण की ओर प्रथम चरण रखा और कुछ ही वर्षों में प्राकृत भाषा के महान ग्रंथराज गोम्मटसार, लब्धिसार एवं क्षपणासार जैसे उच्चस्तरीय ग्रंथों का भाषानुवाद कर लिया।

सिंघाणा से फिर ये जयपुर आ गये और जयपुर को ही अपनी साहित्यिक व सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बना लिया। उन्होंने स्वयं शास्त्र स्वाध्याय प्रारंभ किया। जिसमें स्थानीय नागरिक व बाहर के स्वाध्याय प्रेमी भाग लेने लगे और कुछ ही वर्षों में पंडितजी की कीर्ति जयपुर, राजस्थान और सारे भारतवर्ष में फैल गई। गोम्मटसार के भाषानुवाद के पश्चात् उन्होंने आत्मानुशासन, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय जैसे ग्रंथों की भाषा भी समाप्त की और मोक्षमार्ग प्रकाशक नामक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना कर डाली जिसमें सैद्धांतिक चर्चाओं का बड़ा ही सूक्ष्म एवं सफल विवेचन किया गया है।

उनका जन्म ऐसे समय में हुआ था, जबकि धार्मिक तत्त्वों का पठन-पाठन बन्द सा हो गया था शिथिलाचार का चारों ओर बोलवाला था और धर्म का वास्तविक स्वरूप बाहरी क्रियाकांडों में छुप गया था। भट्टारकों का प्राबल्य था। लोग असली धर्म से कोसों दूर हो गये थे। ऐसे समय में पंडित टोडरमलजी ने बीड़ा उठाया और पाखंड व क्रियाकांड के भूत को जनता के सिर से उतारने में अथक परिश्रम किया। उन्होंने शास्त्र-स्वाध्याय की परिपाटी को पुर्नजन्म दिया, जिससे जयपुर की जैन नगरी में प्रत्येक प्रमुख जैन मंदिर में शास्त्र-प्रवचन का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। लोगों में धार्मिक जागृति उत्पन्न हुई और अनेक विद्वान पैदा हुए। गोम्मटसार के अध्ययन व अध्यापन का जो प्रचार आज सर्वत्र दिखाई

देता है, उसका महान श्रेय आपकी सरल हिन्दी टीका को प्राप्त है। उससे पहले यह ग्रंथ प्राकृत व संस्कृत भाषा में होने के कारण सर्वसाधारण की समझ से बाहर था।

पंडित टोडरमलजी अपने युग के क्रांतिकारी व सच्चे सुधारक थे। ढोंग, पाखंड व आडंबर के विरुद्ध आपके हृदय में अत्यंत घृणा थी। अज्ञान तिमिर को दूर करके उन्होंने ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित की। विद्वत्ता, लोकसेवा, तपस्या, सुधारकता आदि अनेक दृष्टिकोणों से उनका जीवन स्मरणीय है। उनके सुधारक व क्रांतिकारी विचारों के कारण उनके कई विरोधी भी हो गये और इन विरोधियों के षड्यंत्रों का शिकार होकर उन्हें अल्पायु में ही शहीद होना पड़ा। इससे जैन समाज को अपार क्षति हुई। यदि वे अधिक समय तक जीवित रहते तो जैनधर्म व साहित्य की अपार सेवा व प्रचार होता। उनका महान ग्रंथ मोक्षमार्ग प्रकाशक अधूरा ही रह गया, जिसे आज तक कोई पूरा नहीं कर सका।

जैनसमाज की महान विभूतियों में पंडित टोडरमलजी का स्थान प्रमुख है। उनके कारण जयपुर की जैन नगरी धन्य हो गई और सारे भारतवर्ष में उनका नाम अमर हो गया। ऐसे महान विद्वान आचार्यकल्प टोडरमलजी के स्मारक भवन की जयपुर में अतीव आवश्यकता थी, जिसके लिये श्री कानजीस्वामी व पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ सदैव बल देते थे। आज उनकी प्रेरणा साकाररूप में हमारे सामने है। ●●

यदि पंडित टोडरमलजी आज होते?

श्री भंवरलाल पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, जयपुर

था पोष का मास। शीत ऋतु अपने पूर्ण यौवन में थी। जब सूर्य क्षितिज के ठीक मध्य में होता तब भी शीत की भयानकता कम नहीं होती। पुन: रात्रि का तो कहना ही क्या। ठण्डी ठण्डी बयार शरीर से स्पर्श कर उसमें अगणित छेद कर देती। सूर्यास्त के पश्चात् घर से निकलने को ही जी नहीं होता। इच्छा होती कि संध्या से ही अपने चारों ओर दो-दो रजाइयां लपेट गद्दे पर पड़े, रहो। प्यास होने पर भी जल का स्पर्श करने का साहस नहीं होता। ऐसी ही एक रात्रि को चारों ओर रजाई से लिपटा अखबार पढ़ रहा हूँ। पढ़ते-पढ़ते आँखें बोझिल हो उठी हैं और वे मुंदने लगी हैं। उठता हूँ, बिजली बुझाता हूँ और रजाई से संपूर्ण शरीर ढंक सोने का प्रयत्न करता हूँ। तब ही याद आता है सम्पादक वीरवाणी का वह पत्र जिसमें आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के द्विशताब्दी महोत्सव पर प्रकाशित होनेवाले विशेषांक के लिए लेख भेजने का आग्रह किया गया है। लेख का विषय भी उन्होंने ही चुन कर भेजा है वह है 'यदि पंडित टोडरमलजी आज होते' लेख का शीर्षक प्रश्न चिह्न बनकर मस्तिष्क में छा जाता है और बुद्धि मन के साथ मिलकर प्रश्न का उत्तर खोजने में व्यस्त हो जाती है। मस्तिष्क सागर में एक पर एक विचारों की लहरें आकर टकराती हैं और इस ही अवस्था में न जाने कब यह मन इस लोक को छोड़ स्वप्न लोक में विचरण करना प्रारंभ कर देता है।

कई दृश्य एक के पश्चात् एक चित्रपट के सदृश सन्मुख आते हैं। प्रारंभ में ये कुछ अस्पष्ट से होते हैं। शनै: शनै: उनकी अस्पष्टता स्पष्टता में परिवर्तित होती जाती है और वह आकृति का रूप ग्रहण कर लेती है। निश्चय ही वह आकृति एक मनुष्य की है। एक ऐसे मानव की जिसका चेहरा स्वर्गीय कांति से दैदीप्यमान हो रहा है। सर पर उसने गोल चपटी पगड़ी बांध रखी है। जयपुरी भाषा में इसे 'पापा पाटकडी की पगड़ी' कहते हैं। शरीर के मध्य भाग में एक बण्डी सी है, जिसमें बटनों के स्थान में बाँधने को कसें लगी हुई हैं। अधोभाग में घुटनों से भी ऊंची धोती पहने हैं। कपड़े सब हाथ से निर्मित वस्त्रों के हैं। वह आकृति पालथी मार कर बैठी है। उसके आगे दो चौकी हैं जिनमें से एक पर कुछ शास्त्र रखे हैं। शास्त्र प्राय: सब ही हस्तलिखित हैं। दूसरी चौकी पर मध्य भाग में कुछ लिखे कुछ बिना लिखे कागज पड़े हैं, चौकी के ऊपर के दाहिने कोने में एक दवात है जिसमें काली स्याही है। आकृति के हाथ में एक नेजे की कलम है जिससे ज्ञात होता है कि आकृति कुछ लिख रही है। आकृति पहिचानी सी लगती है मगर याद नहीं आता कहाँ देखी है। धीरे-धीरे आकृति के ओठ हिलते हैं और उससे ये शब्द प्रस्फुटित होते हैं, 'क्यों ओलक्यो कि कोनी।' शब्द कानों में पड़ते हैं मानो अमृत वर्षा हो। आकृति को अभी पहचान नहीं पाया हूँ अत: उत्तर भी नहीं दे पा रहा हूँ। मन में इस कारण कुछ संकोच भी अनुभव कर रहा हूँ, जिसकी छाया शायद चेहरे पर भी आ गयी है। आकृति की मर्म भेदी दृष्टि ने मानो उसे देख लिया है। वह कहती है 'अबार अबार तो मने याद कर रह्या छा और अब सामने आ गयो तो पिछानों

भी कोने कांई।' तब ही मन को एक झटका सा लगता है। पत्रों में पोस्टरों में प्रकाशित चित्रों से आकृति का मिलान करता हूँ तो निश्चय हो जाता है कि वह आकृति स्वनामधन्य आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी की ही है। श्रद्धा से मस्तिष्क झुक जाता है। मन में आह्लाद भर जाता है। उठकर उनके चरण स्पर्श करना चाहता हूँ किन्तु चरण छू नहीं पाता। इससे पूर्व ही आकृति मुझे अपनी गोद में भर लेती है। हृदय स्वर्गीय आनंद से भर उठता है। कहता हूँ 'धन्य भाग जो आपने दर्शन दिये। आज मुझसे अधिक भाग्यवान शायद इस दुनिया में कोई नहीं है। निश्चित ही आपने मेरे मन की जिज्ञासा जान ली है। अत: आप ही उसे शांत भी करें। कृपया बताएं यदि आप आज होते तो क्या होता?'

एक मुस्कुराहट आकृति के चेहरे पर आती है और वह कहती है, ''होणो कांई छो, पहली तो या होती कि जनम घर में न होर अस्पताल में होतो, पाछे मांको दूध न पीर डब्बा का दूध पर बड़ो होतो। जोशीजी कै न पढ़र स्कूल में पढ़तो। पाटी मालै खोर डालर आंक मांडना न पड़ता। स्यात ज्ञान को इत्तो बढ़ाव भी न होतो जो इत्ता ग्रन्थां की वचनिका कर सकतो और मोक्षमार्ग प्रकाशक भी लिख सकतो।'' मैंने कहा 'पंडितजी मेरे पूछने का अभिप्राय यह नहीं हैं, मैं तो कुछ प्रश्नों के आपसे स्पष्ट उत्तर चाहता हूँ। कृपया देकर कृतार्थ करें। मैं उन्हें छपवा कर जन साधारण तक पहुँचाऊँगा।'

आकृति ने कहा, 'पूछो'

मैंने कहा, ''श्रीमान् वर्तमान में जैन समाज में बहुत से मुनि हैं। उनका आचरण शास्त्र की कसौटी पर कसने से खरा नहीं उतरता। फिर भी समाज में उनकी खूब पूजा होती है। भक्त कहते हैं कि हमसे तो अच्छे ही हैं। शास्त्रों में पंचम काल के अन्तपर्यंत साधुओं का सद्भाव कहा है सो इनको साधु न मानें तो फिर किसको मानें।''

पंडितजी ने प्रश्न का उत्तर दिया, ''जैसे इस काल विषैं हंस का सद्भाव कह्या है अर गम्य क्षेत्र विषैं हंस नाहीं दीसै है तो हंस माने जते नाहीं, हंस का सा लक्षण मिले ही हंस माने जाय। तैसैं इस काल विषैं साधु का सद्भाव है, अर गम्य क्षेत्र विषैं साधु न दीसै हैं तौ औरनि को तो साधु माने जाते नाहीं। साधु लक्षण मिले ही साधु माने जाय। साधुपना बिना साधु मानि गुरु मानैं मिथ्यादर्शन होहै।''

क्या शुभोपयोग हेय हैं–

''शुभोपयोग जो सर्वथा हेय मानैं सो ठीक नाहीं। शुभोपयोग होतैं कषाय मंद हो है। अशुभोपयोग होतैं तीव्र हो है। सो मंद कषाय का कारण छोरि तीव्र कषाय का कार्य करता तौ ऐसा है – जैसे कड़वी वस्तु न खानी और विष खाना। जे जीव शुभोपयोग को मोक्ष का कारण मानि उपादेय मानै हैं, शुद्धोपयोग कौं नाहीं पहचानैं हैं, तिनिकौं शुभ अशुभ दोऊनि कौं अशुद्धता की अपेक्षा वा बंध कारण की अपेक्षा समान दिखाये हैं। बहुरि शुभ अशुभनि का परस्पर विचार कीजिए, तौ शुभ भावनि के विषैं कषाय मंद हो है, तातैं बंध हीन हो है। अशुभभावनि विषैं कषाय तीव्र हो है तातै बंध बहुत हो है? ऐसे विचार किये अशुभ की अपेक्षा सिद्धांत विषैं शुभ को भला भी कहिए है। जैसे रोग तो थोरा वा बहुत बुरा ही है। परन्तु

बहुत रोग की अपेक्षा थोरा रोग तो भला भी कहिए। तातैं शुद्धोपयोग नाहीं होय तब अशुभ तैं छूटि शुभ विषैं प्रवर्तना युक्त है।''

''जो मुनि धर्म का पालन नहीं करे, मुनि का वेष भी धारण नहीं करें किंतु साधु समान ही अपनी पूजा स्तुति आदि करावैं - उनके बारे में आपके क्या विचार हैं।''

''जे जीव विषय कषायादि अधर्मरूप तो परिणमैं अर मानादिक तैं आपको धर्मात्मा मनावैं, धर्मात्मा योग्य नमस्कारादि क्रिया करावैं, अथवा किंचित् धर्म का कोई अंग धारि बड़े धर्मात्मा कहावें, बड़े धर्मात्मा योग्य क्रिया करावैं, ऐसे धर्म का आश्रय करि आपको बड़ा मनावैं, ते सर्व कुगुरु जानने। केई शास्त्रनि विषैं तो मार्ग कठिन निरूपण किया, तो सधै नाहीं, अर अपना ऊंचा नाम धराये बिना लोक मानै नाहीं, इस अभिप्राय तैं यति, मुनि, आचार्य, योगी, तपस्वी इत्यादि नाम तो ऊंचा धरावै हैं, अर इनका आचरनिकौं नाहिं साधि सकै है तातै इच्छानुसारि नाना भेष बनावैं हैं। ऐसे अनेक भेष धारने तैं गुरुपनो मानै हैं, सो यहु मिथ्या है। तातैं ऊंचा नाम धराय नीची प्रवृत्ति युक्त नाहीं। जे इनको गुरु मानैं सो शास्त्र विषैं कृत कारित अनुमोदना का फल कह्या है तातैं इनको भी वैसा ही फल लागे है तहां दर्शन मोह का उदय संभवै है।''

''आपके समय में इन्द्रध्वज पूजा आदि महोत्सव बड़े ठाठ बाट से हुए। प्रतिष्ठाएं भी शायद हुई। यदि आप आज होते तो क्या इस प्रकार के आयोजनों का समर्थन करते''?

यहाँ पंडितजी कुछ उत्तेजित से लगे और उन्होंने आज की भाषा में ही बोलना प्रारंभ कर दिया। कहने लगे - ''मेरे समय में परिस्थितियां दूसरी थीं। कई मंदिर हम से छीन लिये गये थे। उनमें अन्य मूर्तियां विराजमान कर दी गयी थीं। जैनियों की संख्या के अनुरूप मंदिर भी नहीं थे। देश, समाज अथवा राष्ट्र की आर्थिक स्थिति भी आज की जैसी खराब नहीं थी। अत: उस समय उन कार्यों का औचित्य था और मेरा सक्रिय सहयोग भी उनमें था। किंतु आज तो परिस्थितियां भिन्न हैं। जो मंदिर हैं उनमें से कई में प्रक्षाल भी समय पर नहीं होती फिर भी लोग नई प्रतिमाएं बनाकर उनमें विराजमान करते हैं। आज जैनियों के बच्चे और विधवाएं भूखे मरते हैं, बेरोजगार इधर-उधर मारे फिरते हैं। साधनहीनता के कारण वे पढ़ नहीं सकते। ग्रंथों का प्रकाशन धनाभाव से नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थितियों में लाखों रुपया प्रतिष्ठा एवं मेलों इत्यादि पर खर्च करना कहां तक उचित है - तुम ही सोचो।

पंडितजी के यह कहते कहते ही मैं क्या अनुभव करता हूँ कि कोई मेरे शरीर को जोर-जोर से हिला रहा है और मैं वास्तविक लोक में आ जाता हूँ। आँखें खोलकर देखता हूँ तो सामने पप्पू की मम्मी कह रही है उठो, बहुत दिन चढ़ आया, घर में नाज कतई नहीं है। लाओगे तो चूल्हा जलेगा।'' और मैं आँखें मलता हुआ उठ बैठता हूँ तथा बुशशर्ट की जेब से रुपये निकाल थैला हाथ में ले घर से निकल पड़ता हूँ। स्वप्न की एक-एक बात मार्ग में भी मुझे याद आती रहती है। काश! वह सच्चा होता! ●●

लब्धिसार क्षपणासार की प्रशस्ति में

आचार्य कल्प पं० टोडरमलजी का परिचय उन्हीं की कलम से —

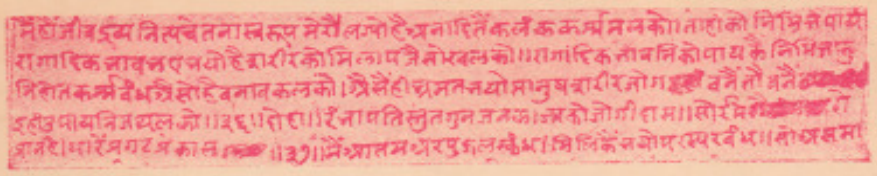

लब्धिसार, क्षपणासार सहित गोम्मटसार टीका की मूल पाण्डुलिपि :—

आचार्य कल्प पं० टोडरमलजी की कलम से

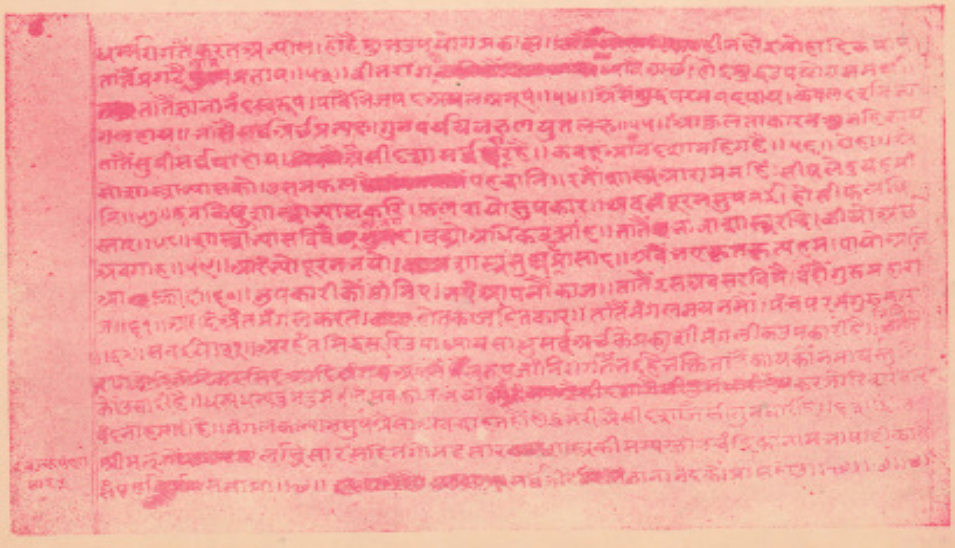

पंडित जयचन्दजी और उनकी साहित्यिक कृतियाँ

श्री दरबारीलाल कोठिया, एम.ए.

जयपुर के प्रतिभाशाली और यशस्वी विद्वानों ने जैन साहित्य की अपूर्व सेवा की है। तत्कालीन समाज में फैले हुए अज्ञान को दूर करके उन्होंने सम्यग्ज्ञान का वह न बुझनेवाला दीपक जलाया, जिसका प्रकाश भारत के कोनों-कोनों में पहुँचा। पंडित जयचन्दजी छाबड़ा उन्हीं में से एक थे। आज हम उन्हीं के संबंध में कुछ प्रकाश डालते हैं।

पंडित जयचन्दजी : परिचय

सर्वार्थसिद्धि की वचनिका की अंतिम प्रशस्ति[1] में पंडित जयचंद्रजी ने अपना कुछ परिचय स्वयं दिया है। उससे उनके जीवनवृत्त पर काफी प्रकाश पड़ता है। उसमें लिखा है कि वे फागई (फागी) ग्राम में, जो जयपुर से तीस मील की दूरी पर डिग्गी मालपुरा रोड पर स्थित है, पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम मोतीराम था। गोत्र छाबड़ा था और श्रावक (जैन) धर्म के अनुयायी (सरावगी) थे। परिवार में शुभ

---

1. काल अनादि भ्रमतसंसार, पायो नरभव मैं सुखकार।
जन्म फागई लयौ सुथानि, मोतीराम पिता के आनि।।11।।
पायौ नाम तहां जयचंद, यह परजायतणूं मकरन्द।
द्रव्य दृष्टि मैं देखूं जबै, मेरा नाम आतमा फबै।।12।।
गोत्र छाबड़ा श्रावक धर्म, जामैं भली क्रिया शुभ कर्म।
ग्यारह वर्ष अवस्था भई, तब जिन मारग की सुधिलई।।13।।
आन इष्टकौ ध्यान अयोगि, अपने इष्ट चलन शुभजोगि।
वहां दूजौ मंदिर जिनराज, तेरापंथ पंथ तहां साज।।14।।
देव-धर्म-गुरु सरधा कथा, होय जहां जन भाषैं यथा।
तब मो मन उमग्यो तहां चलो, जो अपनो करनो है भलो।।15।।
जाय तहां श्रद्धा दृढ करी, मिथ्या बुद्धि सवै परि हरि।
निमित्त पाय जयपुर में आय, बड़ी जु शैली देखी भाय।।16।।
गुणी लोक साधर्मी भले, ज्ञानी पंडित बहुते मिले।
पहले थे बंशीधर नाम, धरैं प्रभाव शुभ ठाम।।17।।
टोडरमल पंडित मति खरी, गोम्मटसार वचनिकाकरी।
ताकी महिमा सब जन करैं, वाचैं पढैं बुद्धि विस्तरैं।।18।।
दौलतराम गुणी अधिकाय, पंडितराय राज मैं जाय।
ताकी बुद्धि लसै सब खरी, तीन पुराण वचनिकाकरी।।19।।
रायमल्ल त्यागी गृहवास, महाराम व्रत शील निवास।
मैं हूं इनकी संगति ठानि, बुधितण जिनवाणी जानि।।20।। सर्वार्थसिद्धि वचनिका अन्तिम पृष्ठ

क्रियाओं का पालन होता था। परंतु स्वयं ग्यारह वर्ष की अवस्था तक जिनवाणी को भूले रहे – जब ग्यारह वर्ष हो गये तब जिनमार्ग को जानने का ध्यान आया। इसे उन्होंने अपना इष्ट एवं शुभोदय समझा। उसी ग्राम में एक दूसरा जिन मंदिर था, जिसमें तेरापंथ की शैली थी और लोग देव, धर्म तथा गुरु की श्रद्धा-उत्पादक कथा (वचनिका-तत्त्वचर्चा) किया करते थे। पंडित जयचंदजी भी अपना हित जानकर वहाँ जाने लगे और चर्चा-वार्ता में रस लेने लगे। इससे वहाँ उनकी श्रद्धा दृढ़ हो गई और सब मिथ्या बुद्धि छूट गई। कुछ समय बाद वे निमित्त पाकर फागई से जयपुर आ गये। वहाँ तत्त्व-चर्चा करनेवालों की उन्होंने बहुत बड़ी शैली देखी, जो उन्हें अधिक रुचिकर लगी। उस समय वहाँ गुणियों, साधर्मीजनों और ज्ञानी पंडितों का अच्छा समागम था। पंडित बंशीधरजी उनसे पहले हो चुके थे, जो बड़े प्रभावशाली तथा अच्छे विचारवान् थे। पंडित टोडरमलजी उनके समय में थे। वे बड़े तीक्ष्णबुद्धि थे। उनकी गोम्मटसार-वचनिका की प्रशंसा सभी करते थे। उसी का वाचन, पठन-पाठन और मनन चलता था तथा लोग अपनी बुद्धि बढ़ाते थे। पंडित दौलतरामजी कासलीवाल बड़े गुणी थे और 'पंडितराय' कहे जाते थे। राजपरिवार में वे आते जाते थे। उन्होंने तीन पुराणों की वचनिकाएं की थीं। उनकी सूक्ष्म बुद्धि की सर्वत्र संस्तुति होती थी। भाई रायमल्लजी और शीलव्रती महारामजी भी उस शैली में थे। पंडित जयचंदजी इन्हीं गुणीजनों तथा विद्वानों की संगति में रहने लगे थे। और अपनी बुद्धि-अनुसार जिनवाणी (शास्त्रों) के स्वाध्याय में प्रवृत्त हो गये थे। उन्होंने जिन ग्रंथों का मुख्य स्वाध्याय किया था, उनका नामोल्लेख उन्होंने इसी प्रशस्ति में स्वयं किया है। सिद्धांत ग्रंथों के स्वाध्याय के अतिरिक्त न्याय ग्रंथों तथा अन्य दर्शनों के ग्रंथों का भी उन्होंने अभ्यास किया था। उनकी वचनिकाओं से भी उनकी बहुश्रुतता प्रकट होती है। लगता है कि पंडित टोडरमलजी जैसे अलौकिक प्रतिभा के धनी विद्वानों के संपर्क से ही उनकी प्रतिभा जागृत हुई और उन्हें अनेक ग्रंथों की वचनिकाएं लिखने की प्रेरणा मिली।

राज-संबंध :

उक्त प्रशस्ति के आरंभ में राज-संबंध का भी वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है[1] कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्य खंड के मध्य में 'ढुढाहड' देश है। उसकी राजधानी 'जयपुर' नगर है। वहां का राजा 'जगतेश' (जगतसिंह) है, जो अनुपम है और जिसके राज्य में सर्वत्र सुख-चैन है तथा प्रजा में परस्पर प्रेम है। सब अपने-अपने मतानुसार प्रवृत्ति करते हैं, आपस में कोई विरोध-भाव नहीं है। राजा के कई मंत्री हैं। सभी बुद्धिमान और राजनीति में निपुण हैं। तथा सब ही राजा का हित चाहनेवाले एवं योग्य प्रशासक हैं। इन्हें में एक रायचन्द हैं, जो बड़े गुणी हैं और जिन पर राजा की विशेष कृपा है। यहाँ विशेष कृपा के उल्लेख से जयचंदजी का भाव राजा द्वारा उन्हें 'दीवान' पद पर प्रतिष्ठित करने का जान पड़ता है।

---

1. सर्वार्थसिद्धि वचनिका अंतिम प्रशस्ति पद्य 1-4 ।

जयपुर की जिनबिम्ब प्रतिष्ठा :

इसके आगे इसी प्रशस्ति में रायचंदजी के धर्म प्रेम साधर्मी वात्सल्य आदि गुणों की चर्चा करते हुए उन्होंने उनके द्वारा की गई उस चंद्रप्रभ जिनमंदिर की प्रसिद्ध प्रतिष्ठा[1] का, जो वि.सं. 1861 में हुई थी, उल्लेख किया है। इस प्रतिष्ठा से रायचंदजी के यश एवं पुण्य की वृद्धि हुई थी; और समस्त जैन संघ को बड़ा हर्ष हुआ था।

दीवान रायचंदजी से संबंध :

प्रशस्ति में पंडित जयचंदजी ने उनके साथ अपने विशेष संबंध का भी संकेत किया है।[2] उनके इस संकेत से ज्ञात होता है कि रायचंदजी ने उन्हें निश्चित एवं नियमित आर्थिक व्यवस्था करके अर्थ-चिंता से मुक्त कर दिया था; और इसी से वे एकाग्रचित्त हो सर्वार्थसिद्धि-वचनिका लिख सके थे, जिसके लिखने के लिए उन्हें अन्य साधर्मीजनों ने प्रेरणा की थी[3] और उनके पुत्र नंदलालजी ने भी अनुरोध किया था[4]।

पंडित नंदलालजी की प्रशंसा :

पंडित जयचंदजी ने अपने पुत्र पंडित नंदलाल की प्रशंसा करते हुए लिखा है[5] कि वह बचपन से विद्या को पढ़ता सुनता था। फलत: वह अनेक शास्त्रों में प्रवीण पंडित हो गया था। मूलाचार-वचनिका की प्रशस्ति में भी, जो पंडित नंदलालजी के सहपाठी शिष्य ऋषभदासजी निगोत्या द्वारा लिखी गई है, नंदलालजी को पंडित जयचंदजी जैसा बहुज्ञानी बताया गया है।[6] प्रमेयरत्नमाला-वचनिका की प्रशस्ति (पद्य 16) से यह भी मालूम होता है कि पंडित नंदलालजी ने अपने पिता पंडित जयचंदजी की इस वचनिका का संशोधन किया था[7]। इससे पंडित नंदलालजी की सूक्ष्म बुद्धि और शास्त्रज्ञता का पता चलता है। पंडित नंदलालजी दीवान अमरचंदजी की प्रेरणा पाकर मूलाचार की पाँच सौ सोलह गाथाओं की वचनिका कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया था। बाद में उस वचनिका को ऋषभदासजी निगोत्या ने पूरा किया था[8]।

---

1. करी प्रतिष्ठा मन्दिर नयौ, चन्द्रप्रभ जिन थापन थयौ।
   ताकरि पुण्य बढ़ौ यश भयौ, सर्व जैननिकौ मन हरखयौ। -सर्वार्थसिद्धि वचनिका अंतिम प्रशस्ति पद्य-6।
2. ताके ढिग हम स्थिरता पाय, करी वचनिका यह मन लाय, (वही, प्रश. पद्य-7)
3. भयौ बोध तब कछ चिंतयौ, करन वचनिका मन उमग्यौ
   सब साधरमी प्रेरणा करी, ऐसैं मैं यह विधि उच्चरी।। (वही, प्रश. पद्य-10)
4-5. नंदलाल मेरा सुत गुनी, बालपनेतैं विद्या सुनी।
   पंडित भयौ बड़ौ परवीन, ताहूने प्रेरणा यह कीन। (वही, प्रशस्ति पद्य-31)
6. मूला. वच. प्रश.। 7. प्रमेयर. वच. प्रश. पद्य. 86। 8. मूलाचार वचनिका प्रशस्ति।

पंडित भागचंदजी द्वारा पंडित जयचंदजी का उल्लेख :

यहाँ पर एक बात और ज्ञातव्य है। वह यह कि पंडित जयचंदजी की वचनिकाओं से सर्व साधारण को लाभ तो पहुँचा ही है, पंडित भागचंदजी (वि. सं. 1913) जैसे विद्वानों के लिए भी वे पथ-प्रदर्शिका हुई हैं। प्रमाण परीक्षा की अपनी वचनिका-प्रशस्ति में वे पंडित जयचंदजी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि उनकी वचनिकाओं को देखकर मेरी भी ऐसी बुद्धि हुई, जिससे मैं प्रमाण-शास्त्र का उत्कट रसास्वाद कर सका और अन्य दर्शन मुझे नीरस जान पड़े[1]।

समय :

पंडित जयचंदजी का समय सुनिश्चित है। इनकी प्राय: सभी कृतियों (वचनिकाओं) में उनका रचना-काल दिया हुआ है। जन्म वि.सं. 1795 और मृत्यु वि.सं. 1881-82 के लगभग मानी जाती है[2]। रचनाओं का आरंभ वि.सं. 1859 से होता है और वि.सं. 1874 तक वह चलता है। प्राप्त रचनाएं इन सोलह वर्षों की ही रची उपलब्ध होती हैं। इससे मालूम होता है कि ग्यारह वर्ष की अवस्था से चौंसठ वर्ष की अवस्था तक अर्थात् तिरेपन वर्ष उन्होंने शास्त्रों के गहरे पठन-पाठन एवं मनन में व्यतीत किये। और तदुपरान्त ही परिणतवय में साहित्य-सृजन किया था। अत: पंडित जयचन्दजी का अस्तित्व-समय वि.सं. 1795-1882 है।

साहित्यिक कृतियां :

इनकी मौलिक रचनाएँ और वचनिकाएँ दोनों प्रकार की कृतियां उपलब्ध हैं। पर अपेक्षाकृत वचनिकाएँ ही अधिक हैं। वे कृतियां निम्न प्रकार हैं :-

	कृति	रचना-काल
1.	तत्वार्थ सूत्र-वचनिका	वि.सं.1859
2.	सर्वार्थसिद्धि-वचनिका*	चैत्र शुक्ला 5 सं.1861
3.	प्रमेयरत्न माला वचनिका*	अषाढ़ शुक्ल 4 सं.1863
4.	स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-वचनिका*	श्रावण कृ. 3 सं.1863

---

1. जयचंद इति ख्यातो जयपुर्यामभूत्सुधी:।
दृष्ट्वा यस्याक्षरन्यासं मादृशोऽपीदृशी मति:।।1।।,
यया प्रमाणशास्त्रस्य संस्वाद्य रसमुल्क्णशम्।
नैयायिकादिसमया भासन्ते सुष्ठु नीरसा:।।2।। (प्रमाण परीक्षा वचनिका, अ.प्रश.)

2. वीरवाणी, वर्ष 18, अंक 13, पृ. ५० तथा 95 (जन्म सं. 1805 की मान्यता अधिक-संपादक)

* इस चिह्न से अंकित ग्रंथ-प्रतियां पंडितजी के स्वयं हाथ की लिखीं दि. जैन बड़ा मंदिर, जयपुर में उपलब्ध हैं।
- वीरवाणी, (स्मारिका), पृ. 95

5.	द्रव्यसंग्रह-वचनिका*	श्रावण कृ. 14 सं.1863
6.	समयसार-वचनिका (आत्मख्याति संस्कृत-टीका सहित की)	कार्तिक कृ. 10 सं.1864
7.	देवागम स्तोत्र आप्त मीमांसा-वचनिका*	चैत्र कृ. 14 सं.1866
8.	अष्टपाहुड़-वचनिका*	भाद्र शुक्ला 12 सं.1867
9.	ज्ञानार्णव-वचनिका*	माघ कृ. 5 सं.1869
10.	भक्तामर-स्तोत्र-वचनिका	कार्तिक कृ. 12 सं.1870
11.	पद संग्रह 246 मौलिक पदों का संग्रह	अषाढ़ शु. 10 सं.1874
12.	सामायिक पाठ-वचनिका	
13.	पत्र परीक्षा-वचनिका	
14.	चन्द्रप्रभ चरित-द्वितीयसर्ग वचनिका	
15.	मतसमुच्चय-वचनिका	
16.	धन्यकुमार-चरित वचनिका	

इन रचनाओं का परिचय उनके नाम से ही विदित हो जाता है।

पंडित जयचंदजी की इन कृतियों से उनकी वाङ्मय सेवा का अच्छा मूल्यांकन किया जा सकता है। इन सबके अक्षरश: अध्ययन का तो मुझे अवसर नहीं मिला; किंतु उनकी सर्वार्थसिद्धि-वचनिका का और हाल में श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित द्रव्य संग्रह-वचनिका के संपादन तथा प्रकाशन के समय उसका अध्ययन करने का सौभाग्य अवश्य मिला। इस अध्ययन से उनकी सिद्धांत मर्मज्ञता, प्रामाणिक व्याख्यातृता, बहुश्रुतता, संस्कृत-प्राकृत हिन्दी भाषाओं की विज्ञता और हिन्दी गद्य-पद्य कर्तृता के अनुभव के साथ उनकी निष्ठा, सरलता, भद्रता और निरहंकारता का भी विशेष परिचय मिला। छाबड़ाजी की यह महान् शासन-सेवा एवं साहित्यिक कृतियां निश्चय ही उन्हें चिरस्मरणीय रखेंगी। हमारा विश्वास है कि पंडित जयचंदजी, पंडित टोडरमलजी, पंडित दौलतरामजी कासलीवाल, पंडित सदासुखजी प्रभृति जयपुर के विद्वानों की वाङ्मय-सेवा को समाज कभी भुला नहीं सकता-श्रद्धा और कृतज्ञता के साथ उसे सदा स्मरण रखेगा। ●●

पंडितप्रवर टोडरमलजी के अंतिम पाँच वर्ष

श्री गुलाबचंद छाबड़ा, एम.ए., जैनदर्शनाचार्य

1. संक्षिप्त परिचय :

स्वनामधन्य पंडित टोडरमलजी ने विक्रम की 18वीं शताब्दी के पूर्ण होने के तीन वर्ष पूर्व 'राजस्थान' की तात्कालिक राजधानी 'जयपुर' में भौंसा गोत्रीय श्रीजोगीदास की पत्नी रंभा के कोख को अलंकृत किया था।

आपका जन्म संपन्न घराने में इकलौते पुत्र के रूप में हुआ था, अतएव असाधारण जन्मोत्सव स्वाभाविक था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत के अनुरूप आपका बौद्धिक बल शैशवावस्था में ही परख लिया गया था। अत: आपकी शिक्षा विशेष रूप से काशी से बुलाये गये विद्वान् द्वारा संपन्न हुई।

2. ज्ञानाभ्यास :

उक्त पंडितजी बालक टोडरमल की कुशाग्र बुद्धि को देख चकरा गये। उनने ऐसा शिष्य कभी नहीं पाया था। वह मन ही मन कहने लगे मैं इसे क्या पढ़ाऊं? एक बार तो उसने कह भी दिया कि टोडरमल तुम तो स्वयंबुद्ध हो, मैं तुम्हें क्या ज्ञान दूं।

बालक टोडरमल ने अपने विशेष क्षयोपशम के कारण अत्यल्प काल में संस्कृत, प्राकृत, काव्य, साहित्य, व्याकरण, गणित, छंद, अलंकार इत्यादि पढ़ लिये और न्याय तथा दर्शनों पर भी अपना अधिकार जमा लिया। यह सब उनकी सन् 1811 में लिखी हुई 'मुल्तान की रहस्यपूर्ण चिट्ठी' से ज्ञात होता है, जबकि उनकी आयु 14 वर्ष की थी। चिट्ठी क्या है वह कई ग्रंथों का निचोड़ रूप प्रश्नोत्तरी है। यह चिट्ठी ही आपकी प्रगल्भ प्रतिभा का प्रबल प्रमाण है।

14 वर्ष के बालक की इतनी ख्याति कि जिसको आज के 200 वर्ष पुराने जमाने में, जबकि कोई आवागमन के इतने साधन नहीं थे और डाक का भी प्रबंध नहीं था, 500 कोस परे के लोग जान सकें और पत्र व्यवहार करने लग जायें।

3. रचनाचार्य :

हम पंडितजी के 1811 के पश्चात् के काल को तीन भागों में विभक्त करते हैं –

1. टीका काल, सं. 1811 से 1815
2. संशोधन काल, सं. 1816 से 1819
3. प्रचार काल, सं. 1819 से 1823

1. टीकाकाल :– पंडितजी ने 1811 से लेकर 1815 तक सिद्धांत ग्रंथों की टीकायें रचीं। इनके टीका ग्रंथ गोम्मटसार जीवकांड, गोम्मटसार कर्मकांड, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार की टीकाएं हैं। इनकी टीकायें भाई रायमलजी के अनुरोध तथा स्वयं की अंत:प्रेरणा से संपन्न हुईं।

यह कार्य शेखावाटी के एक छोटे से गांव 'सिघाणे' में हुआ जहाँ कि पंडितजी अपनी आजीविका के लिए कार्य कर रहे थे। साढ़े तीन वर्ष की अल्प अवधि में 65 हजार श्लोक प्रमाण टीकायें भी बना डालना और अपनी आजीविका भी करते रहना – एक बहुत बड़ा आश्चर्य है।

सं. 1815 और 16 के बीच आपका सिघाणे से जयपुर आगमन हुआ। यहाँ आपको आते ही वैवाहिक बन्धन में बाँध दिया गया। अब आपके ऊपर गार्हस्थ्य का भार आ पड़ा। पिताजी का भी देहान्त हो गया। आपके दो पुत्र भी उत्पन्न हुए।

2. संशोधन काल :– यह काल सिघाणे से आ जाने के बाद का काल है। यह कार्य पंडितजी ने अपने गार्हस्थ जीवन में ही किया। जिन महान् ग्रंथों की टीकायें रचीं थी उनका संशोधन आवश्यक था। इसी काल में ग्रंथों की भूमिका, संदृष्टि एवं विषय सूची भी बनी। विषय सूची के आधार पर ही ग्रंथ को समझ लेने की 'पूर्व पीठिका' इसी काल में बनी। ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को समझ लेने के लिए 'पारिभाषिक शब्दावली' भी इसी काल की रचना है। बिना 'पारिभाषिक शब्दावली' एवं 'पूर्व पीठिका' के ग्रंथ को समझ लेना सहज नहीं है। प्रत्येक ग्रंथ के पूर्व में लिखी उसके प्रतिपाद्य विषय की कुंजी पढ़ लेने पर ही ग्रंथ का साधारण परिचय पाया जा सकता है। यद्यपि आज कल के ग्रंथों में भी यह पूर्णतया पाया जाता है किंतु जिस रीति से पंडितजी ने लिखा है, वह आधुनिकता से कई गुना उत्तम है।

3. प्रचार काल :– यह काल संशोधन के बाद का काल है, क्योंकि जब तक ग्रंथों को सांगोपांग शुद्ध न कर लिया जाय, उनका प्रचार नहीं किया जा सकता। अत: इनके प्रचार के लिए पंडितजी ने अनेकों प्रतियां उतरवाईं। भा० रायमलजी ने अपनी चिट्ठी में लिखा है कि उस समय ग्रंथों की प्रतिलिपि के लिए दस बारह लेखक रखे गये थे। इस प्रकार उनकी टीकाओं की प्रतिलिपियां उतरवा कर दूर-दूर जैन मंदिरों में पहुंचाया गया। यह कार्य इसी काल का कहा जा सकता है।

4. प्रचार का साधन :– जयपुर 'जैनपुरी' थी। दस हजार करीब जैनों के घर थे। उस समय दीवान रतनचंदजी साह तथा दीवान बालचंदजी छाबड़ा जैन थे। कई हाकिम और मुत्सद्दी तथा अनेकों राज्य कर्मचारी जैन थे। इन सब पर पंडितजी का पूर्ण प्रभाव था। सभी के सहयोग से उक्त रचनाओं का प्रचार सुलभ हो सकता था क्योंकि आज की भाँति वह युग छापाखाने का युग तो था नहीं, सब लोग हाथ से लिखते एवं लिखाते थे। इसी का फल कि थोड़े ही काल में आपकी टीकायें दूर-दूर भेजी गई।

1. इन्द्रध्वज :– 'इन्द्रध्वज विधान' पंडितजी के ज्ञान का ज्वलन्त उदाहरण है। इस विधान

में तेरह द्वीप का मंडल 64 वर्ग गज के चबूतरे पर त्रिलोकसार ग्रंथ के अनुसार हूबहू बनाया गया था। उसके विस्तार एवं प्रस्तार की चर्चा करना उतना उपयोगी नहीं जितना कि उसके रचना के विषय में चर्चा करना उपयोगी है। भा० रायमल्लजी ने अपनी पत्रिका में इन्द्रध्वज का सामान्य परिचय देते हुए बताया है कि यह मंडल चावल रोली का नहीं होगा चूना कली का शास्त्रोक्त वर्णन के अनुरूप होगा। जम्बूद्वीप, धातकीखंड, पुष्कर द्वीप इत्यादि असंख्य द्वीपों में तेरह द्वीप की रचना ही अभीष्ट है, क्योंकि इन्हीं तेरह द्वीपों में अकृत्रिम चैत्यालय हैं। पंडितजी ने इन सभी द्वीपों के 458 चैत्यालयों को यथास्थान उस मंडल पर अंकित करवाये थे। आपने अपने गणित ज्ञान के आधार पर क्षेत्र कुलाचल पर्वत, नदी, भोगभूमि, भरत ऐरावत, विदेह ये तीन कर्मभूमि, जम्बू शाल्मलि वृक्ष, सीमंधर युग्मंधर इत्यादि बीस विद्यमान तीर्थंकरों की नगरी, समुद्र, अंतरद्वीप नंदीश्वर द्वीप की रचना अंजनगिरि, दधिमुख, रतिकर का हूबहू बनाव, रुचिक गिरि, कुंडलगिरि पर्वत सभी का यथास्थान मंडल में निर्माण कराया था। ताकि जनता देखकर जान सके कि त्रिलोकसार क्या है, और इस मध्य लोक में कहाँ-कहाँ क्या-क्या रचनायें हैं। यह सब पंडितजी की ज्ञान गरिमा का ही प्रतिफल था। इस महोत्सव से जान पड़ता है कि पंडितजी का राजा और प्रजा पर कितना प्रभाव था। यह काम एक आदमी का नहीं था। इसमें जयपुर की प्राय: जैन जनता ही नहीं जुटी होगी, जैनेतर जनता ने भी काफी भाग लिया होगा। पाठक इसी से अनुमान लगा लें कि जिसका शामियाना 200 आदमी मिलकर उठावें, वह कितना बड़ा पंडाल होगा। जिसके लिए 50 रुपये रोज और 100 रुपये रोज कारीगरों को दिया जाय, उस सस्ताई के जमाने में और वह भी डेढ़ माह तक।

(2) मोक्षमार्ग प्रकाशक :- पंडितजी ने जो संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों की टीकायें रचीं उन सबका सार तथा जो-जो ग्रंथ उनके स्वाध्याय अथवा अध्ययन के विषय बने उन सबका निचोड़ ही मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम का हिन्दी ग्रंथ है जो ठेठ ढूंढारी भाषा में रचा गया है। यह ग्रंथ अधूरा है, किंतु अपने विषय में पूरा है। पंडितजी की इच्छा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों रत्नों पर अपनी रचनाओं का सार पाठकों को देने की थी, किंतु वे केवल सम्यग्दर्शन पर ही लिख सके जो गागर में सागर का काम करता है।

इन रचनाओं के अतिरिक्त पंडितजी ने इन अंत के पाँच वर्षों में (3) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका भी रची, जो अधूरी रह गई और फिर जिसे दौलतरामजी कासलीवाल ने 1827 में पूरा किया (4) आत्मानुशासन की टीका भी इन्हीं अंत के दिनों की जान पड़ती है। इस प्रकार पंडितजी ने जो साहित्य रचनाएं की हैं, वे महान् हैं। ●●

गुमान पंथ के संस्थापक – गुमानीराम

श्री सुरज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ

गुमान पंथ के संस्थापक पंडित गुमानीरामजी थे। यह पंडित टोडरमलजी के छोटे पुत्र थे। अपने पिता के द्वारा लगाए हुए शुद्धाम्नाय के पंथ को इन्होंने और भी पल्लवित पुष्पित तथा फलान्वित किया। इन्होंने अपने नाम से गुमानपंथ की स्थापना की, जिसके प्रमुख उद्देश्य शिथिलाचार के विरुद्ध बगावत पैदा करना था। जब उन्होंने देखा कि पवित्र जैन मंदिरों का आत्मध्यान एवं पूजा पाठ के स्थान पर सोने, कामभोग संबंधी कथा सुनने एवं कषायादिक उत्पन्न करनेवाले कार्यों के लिए उपयोग होता है तथा उनमें जैन सिद्धांत के विरुद्ध अशुद्ध पानी, दूध, सामग्री आदि भगवान के ऊपर चढ़ाई जाती है, इनके अतिरिक्त सगाई पगालागणी आदि लौकिक कार्य भी मंदिरों में ही किये जाने लगे हैं तो उक्त बातों को देखकर गुमानीरामजी का हृदय अत्यधिक दुखित हुआ और उनके विरुद्ध जोरदार प्रचार किया। धर्मायतनों को शुद्ध एवं पवित्र रखने के लिए आपने एक आचार-संहिता बनाई, जिससे मनुष्य मात्र को बाह्याडम्बरों से मुक्ति मिल सके, और वास्तविक धर्म लाभ हो। गुमानीरामजी ने मंदिरों के वातावरण को शुद्ध रखने पर विशेष जोर दिया तथा अपने आचरण शुद्ध रखने के लिए कठिन साधना पर बल दिया। बाह्य क्रियाकांडों से दूर रहते हुए वास्तविक रत्नत्रयादिक व्रतों के अतिरिक्त सभी व्रतों को आपने अग्राह्य ठहराया। उस समय यदि इस आम्नाय की मान्यताओं का कठोरता से पालन न किया गया होता तो धर्म एवं समाज में व्याप्त शिथिलाचार कभी दूर न होता।

गुमान पंथ को कुछ विशेषताएं निम्न प्रकार हैं –

(1) सूर्योदय या काफी प्रकाश होने से पहिले मंदिरजी की कोई भी क्रिया न करे। (2) सप्त व्यसन का त्यागी हो वही श्रीजी का स्पर्श करे। (3) समवसरण स्थित श्रीजी की पूजा खड़े-खड़े करें। (4) द्रव्य चढ़ाते समय अग्निसात् करे तो स्वाहा बोले अन्यथा अमुक द्रव्य अर्चयामि बोले। (5) चमड़े व ऊनी चीजें मन्दिर में न ले जावे। (6) माली व्यास आदि सेवक छतरी से आगे न प्रवेश करें। (7) मन्दिरजी के आंगन में बुहारी या साफ करना, पूजा के बर्तन मांजना, विछायत बिछाना आदि सारा कार्य श्रावक स्वयं अपने हाथों से करें। (8) गंधोदक को लगाये पीछे हाथ धोना। (9) जिन प्रतिमा के चरणों पर चन्दन केशर आदि चर्चित न करना। (10) रात्रि विषै जिनमूर्ति के पास मन्दिर में दीपक यत्नपूर्वक भी न जोवे। (11) केशर को पूजा में लेना ही नहीं केवल चन्दन घिस कर ही काम लेना तथा चावल के पुष्प बनावने के अर्थि तामैं कुसुंबा तथा हार सिंगार जे केशरा के पुष्प, घिस पीत करना। (12) और फल पूजा में नारियल बादाम आदि की गुली का चहोडना अर्थात् अखंड फल न चहोडना फोडि ताकी मींगी चढ़ावना। (13) पूजा के द्रव्य कौं अग्नि विषै बलि देना, माली व्यास आदि को देने

में निर्माल्य का पाप करि वह कुगति पाय सो पाप आप को लगे यातैं न देना। किन्तु यह रीति थोड़े दिन ही चली। इनके अलावा और भी आम्नाय का मान्यतायें हैं, उनको टेकचन्दजी ने अपने प्रबंध में संकलित की है, उनमें से थोड़ी बहुत मान्यतायें यों की यों उन्हीं के वाक्यों में उद्धृत की है सो निम्न प्रकार है।

'आगे मन्दिर मैं प्रदक्षण देता नीकसता पूठि दे छा, अब सन्मुख नीसरे छै, आगै पखाल सामग्री वास्ते पाणी जाट माली व श्रावगी बिना सांपडया (स्नान किये) ल्यावै छो अब धर्म बुद्धि डरै स्नान करि मन्दिर आबाका जुदा कपड़ा पहरि, गैला में कोई नैं भीटैं नहीं, पग धोय मन्दिर मैं आवैं। मन्दिर मैं रात्रि को तातों पाणी रहै तीसूं हाथ धोय पाणी लेबा जाइ, पाणी ल्याबा का चरी कलस नांतिणा जुदा रहै छै। डोरि पहली धोई सू ल्यावै। डोरि धरती कै न लगावै। अधर राखि पाणी भरैं। राह में कहीं नैं न भींटैं। पाणी की चरी नैं दूसिरा बडा नातिणां सूं ढकि ल्यावैं, जतन सूं कुवा परि छाणै, और भरिवा वालानैं मनैं करि दे। और का बासण को छांटो न लगावैं। भंवर कडी का बासण मैं जवाण्यो जतन सूं करि कै पाणी कै नजीक गया लोठ्यो ओधों करै। वैं चरीको पाणी पखाल का कलस मैं, सामग्री की चरी मैं घालि दे। अर वा चरी बंदोवस्त की जायगां गाढा कपड़ा सू पूछि धरें। डोरी नांतिणां तैठे फेरि कोई हाथ न लगावै। यो प्रबन्ध छैं।

आगै मन्दिर की वस्तु लौकिक प्रयोजन मैं ले जाय छा, अब ले न जाय छै।

सांपडवा की धोवती अंगोछा तींनू आप धोवै। माली कनै न धुपावै।

पूजन अति दूर तै नव स्थापना पूर्वक करना, पंचोपचारी पूजा उठाई, अर पूजा के पढने वाले भी खडा पाठ करै, बैठि कर न करना, बहुरि मंडप की पूजा ता उपरि पात्र धरि ता मैं द्रव्य चहोडना, मडल के कोठे में न चहोडना। कोहू पूछे तो ताको कहै – यह तो विछोवना है शोभारूप है। बहुरि दोय चारि आदि दिनों के पाठ होय तौ जितनी पूजा भई ताका नित्य विसर्जन शान्ति करि द्रव्य उठाय लेना।

बहुरि जिन प्रतिमा की पूजनवत् स्नान पूर्वक शास्त्र की स्वाध्याय करणो। नही बणै तो एक पुरुष स्नान कर अलग रहै सो वांचनें पढनेवालों को शास्त्र का पत्र उथेल देय, विना स्नानादिक वाले कौ स्पर्शवे देना नहीं।

कार्तिक की दीप मालिका मैं रात्रि पूजन है छ, अब दिन उग्या होय छै।

आगै मंदिर की आवंदनी वा पैलां की सामग्री सूं पूजन होय छो। पाठ मैं 'हूं (मैं) पूजूं छूं' यो अरथ छै, अब आपका घर की सामग्री ही सूं पूजन करै तीमैं श्रद्धा भक्ति उदारता जाणि जे। पैलां की सामग्री सूं पूजन करै तो किसबीमानी इत्यादि दोष बरसै, सो धरम बुद्धि नै घर की चौहडणी।

आगै हलवाई की मिठाई, रात्रि करी, सीघडा का घी की छांणा वालिवा आदि घणा दोष छा, सो धरम कार्य विचार्‌यो, अक्रिया को पाप घणो लाग्यो (अब खांड वींण लेणी, पाणी कौरा वासणां मैं भराय नांतिणा सू छांणि हलवाई का राछ आस धोवणा आगिलो (पहिले का) चीकट मिटै, खांड उज्जल कपड़ा सूं छांणि औटावणि वा जायगा धाइ हलवाई नैं सपडाय, उज्जल कपड़ा पहराय, गोहूं चणा अबीध लाये दिन को पिसाय, अबीध लकड़ी सूं भट्टी बालै। चाकी पथर का गरंड की मैं मैदा बेसण उज्जल कपड़ा उत्तम जातिकी कनै पिसावै। चालणी लोह पीतल की वा उज्जल घरका धोया वस्त्रा सूं छाणैं। घीरत घर को होय वा उज्जल जाति कौ कूलडा को होय तीनै पहली थाली मैं वीणै पाछैं ताई छाणै, छाणि निचोवैं नहीं। चौकी पाटा नवा होय तथा पत्थर का चाखला माटी सूं धोय तथा थाली परात अंगाय ले, धोय वां परि करै। ईं तरह पकवान वणावै तो किरिया करता धरमातमा, पूजन कीयां साचो धरम होय।

और चावल विदाम सामग्री मैं कह्यो, असाउज्जल पाणी सूं धोवै।

आगै निवाण को लाडू मन्दिर की आवंदनी मैं वा उगाही का द्रव्य सूं चढै छो सो अजोग्य छो। अब छोटा बड़ा आपणां आपणां घर का चढावे छै। अर मुखि पूजा करिवा वालो आपणा घर ही को लाडू चौहोडे यो प्रबन्ध छै। सो ही उत्तिम छै।

आगैं स्त्री पैलां करनैं सामग्री चढावै छी, अब रंग्या कपड़ा पहर्‌यां अष्ट द्रव्य उज्जल विधि तैं करि, स्त्रियाँ ही का संबंध में धोय चौहैड़ै। स्तुति पढै, पखाल न करै। ग्यांनवान मंदिर मैं विनै पूरवक प्रवर्तै।

लावणां का आया वा बाजार की मिठाई न चौहडै छै। वा जौ मोठ बाजरो दालि न चौहौडै। अष्ट द्रव्य मैं एक व अष्ट शुद्ध चौहेडै।

जात्रा मैं रजस्वला स्त्री सामिल बैठे छी सो जुदि बहल मैं बैठिबा को प्रबन्ध छैं।

आगै छत्री ताइ जोडी (जूते) आवे छी, अब वारिलै दरवाजै खुलै छै।

राछ पूजा का कोयला मंदिर मैं आवै ती राख मैं सू मंजै छैं। धरा की सूं न मांजे।

आगै वक्ता गादी परि बैठे छो ओ न बैठै छै। शास्त्रजी की चौंकी गादी पर रहै छै।

आगै मन्दिर को चाकर मन्दिर की आवंदनी मैं सू हक ले छो, सो अब धरा सूं द्यां छां।

आगै बिना स्थापना पूजन करैं छा, अब आपणा घर ही की सामग्री सूं तौ पूजन करै छै, अर स्थापना सवाली रकेबी में चौहोडे छा सो न चौहोडै छै। वा अजोग्य छी। अब स्नान करि उज्जल सामग्री आपणा घर की ही आप बणावै वा और धरम बुद्धि बणाय दे सो, सन्मुख च्यारि अंगुल अन्तिरै दोन्यौ

पग राखि दृष्टि की शरीर की चंचलाई मेटि अष्ट द्रव्य को अर्घ बणाय, जो श्रीजी विराजै ध्यानै चढावै। पाछै स्तुति पढै। कै तो विराजै वा का नाम की, कै सामानि नाव न होय सो पढै, सो पूर्ण करि फेरि अर्ध चौहोडे। पाछै दूसरी जायगा खटकड मैं प्रभु होय ब्यानै अर्घ चौहोडे। पाछै पुष्पां सू अठौणा परि रकेबी मैं पंच परमेष्ठीजी की सरस्वतीजी की षोडश कारण, दस लक्षण, रत्नत्रय, और पूजा करणी होय जयां की स्थापना करै, ज्यांकी पूजा करै सो विधि पूजा मैं छै ही। पाछै विर्सजन पाठ पढि स्थापना का पुष्प जुदा कलश मे भेला कर परवत परि धरै।

और पूजा, शास्त्र होता पालगथी मास्यां ही बैठै, विकथा-लौकिक बात न करै। और पुरुष शास्त्र होता पाल गथी मास्यां ही बैठ्या रहै, और आसन नै बैठै छै। और मण्डल के वास्तै बिकती बीधी हर एक का हाथ लागै सो न मंगावां छा। रोली, गुलाल, पत्थर की वा गरेड की चाकी घरम बुद्धिण ही पीसै तीसू करा छां।

आगै कलसाढणी चौदसि, पडिवा परहंडा का पाणी ल्यावै छा दूध दही बिना प्रबन्ध आवे छौ सौ पूजावालौ अब चौहोडै नहीं। पाणी तौ स्नान करि उज्जल वस्त्र पहरि ल्यावै, अर दूध स्नान करि उज्जल वस्त्र पहरि आपका वा और नै महाजन बांमण दोहै भैसका थण गाढो धोइ उज्जल वस्त्र सू पूछि, दोहैं, नातिणौ लोठ्या के लगाय, दोहि ल्याय छाणि तुरत तातो करै। उज्जल वस्त्र पहरि मन्दिर ल्यावै।

आगै रांत्रि मंडल मंडै छै। अब दिन मैं उज्जल वस्त्रास्यौं धरम बुद्धि मांडैं छै।

अब चमर फलसाणां दरजी ने मन्दिर मैं वैं-का हाथ पग धुपाय, डेरै सापडवा की बूझी ल्यां छां, मन्दिर की वस्तु गून्द का मसाला सूं उजल कने छपावां छां, सरेस न लगावै।

सामग्री अभोगत वस्त्र की चहौडा-आया-गया छींट का कपड़ा की न ल्यावै छै। मन्दिर मैं तातो पाणी कोयला मैं होय छै, नहीं मिलै तो लकड़ी, छाणा मैं तो न करणो। गन्धोदिक पूज्य छै सो नमस्कार करिणो जोग्य, मूंढै नेत्र लगाय हरकठै धोबो जोग्य नहीं। आगै गंधोदिक डागला परि मेलैछा सो जिनावर बैठे छा। मेह वरसे तदि व पाणी कहां जाय, तीसू अंगोछा में भेजोइ रोजीना सुखाय दीज्ये छै। यो प्रबंध छै।

वैराग्य का पाठ पडिवांनो मृदंग आदि बाजो जोग्य नहीं। भक्ति मैं अनेक बाजा जोग्य छै।

पुरुष स्त्री मंदिर आवता उभांणां पगां बिनां जोडी पहस्या आवो जोग्य नहीं।

सामग्री पुरुष नैं चाकर हाथि, स्त्रियां ने बांदी हाथि: ल्याबो जोग्य नहीं। विशेष सामग्री होय तो आपणी जाति की स्नान उज्जल वस्त्र पहरि ल्यावै।

गरमी मैं डील को मैल पगथली के हाथ लगाबौ कुचरवो जोग्य नहीं। एक मरजाद छै।

इति औलियो प्रबन्ध टेकचन्द कृत संपूर्ण।'

पाठक उपरोक्त कथन से गुमान पंथ की मान्यताओं की विशेषताएँ समझ गये होंगे। इस आम्नाय का प्रचार बहुत जल्दी हुआ। इस आम्नाय के मंदिर बधीचन्दजी के अलावा और भी हैं। बड़ा दीवानजी के मंदिर में दीवान शिवलालजी जो दीवान अमरचंदजी के पिता थे स्वयं मंदिर में झाड़ू लगाते, पानी लाते और बिछायत आदि बिछाते थे और इसी आम्नाय में छोटे दीवानजी का मंदिर है। इनके अलावा भादवा ग्राम, मारोठ, अजमेर लश्कर आदि के मंदिरों में भी इसी आम्नाय की मान्यता है। इस प्रकार कई जगह इसका प्रचलन हुआ।

बाह्य क्रियाओं में अधिक कट्टरता ला देने से शिथिलताचार नष्ट होने लगा। इससे शिथिलाचारी लोग पंडित गुमानीरामजी से द्वेष रखने लगे और उनको नीचा दिखाने का हर तरह प्रयत्न करने लगे। किन्हीं लोगों ने तो यह तक लिख डाला 'टोडरमल का वंश में, भयो गुमानी कंस। धर्म अंश जाने नहीं, पापमूल को वंश।'

लोगों ने चाहे जितना उनको नीचा दिखाने की कोशिश की है, किंतु वे अपने कर्त्तव्य में च्युत नहीं हुए। अपनी बात पर डटे रहना उनका स्वाभाविक गुण था, और निर्भीकता उनकी विशेषता थी! उन्होंने जितनी भी मान्यताएँ प्रचलित कीं, वे मनुष्य को आत्मनिर्भर सच्चे कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान बनाने में बल देती हैं और भक्ति की उभारनेवाली है। स्वावलम्बन के साथ मंदिरों के वातावरण को पवित्र बनाकर जीवन को समुन्नत बनाने में सहायक सिद्ध हुई है। पंडित गुमानीरामजी के कर्तव्यनिष्ठा निर्भीकता, विवेकशीलता आदि गुण हर मनुष्य को ग्रहण करने योग्य है। इनका स्वर्गवास पोष बदी 11 शनिवार संवत् 1853 को हुआ है। ऐसा गुटके के पता चलता है जो इस समय मंदिर बधीचंदजी में मौजूद है। ●●

मोक्षमार्ग में देव-शास्त्र-गुरु

श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, एम.ए.

जिनवाणी में जीवों की दो अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है और आचार्यों ने 'संसारिणो मुक्ताश्च' रूप में इसकी पुष्टि की है। जो कर्मबन्धनयुक्त चतुर्गति में भ्रमण करते हुए जन्म-मरण के दुख उठा रहे हैं, वे संसारी जीव हैं। और जो कर्मबन्धन से मुक्त होकर भव भ्रमण से छूट गये हैं - शाश्वत अपने ज्ञानादि गुणरूप हैं, वे मुक्त जीव हैं। मोक्ष के लक्षण के विषय में आचार्य कहते हैं— ''निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्या शरीरसयात्मनोऽचिंत्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्यावाधसुख-मात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्षः'' अर्थात् संपूर्ण कर्ममल कलंक से मुक्त अशरीरी आत्मा के ज्ञानादिगुण और अव्याबाध सुख की चरमावस्था का नाम मोक्ष है। पंडितप्रवर टोडरमलजी कहते हैं— 'जिसके निमित्त तैं आत्मा अशुद्धदशा कौं धारि दुखी भया ऐसे जो मोहादिकर्म तिनिका सर्वथा नाश होतैं केवल आत्मा की जो सर्व प्रकार शुद्ध अवस्था का होना सो मोक्ष है।'

जब हम वास्तविकता पर दृष्टिपात करते हैं तो विदित होता है कि सभी पदार्थ अपने अपने स्वभाव में स्वयं ही परिणमन कर रहे हैं। पदार्थ के परिणमनपर्याय से पर्यायान्तर होने में जो सुख-दुख की कल्पना की जाती है, वह भी बुद्धिजीवी के ज्ञान की अपनी उपज है। और उसमें प्रधान कारण उस जीव से संबंधित मोहनीय कर्म है। पदार्थ की पर्याय में स्वाभाविक परिणमन हुआ कि मोहनीय कर्म प्रेरित जीव ने उसमें इष्ट अनिष्ट की कल्पना की। इस विषय का पूज्य समन्तभद्राचार्य ने बड़ा ही उपयोगी चित्र खींचा है। वे कहते हैं—

''घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वियम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्।।''

अर्थात् एक काल में होनेवाले सुवर्णघट के नाश, उत्पाद और ध्रुवत्व में स्वर्णघट स्वर्णकपाल और सुवर्ण के इच्छुक तीन व्यक्ति अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप हर्ष, विषाद और माध्यस्थ्यरूप तीन प्रकार के भावों को प्राप्त होते हैं। पदार्थ तो सदैव ही पदार्थरूप - उत्पाद व्ययध्रौव्यात्मक हैं। वे स्वयं जीव में कुछ नहीं करते और जीव उनमें कुछ नहीं करते। स्वयंभूरमण समुद्र में रहनेवाले महामत्स्य और तंदुल मत्स्य के दृष्टांत से भी इस तत्त्व पर पहुंचा जा सकता है कि, उन दोनों के किस प्रकार के भाव करने पर स्वयं ही किस किस प्रकार के विभिन्न कर्मबन्ध होते हैं। यद्यपि वस्तुस्थिति एक ही है। पार्श्वपुराण में मिलता है -

''गणिका धरी चिता में जाय, विसनी पुरुष देखि पछताय,
जो जीवित मुझ मिलतो जोग, तो मैं करतो वांछित भोग।

स्वान कहै उर क्यों यह दहो, मैं निज भच्छन करतो सही,
पुनि तिहि देखि कहैं मुनिराय, क्यों न कियो तप यह तन पाय।।''

भाव यह निकला कि यदि मोहनीय कर्म नष्ट हो जाये तो यह संसार भ्रमण की समस्या शीघ्र हल हो जाये और जीव भी मुक्ति मार्ग में लग जाये। मोहनीय कर्म के क्षीण होने पर ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय सहज ही क्षीण हो जाते हैं, और शेष के वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु अकिंचित्कर हो जाते हैं, वे जीव के निज गुणों का पूर्णघात भी नहीं कर सकते। पूज्य उमास्वामी महाराज ने कहा है – 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' मोहनीय कर्म के क्षय होने से इस जीव के केवलज्ञानगुण की प्रकटता हो जाती है। उक्त सूत्र में मोहनीय कर्म को ही प्राथमिकता दी गई है; और इसी कर्म में बन्ध–हेतुत्व की प्रमुखता भी है। कषाय भी इसी के अंग हैं। 'सकषायत्वाज्जीव: कर्मण: योग्यान्पुद्गलानादत्ते संबंध:' सूत्र का तात्पर्य भी मोहनीय कर्म की प्रकृतियों से ही है। अत: मोहनीय कर्म के बन्धाऽभाव तथा उसी के क्षीण करने के उपाय करने चाहिये। अब देखना है कि मोहनीय कर्म के बंधाऽभाव तथा क्षीण करने में देव शास्त्र और गुरु कहाँ तक कितने सहायक हो सकते हैं?

प्रसंगवश इतना और कि जहाँ तक सहायक होने की बात है, उसमें पर की अपेक्षा है। प्रस्तुत प्रकरण में भी देव–शास्त्र–गुरु से रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि वर्णित देव–शास्त्र–गुरु (व्यवहारी) का ही ग्रहण है। जो हमसे 'पर और स्व' में शुद्ध पूर्ण और अविकारी हैं। 'स्व' में अपेक्षा नहीं होती। 'स्व' में तो अहमेव स्वयं एकाकी शुद्ध निरंजन और अविकारी का ही ग्रहण होता है। और वह स्वाभाविक अपनी काललब्धि आने पर स्वयमेव ही अपनी योग्यता से होता है। यदि ऐसा न माने और काललब्धि तथा योग्यता आदि को स्थान न दें तो छह मास आठ समय में छह सौ आठ जीवों के नियम से मुक्त होने की बात और भव्य अभव्य जैसे तथ्य को कल्पना तथा अतथ्य स्वीकार करना पड़ेगा। निश्चय दृष्टि में 'ववगय असेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो' ही देव का शुद्ध लक्षण है और यह स्वयं में स्वयं आत्मा के लिये ही घटित होता है। इसमें पर की अपेक्षा नहीं ही है।

जब हम व्यवहारदृष्टि से देव के स्वरूप का विचार करते हैं तो वे 'क्षुत्पिपासाजरातंक–जन्मान्तकभयस्मय:। न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त: स प्रकीर्त्यते' के रूप में हमारे सामने आते हैं। आप्त अष्टादश दोषों से रहित हैं। वे वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी भी हैं। शास्त्रानुसार पर्यालोचन करने पर हमें ऐसे जीवित आत्मा के दर्शन इस पंचमकाल में नहीं ही होते जो देव की संज्ञा को पा सकें। जिस युग में ऐसे जीवित रूप रहे, उस युग में उन्होंने मुक्ति मार्ग में पूर्ण योग दिया, ऐसा हमें समझना चाहिये। उस युग और उस समय के उन भव्य जीवों को हम किन शब्दों में संबोधित करें? इसका अनुमान करना

भी कठिन है। अब जबकि हम उनकी तदाकार जड़मूर्ति के सामने खड़े हो; उसे इकटक दृष्टि से देख अद्भुत शान्ति की प्राप्ति करते हैं। उनकी भव्यमूर्ति और अनुपमवाणी हमारे मार्गदर्शक हैं। इस नाते वे मोक्षमार्ग में हमें उपयोगी भी हैं। पूर्वापर विरोध रहित सर्वज्ञ की वाणी निर्मल शास्त्र है। जो हमें स्व-पर विवेक कराने के रूप में मुक्ति में सहायक है। गुरु का उपयोग भी देव की भांति हमें कार्यकारी है। पर ये सब सविकल्प दशा तक ही सीमित है। साक्षात् मुक्ति तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता में ही मिलेगी। सम्यग्दर्शन में जहां कहीं भी देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान का कथन है, वहाँ गृहीत मिथ्यात्व के त्याग कराने के उद्देश्य से ही है।

पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी के शब्दों में

''(प्रश्न) जो कहीं शास्त्रनि विषैं अरहंत देव, निर्ग्रंथ गुरु, हिंसारहित धर्म का श्रद्धान को सम्यक्त्व कह्या सो कैसे है?

(समाधान) अर्हंत देवादिका श्रद्धान होनैं तैं वा कुदेवादिका श्रद्धान दूरि होने करि गृहीत मिथ्यात्व का अभाव ही है तिस अपेक्षा वाकौं सम्यक्त्वी कह्या है। सर्वथा सम्यक्त्व का लक्षण नहीं। जातैं द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्म के धारक मिथ्यादृष्टि तिनिकैं भी ऐसा श्रद्धान होय है। अथवा जैसे अणुव्रत महाव्रत होते देश चारित्र सकलचारित्र होय वा न होय। परंतु अणुव्रत भये बिना देशचारित्र कदाचित् न होय। तातैं इन व्रतनि कौं अन्वय रूप कारण जानि कारण विषैं कार्य का उपचार करि इनको चारित्र कहना। तैसे अर्हंत देव आदि का श्रद्धान होते तो सम्यक्त्व होय वा न होय। परंतु अर्हन्तादिक का श्रद्धान भये बिना तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व कदाचित् न होय। तातैं अरहंतादिक के श्रद्धान को अन्वयरूप कारण जानि कारण विषैं कार्य का उपचार करि इस श्रद्धान कौं सम्यक्त्व कह्या है। या ही तैं या का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है।''

''बहुरि जहां देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान लक्षण कह्या है तहां वाह्य साधन की प्रधानता करी है। जातैं अर्हंत देवादि का श्रद्धान सांचा तत्त्वार्थ श्रद्धान कौ कारण है।''

उक्त कथनी से यह तो स्पष्ट है कि देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं है। अपितु सम्यग्दर्शन के कारणभूत होने से उपचार मात्र से सम्यग्दर्शन है। भाव यह निकला कि सम्यग्दर्शन के अनेकों कारण हो सकते हैं और इसीलिये सम्यग्दर्शन के निसर्गज आदि भेद भी हुए हैं। उन्हीं कारणों में से एक कारण देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन का कारण है। इसका अर्थ यह भी है कि संसारी विषय वासना में लगा आत्मा वस्तुस्थिति से पराङ्मुख रहने के कारण सत्-असत् की परीक्षा में समर्थ नहीं होता। फलतः कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रों का श्रद्धान भी कर लेता है। इस विपरीत मार्ग से बचाने और गृहीत मिथ्यात्व का त्याग कराने के लिये भी देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को उपचार से

सम्यग्दर्शन कह दिया है। जिस समय यह जीव सुदेवादि का श्रद्धान कर लेता है, उस समय उनके सच्चे वीतरागी आदि स्वरूप को आदर्श मान स्वयं ही 'स्व' का विवेक करता है और स्वयं ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है, इसका मोह मन्द और क्षीण होता है। एतावता मोक्षमार्ग में देव-शास्त्र-गुरु की उपयोगिता का स्थान है। वास्तव में तो जीव मोक्षमार्ग में स्वयं ही चलता है। देव आदिक उसे नहीं चलाते। यदि देव-शास्त्र-गुरु की सर्वथा मोहक्षय कराने, मोक्ष दिलाने आदि में कारण मान लिया जाय तो देव-शास्त्र-गुरु श्रद्धानी सभी जीवों को मोक्ष अनिवार्य होना चाहिये। पर ऐसा होता नहीं- मिथ्यादृष्टि भी खूब पूजा पाठ करते, वन्दना भक्ति आदि करते देखे गये हैं पर सभी तो मोक्ष जाते नहीं- मोह अथवा कर्मों का क्षय करते नहीं।

इस कथनी का निष्कर्ष इतना है कि देव-शास्त्र-गुरु व्यवहार दृष्टि इस जीव को संबोधने में हेतुभूत है; उनकी पूजा भक्ति और श्रद्धा से जीव सच्चे मार्ग की ओर अग्रसर होता है, पुण्य का संचय करता है और अशुभ का परिहार भी करता है। शुद्धि के मार्ग को समझता है। एतावता भव्य जीवों को इनकी श्रद्धा करना चाहिये, भक्ति और निरन्तर पूजा करनी चाहिये, पर इनके द्वारा मुख्य पाठ यह लेना चाहिये कि जिस प्रकार देव ने मोह क्षय किया, शास्त्र ने मोह क्षय का मार्ग दर्शाया और गुरु ने संसार शरीर भोग से निवृत्ति का मार्ग ग्रहण किया, उस प्रकार हमें भी नि:शल्य होकर मोह क्षय की और अग्रसर होना चाहिये। ●●

मोक्षमार्ग की संक्षिप्त रूपरेखा

श्री अमृतलाल झाटकीया, अमरेली

अनंत काल के प्रवाह में हुए विद्वज्जनों की प्रशंसा जगत में होती है किंतु जिन विद्वत्जनों की बुद्धि का उपयोग संसार के प्रयोजन की सिद्धि के लिये विषय सुख या राग के पोषण करने में आया हो, उसकी आत्मकल्याण की दृष्टि से किंचित् भी कीमत नहीं है।

वस्तु के यथार्थ तत्त्व की गहनता समझाये ऐसे ज्ञानी पुरुष का योग मिलना बहुत दुर्लभ है। भ्रांति के प्रवाह में बहती हुई बुद्धि को बल से प्रवाहित हुआ मिथ्या बोध, आानी अपरीक्षक जैनों को अनात्मा उपदेश दाता से प्राप्त होने से, वे वस्तु के मिथ्या स्वरूप को ही यथार्थ स्वरूप मानकर अनंत संसार के चक्र में परिभ्रमण करके अनंत दु:ख को भोगनेवाले होते हैं। सत्य विद्या तो यही है कि जो आत्मभ्रांति का नाश कर जीव को अव्याबाध, निराले सचचे सुख को प्राप्त करावे। आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप के अनुभव के बल से बांध देनेवाले ज्ञानी जन इस पंचम काल में बहु न अल्प देखने में आते हैं। फिर भी जिनको आत्म-बोध प्राप्त हुआ है ऐसे दृढ़ श्रद्धानी और उच्च कोटि के विद्वान् जगत में कभी-कभी देखने में आते हैं। उनकी विशिष्ट प्रकार की लाक्षणिक शैली से प्रवर्तित हुआ बोध आत्मार्थी जीवों के हृदय के तारों को हिलाता है। ऐसे ज्ञानी जनों की गिनती में पूज्य कविवर पांडे राजमलजी, पंडित कविवर बनारसीदासजी और पंडितप्रवर टोडरमलजी की गणना होती है। वे दृढ़ श्रद्धानी, जैनधर्म के रहस्यों को जाननेवाले और अपेक्षित कथनों का वास्तविक प्रयोजन समझनेवाले आत्मा पुरुष थे। उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली से तत्त्वों का यथार्थ बोध निर्भयता से जगत के सन्मुख रखा है।

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ पंडित टोडरमलजी की मौलिक कृति है। ग्रंथकर्ता की वर्णन शैली बहुत सुंदर, सुरम्य और सरल है। स्वयं अनेक प्रश्न उठाकर उनके प्रत्युत्तर शास्त्रोक्त प्रमाणों के साथ दिये हैं। जीव अपनी कल्पना से तत्त्व का अयथार्थ निर्णय न करे इसलिए पहले निर्दोष परिपूर्ण पुरुष के लक्षण सिद्ध किये हैं।

जिनमें विकार है, वह वीतराग हो सकते नहीं। वीतराग हुए बिना सर्वज्ञ हो सकता नहीं। सर्वज्ञ और वीतराग हो वे ही परिपूर्ण हो सकें। वैसे पुरुष के वचन सत्य और विरोध रहित होते हैं। अर्थात् वस्तु का सत्य स्वरूप दर्शानेवाले होते हैं। ऐसे पुरुश तो देव ही हैं। अत: पंडितजी ने प्रथम उनका स्वरूप दिखलाया है।

अज्ञानी जीव अनादि काल से परिभ्रमण के कारणों का सेवन कर संसार के अनंत दु:ख भोगते हैं। उस परिभ्रमण के तीन कारण हैं । (1) मिथ्यादर्शन, (2) मिथ्याज्ञान और (3) मिथ्याचारित्र।

कोई भी जीव स्वभाव से विकारी होता नहीं है। यदि स्वभाव से विकारी हो तो विकार का अभाव करके अधिकारी हो सकता नहीं। जीव को विकारी होने में निमित्त पुद्गल कर्म है। उसके दो

प्रकार हैं -(1) घातिकर्म और (2) अघातिकर्म। अघातिकर्म के उदयानुसार संयोग आते हों वे संयोग प्राप्त होने पर उसमें जीव को इष्ट अनिश्ट बुद्धि नहीं करनी चाहिए। भ्रान्ति का नाशकर स्थिरता का पुरुषार्थ करना, वही मोक्ष प्राप्ति का यथार्थ पुरुषार्थ है।

जीव की इच्छानुसार परवस्तु का कार्य होता नहीं है। जीव इच्छा करें या न करें फिर भी परपदार्थ जैसे परिणमनेवाला होगा तैसे ही परिणमन करेगा। फिर इच्छा करके जन्म, जरा, मृत्यु के दुःख उत्पन्न हो वैसे कर्तृत्व भाव का जीव क्यों सेवन करता है? जो हुआ उस वक्त वैसा ही होनेयोग्य था, ऐसा मन में विचारकर आकुलता का नाशक ज्ञान करना योग्य है।

'उदासीनता अध्यात्म की जननी है।' द्रव्य छह हैं। हरेक द्रव्य स्वतंत्र रूप से परिणमता है। एक द्रव्य के परिणमन में दूसरा द्रव्य का अधिकार नहीं है। ऐसी अटल मान्यता होना उसको यथार्थ उदासीनता कहते हैं। परपदार्थ अपनी-अपनी सत्ता के कारण परिणमता है। फिर वह ऐसे परिणमें तो अच्छा, वह ऐसा परिणमा होता तो अच्छा, वह ऐसा परिणमा इसलिये ठीक नहीं, वह ऐसा परिणमा नहीं इसलिए अच्छा नहीं, मैं पर चीज में ऐसा फेरफार कर दूँ ऐसे कर्तृत्व भाव के संकल्प विकल्प करना जीव के लिये कुछ कार्यकारी नहीं है। क्योंकि वैसे विकल्पों से पर पदार्थ के परिणमन में किंचित् भी फेरफार होता नहीं है। ऐसा वस्तु स्वरूप विचार कर उसके परिणमन में उदासीन रहना वही यथार्थ वैराग्य है। चाहे जैसे तुच्छ विषय में प्रवेश होने पर भी उज्ज्वल आत्माओं का स्वतः वेग वैराग्य में लाता है। जो होनहार है वही कभी फिरता नहीं, जो फिरता है वह बननेवाला नहीं ऐसा जानकर ज्ञानी सदा काल साक्षी रहता है।

ज्ञानी शुभाशुभभाव का भी कर्ता नहीं है। शुभाशुभभाव तो ज्ञानी लाता नहीं है वा छोड़ता भी नहीं है। यदि लाये या छोड़े तो कर्ता होता है। ज्ञानी तो केवल ज्ञाता-दृश्टा है इसलिए ज्ञान का ही कर्ता है। अतः वह स्वरूप का अस्वादी होता है।

श्री पंडितप्रवर टोडरमलजी करणानुयोग में से भी वैराग्य भाव और 'अध्यात्मभाव' निकाल सकते थे ऐसी उनको सातिशय बुद्धि थी। अद्भुत स्मरण शक्ति, प्रयोजनभूत तत्त्व का मर्म समझने की विचारशक्ति, परीक्षा प्रधान तुलना शक्ति और एक-एक विषय को विविध अपेक्षा से सरल फिर भी मनोहर भाषा में व्यक्त करने की मौलिक शक्ति उनमें थी। भगवान ने दो नय कहे हैं। (1) व्यवहारनय और (2) निश्चयनय। नयों का यथार्थ प्रयोजन समझकर वीतरागता कैसे प्राप्त हो सके, उसका गहराई से तलस्पर्शी विचार किये बिना नयों के संबंध में सामान्यजन ऐसी मान्यता रखता है कि भगवान ने दो नय कहे हैं, इसलिए दोनों नय आदरणीय हैं। दोनों नयों को यदि आदरणीय माने तो अनेकांत को यथार्थ माना ऐसा कहा जाये ऐसी भ्रांति सेवता है। किंतु इनकी यह मान्यता योग्य नहीं है। मोक्षमार्ग की सिद्धि हो सके उस प्रकार नयों का स्वरूप समझना चाहिए। सत्शास्त्रों में मोह, राग, द्वेष भावों का अभाव कर एक वीतराग भाव ही प्रगट करने का प्रयोजन बतलाया है।

भगवान ने हरेक बात पर तीन बोल लागू पड़ने की आज्ञा की है। वे तीन प्रकार ज्ञेय, हेय, उपादेय हैं। जब भगवान ने व्यवहारनय कहा है तो वह ज्ञेय है, हेय है या उपादेय है, यह विचारना चाहिये। ज्ञेय तो सारा जगत है। इसलिए उसके विचार में रुकने की आवश्यकता नहीं है। व्यवहारनय हेय है क्योंकि वह संयोगी भाव है और भेद को दिखलाता है। संयोगी भाव और भेद का आश्रय करने पर राग उत्पन्न होता है। राग का अभाव कर वीतरागता प्रगट करने के लिये व्यवहारनय का आश्रय छोड़ना चाहिए। व्यवहारनय ज्ञान का अंश है, इसलिए उसका विषय है यह बात यथार्थ है किंतु उसका आश्रय करने से राग की उत्पत्ति होती है। यहाँ तो उसका अभाव करने का प्रयोजन है, इसलिए व्यवहारनय हेय है। व्यवहारनय का विषय है इसलिए वह आदरणीय है ऐसा भी नहीं, क्योंकि वह जैसा कहता है वैसा वस्तु स्वरूप नहीं है।

अनेकान्त मार्ग भी सम्यक् एकांत ऐसी निज पद की प्राप्ति के बिना अन्य हेतु से उपकारी नहीं है। सब शास्त्रों का अंतिम सार इसमें आ जाता है। सर्वज्ञ के धर्म का मर्म और जैनदर्शन का गहन रहस्य इसमें प्रकाशित है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है और अवस्था से वर्तमान में अशुद्ध है ऐसे दोनों पक्षों को जानकर एक शुद्ध स्वभाव के प्रति झुकना यह अनेकान्त जानने का प्रयोजन है, और उसका नाम सम्यक् एकांत है। जीव सिर्फ नय के विकल्प में रुक जाये और शुद्ध स्वभाव के प्रति झुकाव न करे तो निजपद प्राप्ति होती नहीं है। एक शुद्ध स्वभाव का ही आश्रय करना वह सम्यक् एकांत है, और वही मोक्षमार्ग है, ऐसा पंडितजी ने दर्शाया है।

आत्मा पर पदार्थ से तो भिन्न है ही किंतु शुभाशुभ विकार से भी भिन्न है ऐसा जानकर उसका कर्तृत्व छोड़ना तत्त्व को जाननेवाला जीव संसार से उदासीन होता जाता है, परावलंबीपना उसमें रहता नहीं है। परपदार्थ की प्राप्ति व अप्राप्ति उनका स्वभाव है। पर पदार्थ में इष्ट अनिष्टपने की बुद्धि ज्ञानी को उद्‌भवती ही नहीं है। शुभाशुभ विकार से भिन्न होकर केवल एक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का पुरुषार्थ करना, वही जीव का एकमात्र कर्तव्य है।

'दृष्टि फिरा दे' अर्थात् मिथ्यादृष्टि का अभाव कर सम्यक् दृष्टि कर। यह जीव का प्रथम सम्यक् पुरुषार्थ है, धर्म की मूल नींव है। सत्य श्रद्धा होने पर उसमें स्थिर होना वही सम्यक् चारित्र है।

पंडितजी ने श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि निश्चयनय के विषयभूत त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का आश्रय से ही आत्मकल्याण होता है, और व्यवहारनय का विषय को हेय मानकर उसका आश्रय छोड़ना चाहिए। प्रत्येक शास्त्र का मर्म समझने की यह दिव्य दृष्टि उन्होंने अपने को दी है, अत: उनको अनेक धन्यवाद। ●●

जैनधर्म के प्रकाश स्तंभ : पंडित टोडरमलजी

श्री सूरजभान जैन 'प्रेम', आगरा

जन्मकाल :

प्रात: समरणीय पंडित टोडरमलजी का जन्म वि.सं. 1797 में जयपुर में गोदीका परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम जोगीदासजी और माता का नाम रम्भादेवी था। आज भी इनके वंशज श्री छगनलाल एवं श्री लादूलाल ढोलाका हैं। जयपुर नगर का निर्माण सं. 1784 में हुआ था, जयपुर के महाराजा जयसिंह की यह इच्छा थी कि मेरा जयपुर ऐसा सुंदर नगर बने जिसकी समानता का दूसरा नगर न हो। वास्तव में वह बनाया भी वैसा ही। आज भी यह नगर भारत का पेरिस कहलाता है। योजनाबद्ध चौड़ी-चौड़ी सड़कें, रास्ते, गलियाँ एक कतार में मकानों की चित्रकारी, दुकानें, चौपड़ आदि इस की शोभा को बढ़ा रहे हैं।

हर्ष है कि पंडित चैनसुखदासजी से प्रेरणा पाकर श्री पूरणचन्द गोदीका ने उनकी स्मृति को चिरस्थाई बनाने के लिए बापू नगर में टोडरमल स्मारक भवन का निर्माण कराया है, जिसका उद्घाटन संत प्रवर कानजीस्वामी के कर कमलों से होगा।

शिक्षा-दीक्षा :

पंडितजी की शिक्षा-दीक्षा के संबंध में विशेष जानकारी तो नहीं मिलती, परन्तु इतना अवश्य ज्ञात हो सका है कि इनके गुरु पंडित बंशीधरजी मैनपुरी निवासी थे। वह आगरा से आकर जयपुर में रहने लगे थे, और बालकों को शिक्षा देते थे। पंडित टोडरमलजी बाल्यकाल से ही प्रतिभा संपन्न थे। इसलिए विशेष अध्ययन और मनन के कारण उन्हें स्वयंबुद्ध कहा जा सकता है।

मिती फाल्गुन बदी 5 सं. 1811 में अर्थात् 14-15 वर्ष की अवस्था ही में अध्यात्म रसिक मुलतान के भाइयों के नाम लिखी इनकी सूक्ष्म विवेचना पूर्ण रहस्यमय चिट्ठी बताती है कि यह कितने शास्त्र-मर्मज्ञ और पारंगत विद्वान् थे। इसके पश्चात् पंडितजी ने तीन वर्ष में अर्थात् सं. 1815 तक गोम्मटसार की 38 हजार, लब्धिसार क्षपणासार की 13 हजार और त्रिलोकसार की 14 हजार कुल 65 हजार श्लोक प्रमाण टीका आजकल की नाबालिग अवस्था ही में कर डाली।

गौरव :

पंडिजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक लिखकर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में प्रकाश दिखाया। उसी तरह सत् पुरुष संत प्रवर श्री कानजीस्वामी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें लिखकर मुमुक्षु जीवों के हृदय पटल पर अनादि मिथ्यात्व के अंधकार में प्रकाश की किरणें बिखेर दी हैं। यह एक प्रसन्नता की बात

है कि कानजीस्वामी ने स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित ग्रंथों में अध्यात्म रस की धाराएं प्रवाहित की हैं। उनमें आनंद विभोर होकर मानव अपना कल्याण कर सकता है। आजकल पठन-पाठन, अध्ययन, मनन ही जीवों का संसार सागर से पार होने का सरल उपाय है।

प्रकाश :

पंडितजी के मानस से समुद्भूत मोक्षमार्ग प्रकाशक विश्व का उत्कृष्ट लोक कल्याणकारी साहित्य, अज्ञानतिमिर में खोए हुए संसारी जीवों के लिए प्रशस्त प्रकाशस्तम्भ (सर्च लाइट) है। जिसका प्रत्येक वाक्य मुक्तिपथ की दूरी बतानेवाला पत्थर (माइल स्टोन) है। जिसका अनुशीलन निश्चय मुक्ति धाम पहुँचा देता है। पंडितजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में कितना सुंदर मंगलाचरण किया है :- ''मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान, नमों ताहि जातें भये अरिहंतादि महान।'' वास्तव में इस मंगलाचरण के एक दोहे में ही कितना अमृत उडेला है कि वीतराग विज्ञानता की भावना और आध्यात्मिकता का श्रेय बताता है, यह अकथनीय है।

इतिहास :

पंडितजी का समय 1797 से 1824 तक है। अर्थात् 27 वर्ष की आयु में ही काल कराल के मुख में चले गए। इनके अल्प जीवनकाल में भी जयपुर गद्दी पर तीन राजाओं का शासन रहा। महाराजा जयसिंह का शासन काल सं. 1756 से 1800 तक रहा, तत्पश्चात् महाराजा ईश्वरी का शासनकाल सं. 1800 से 1809 तक रहा और उनके बाद माधोसिंह का शासनकाल सं. 1807 से 1824 तक रहा। इन तीनों महाराजाओं के शासनकाल में 31 दीवान रहे जिनमें 20 जैन थे। जिनमें दीवान रतनचन्दजी ने आमेर में एक विशाल जैन मंदिर का निर्माण कराया था, वह आज भी मौजूद है। मंदिर की जमीन उन्होंने रुपए बिछाकर ली थी।

दुखद निधन :

आपके दो पुत्र हुए बड़े हरिश्चन्द्र छोटे गुमानीराम। गुमानीराम पिता से भी अधिक क्रांतिकारी थे, यद्यपि पंडितजी भी क्रांतिकारी थे। उन्होंने पाखंड और शिथिलाचार के विरुद्ध धावा बोल दिया। इस आंदोलन से विरोधियों के छक्के छूट गए और वह बौखला उठे और बड़े-बड़े मठाधीशों के आसन डोल उठे। क्रियाकांडियों ने अपनी पोल चलती न देखकर बहुत षड्यंत्र रचे और पंडितजी की हत्या के कारण बने।●●

अलौकिक क्षयोपशमधारी आचार्यकल्प पूज्य पंडित टोडरमलजी

श्री सुगनचंद जैन, जयपुर

आज से लगभग 200 वर्ष पूर्व भारत के पेरिस नगर जयपुर में पूज्य पंडित टोडरमलजी एक विशिष्ट एवं अलौकिक ज्ञान के धारी अधिकारी विद्वान् हो गये हैं। पंडित आशाधारजी के पश्चात् यही एक ऐसे विद्वान् थे, जिन्हें विद्वत् समाज ने आचार्यकल्प की पदवी प्रदान की। इन्होंने 10-12 वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत, प्राकृत, गणित, छंद, न्याय, अलंकार आदि विषयों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यद्यपि उनके समय में जयपुर नगर विद्वत्ता का केंद्र था पर मल्लजी के ज्ञान का क्षयोपशम, विद्वत्ता, योग्यता, प्रतिभा एवं प्रभाव सर्वोपरि था। कठिन से कठिन सैद्धांतिक एवं आध्यात्मिक शंकाओं का जहाँ कहीं भी उत्तर नहीं मिलता था उनका सही, प्रामाणिक एवं आगमानुकूल समाधान पूज्य पंडितजी के पास था। यह बात उनकी रहस्यमय चिट्ठी से जो मुल्तानी भाइयों के शंका समाधान के लिए लिखी गई थी, सहज ही पता लगता है। जिस गोम्मटसार ग्रंथ का पठन-पाठन लगभग चार-पाँच सौ वर्ष से प्राय: बंद सा था[1], उसको मल्लजी ने अपनी विलक्षण बुद्धि से सहज ही हृदयंगम करा लिया था।

पूज्य पंडितजी के ज्ञान के क्षयोपशम के संबंध में एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा और वह यह कि उन्होंने बिना किसी से पढ़े कर्णाटक लिपि का अच्छा अभ्यास कर लिया था तथा जिन कर्णाटक ताड़पत्रीय 5-6 ग्रंथों को जयपुर के भाई मूडबिद्री की यात्रा से यहाँ ले आये थे, उनका मल्लजी अपनी शास्त्र सभा में अच्छी तरह से प्रवचन एवं उनकी व्याख्या भी करते थे। तत्कालीन विद्वान् साधर्मी भाई रायमल्लजी ने जयपुर में होनेवाली इन्द्र ध्वज पूजा के निमन्त्रणपत्र में पूज्य मल्लजी के संबंध में जो लिखा है, उसे मैं यहाँ ज्यों का त्यों पाठकों की जानकारी के लिए देता हूँ :-

'यहां घणा भायां और धणी बायां के व्याकरण व गोम्मटसारजी का चर्चा का ज्ञान पाइए है। सारा ही विषै भाई जी टोडरमलजी के ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है; जो गोम्मटसारादि ग्रंथ की सम्पूर्ण लाख श्लोक टीका बणाई, और पांच-सात ग्रंथा की टीका बणायवे का उपाय है। न्याय, व्याकरण, गणित, छंद, अलंकार का याके ज्ञान पाइए है। ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ईं काल विषैं होना दुर्लभ है। तातैं यासूं मिले सर्वसन्देह दूरि होय है। घणी लिखवा करि कहा, आपणां हेत का वांछीक पुरुष शीघ्र आय यासूं मिलाप करो।' इससे पता चलता है कि उस समय पूज्य मल्लजी के प्रति समाज में कितना आदर और श्रद्धा थी।

पूज्य मल्लजी की कुल ग्यारह रचनाएं उपलब्ध हैं। जिनमें सात टीका ग्रंथ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, आत्मानुशासन एवं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय एक

1. भाई रायमल्लजी लिखित स्वपरिचय

स्वतन्त्र ग्रंथ मोक्षमार्ग प्रकाशक, एक रहस्य चिट्ठी, एक अर्थ संदृष्टि जिसे गोम्मटसार की टीका का परिशिष्ट ही समझना चाहिए और एक गोम्मटसार पूजा।

मल्लजी जब गोम्मटसारादि महान ग्रंथों की टीका करने में लगे हुए थे, तब उनकी इस कार्य में तन्मयता तथा मन की एकाग्रता के बारे में कहा जाता है कि लगभग छह माह तक अलूना (अलोना) भोजन करते रहने पर भी उन्हें उसका भान तक नहीं हुआ। इससे पता लगता है कि वे अपने कार्य को कितनी लगन एवं निष्ठा से करते थे। इन विशाल टीकाओं में जो लौकिक एवं अलौकिक गणित का वर्णन किया गया है, वह उनके महान गणितज्ञ होने का परिचायक है। उनके इस गणित को समझने पर साधारण पढ़ा लिखा भी इन करणानुयोग के ग्रंथों में सहज ही प्रवेश कर सकता है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की टीका एवं मोक्षमार्ग प्रकाशक इन दो ग्रंथों को पूज्य मल्लजी अपने जीवन काल में पूरा नहीं कर सके क्योंकि बीच में ही सुकरात, ईसा तथा महात्मा गांधी की तरह उनके मानव शरीर का अंत कर दिया गया। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की टीका तो पद्मपुराण हरिवंश पुराण आदि ग्रंथों के सफल टीकाकार श्री पंडित दौलतरामजी (जो कि मल्लजी के समकालीन विद्वान् थे) ने पूरी कर दी पर मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ आज तक अधूरा ही पड़ा है। आज तक जैन समाज में ऐसा कोई समर्थ विद्वान नहीं हो पाया है जो इस अधूरे ग्रंथ को मल्लजी की तरह इतने प्रमेय के साथ पूरा कर सके। यद्यपि ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ने कुछ प्रयास कर इसे पूरा किया है जो कि सूरत से छप भी गया है पर मल्लजी की तरह न उसमें विषयों की गहनता है न इतना प्रमेय ही है जो जनसाधारण को ग्राह्य हो।

पूज्य पंडितश्री ने लगभग 50-60 वर्ष बाद काशी निवासी कविवर वृन्दावनदासजी ने पंडित जयचंदजी छाबड़ा जयपुर से इस अधूरे ग्रंथ मोक्षमार्ग प्रकाशक को पूरा करने का अनुरोध किया, तब पंडित जयचंदजी ने जिनने कई आध्यात्मिक एवं सैद्धांतिक ग्रंथों की सफल टीकाएँ की हैं, उनके पत्र के उत्तर में इस बात को स्पष्ट किया है कि टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक पूरण भया नहीं ताको पूरण करना योग्य है सो कोई मूल ग्रंथ की भाषा होइ तो पूरण करैं। उनकी बुद्धि बड़ी थी याते बिना मूल ग्रंथ के आश्रय उनने किया। हमारी एती बुद्धि नहीं, कैसे पूरण करैं[1]। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है उस समय के महान टीकाकार एवं विद्वान् भी अपने आप को स्वतंत्र रचना के अधिकारी नहीं मानते थे।

मल्लजी की जितनी भी टीका एवं स्वतंत्र ग्रंथ हैं, वे सब गद्य में ही हैं, पर इसका मतलब यह नहीं है कि उनमें कविता करने की शक्ति का अभाव था। उन्होंने ग्रंथ प्रशस्तियों तथा मंगलाचरण के रूप में जो पद्य लिखे हैं, वे बड़े ही महत्व के हैं, उनसे तथा गोम्मटसार की पूजा रचना से उनकी काव्य शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। लेकिन उन्होंने जन साधारण की हित की दृष्टि से गद्य में ही लिखना अधिक श्रेयस्कर समझा।

---

१. वृन्दावन विलास के अंत में

पूज्य पंडितजी ने अपने जीवन के अल्प काल में ही सैकड़ों सैद्धांतिक एवं आध्यात्मिक महान ग्रंथों का गहन, गंभीर एवं तलस्पर्शी अध्ययन किया था। उनके इस आलोडन से जो नवनीत निकला वह ही उनका यह स्वतंत्र ग्रंथ तत्कालीन प्रचलित भाषा ढूंढारी में लिखा मोक्षमार्ग प्रकाशक है। मल्लजी ने सरल देश भाषा में इस ग्रंथ का निर्माण कर हम जैसे अल्पज्ञों का, जो न संस्कृत प्राकृत आदि भाषाएँ जानते हैं और न जिन्हें व्याकरणादि का कुछ बोध है, महान उपकार किया है। मुमुक्षुओं के लिए यह अमृत है, जिसे बार-बार पान करने पर भी जी नहीं उकताता। खूबी यह है कि जितनी बार इसका स्वाध्याय किया जाता है, उतनी ही रुचि इसे पढ़ने की और होती है। जिससे आध्यात्मिक ज्ञान स्वत: ही स्पष्ट होकर संसार के दु:खों से छूटने के उपाय में यह जीव लग जाता है।

अश्रद्धा, अज्ञान एवं असंयम के कारण यह जीव अनादि काल से चतुर्गति रूप संसार में जन्म मरण करते भ्रमण कर रहा है। अनंतकाल तो नित्य निगोद में ही एक स्वास में 18 बार जन्म मरण करते व्यतीत होता है। तथा एकेन्द्रिय पर्याय में रहने का उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परावर्तन मात्र है। नित्य निगोद से निकलने के बाद त्रस पर्याय में रहने का उत्कृष्ट काल कुछ अधिक दो हजार सागर प्रमाण है, जिसमें भी मानव जीवन अत्यल्प है अर्थात् इतने समय में केवल 20-21 बार ही यह मानव शरीर मिलता है। यदि यह जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा संसार के दु:खों को दूर कर सच्चा निराकुल सुख प्राप्त नहीं करता है; तो नियम से इतर निगोद में जाना होता है। इससे पता चलता है कि मानव शरीर मिलना कितना दुर्लभ है। इस वर्तमान जीवन में संसार के दु:खों के अभाव के लिए यदि कुछ नहीं किया, अर्थात् सच्ची श्रद्धा प्राप्त न की तो ऐसा संयोग अनंत काल में भी मिलना मुश्किल है।

अंत में संसार से भयभीत हर मुमुक्षु से मेरा नम्र निवेदन है कि इस मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ का बार-बार स्वाध्याय करें तथा उसका गहन मनन एवं चिंतन करें जिससे अपने जीवन से धर्म का पाखंड एवं पोपडम दूर हो और निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति उसे हो सके। यदि बार-बार स्वाध्याय करने पर भी किसी कारणवश सच्ची श्रद्धा न हो सके तो इस भव में उसकी भूमिका ही तैयार कर लेवे ताकि दूसरे तीसरे भव में सम्यग्दर्शन सहज ही प्राप्त कर तथा संसार का अभाव कर पूर्ण वीतराग विज्ञानता अर्थात् निराकुल सुख मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान।।

(मंगलाचरण, मोक्षमार्ग प्रकाशक)

●●

जयपुर प्रदेश और नगर

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, एम.ए., एल-एल.बी., पी-एच.डी., लखनऊ

भारतीय संघ के राजस्थान 'राज्य' के उत्तर-पूर्वी कोण में फैला हुआ जयपुर प्रदेश प्राचीनकाल में मत्स्यदेश कहलाता था। महाभारत युग में इस देश का राजा विराट था और उसकी राजधानी वैराटपत्तन (वर्तमान बैराठ) थी। इसी राजा के आश्रय में द्रौपदी सहित पंचपाण्डवों ने अपने अज्ञातवास का वर्ष व्यतीत किया था और उसी की पुत्री उत्तरा के साथ अर्जुनपुत्र अभिमन्यु का विवाह हुआ था। उत्तरापुत्र परीक्षित ही युधिष्ठिर के पश्चात् हस्तिनापुर के कुरु राज्य का अधिपति हुआ। राजा विराट और उसकी राजधानी के नाम पर यह प्रदेश विराट या वैराट देश भी कहलाया। किंतु मत्स्य नाम ही अधिक रूढ़ और प्रचलित रहा, क्योंकि महावीर-बुद्धकाल (लगभग छठी शताब्दी ई.पू.) के षोडश महाजनपदों में इस मत्स्य या मच्छ जनपद का अपने निकट पड़ौसी शूरसेन (ब्रजमण्डल) के साथ उल्लेख हुआ है। चौथी शती ई.पू. के मध्य के लगभग मगध के नन्दवंशी सम्राट, संभवतया महापद्मनन्द, ने जिन क्षत्रिय राज्यवंशों का उच्छेद करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया था, उनमें से एक यह मत्स्य भी था। किंतु स्वतंत्र राज्यसत्ता समाप्त हो जाने पर भी इस प्रदेश एवं इसके मुख्य नगर बैराट का महत्त्व मौर्यकाल में भी बना रहा जैसा कि वहाँ से प्राप्त अशोककालीन शिलालेखों तथा अन्य पुरातत्त्व से विदित होता है। मौर्यों के उपरान्त यह भूभाग शनैः शनैः उपेक्षित एवं अवनत होता चला गया और लगभग एक सहस्र वर्ष पर्यन्त इसका इतिहास प्रायः अन्धकाराच्छन्न रहा। 10वीं से 12वीं शती ई० तक के राजपूत उत्थान युग में इसने फिर करवट ली और यहाँ छोटे-छोटे राजपूत सामन्तों की गढ़ियां बनने लगीं। संभवतया इसी काल में इस भूभाग का नाम ढूंढाहर या ढूंढाहड प्रचलित हुआ। इसी काल के उपरान्त देशी भाषाओं का भी विकास प्रारंभ हुआ और भाषा संबंधी एवं राजनीतिक दृष्टि से भी संपूर्ण राजस्थान (वर्तमान भौगोलिक सीमाओं के अनुसार) जिन तीन प्रमुख भागों - मेवाड़, मारवाड़ और ढूंढाहड - में बंटा हुआ रहता आया है; उनमें से ढूंढाहड प्रदेश में बोली जानेवाली देशभाषा ढुंढाहरा कहलाई जो हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण राजस्थानी रूप रही है।

10 वीं-12 वीं शती ई. में ढूंढाहड के थोड़ा दक्षिण पूर्व, ग्वालियर-नरवर प्रदेश में कच्छपघट नामक एक राज्य वंश की सत्ता रही पाई जाती है, जिसमें जैनधर्म की प्रवृत्ति रही प्रतीत होती है। इस वंश के महेन्द्रचन्द्र, वज्रदामन, विक्रमसिंह आदि नरेशों ने सोहनिया, दूबकुण्ड, नरवर, ग्वालियर में अनेक जिन मंदिरों एवं जिनबिंबों का निर्माण एवं प्रतिष्ठा कराई और शिलालेख अंकित कराये। 12 वीं शती के अंत के लगभग उक्त प्रदेश में इस राज्यवंश की सत्ता समाप्त प्रायः हो गई और 13 वीं शती के प्रथम पाद में तो उस पर दिल्ली के गुलामवंशी मुसलमान सुल्तानों का अधिकार हो गया था। संभवतया

इन परिस्थितियों में, 13 वीं शती में किसी समय, उक्त कच्छपटघट वंश के किसी व्यक्ति ने अपने कतिपय साथियों एवं अनुचरों के साथ ढूंढाहड प्रदेश में शरण ली और एक सुरम्य एवं सुरक्षित पहाड़ी पर अपनी गढ़ी बना ली। वही गढ़ी संभवतया कालांतर में आमेर दुर्ग के नाम से प्रसिद्ध हुई।[1] इसका उत्तरोत्तर निर्माण, संवर्द्धन और विकास होता गया और 16 वीं–17 वीं शती में तो यह राजस्थान का ही नहीं संपूर्ण भारतवर्ष के गणनीय सुदृढ़ दुर्गों एवं सुंदर नगरों में से एक था। जैन अभिलेखों में इस स्थान का उल्लेख आमेर, अंबावती, आम्रगढ़, अमरसर या अमरसरगढ़ आदि रूपों में हुआ और उनमें से सर्व प्राचीन उपलब्ध उल्लेख (आमरे नाम से ही) 1528 ई. का है।[2] मुसलमान इतिहासकारों ने अम्बर नाम से इस दुर्ग, नगर और राज्य या प्रदेश का भी उल्लेख किया है।

16 वीं शती के प्रारंभ तक आमेर के राजा, जो स्वयं को सूर्यवंशी, कूर्मवंशी और कच्छपवंशी भी कहते थे, लोक में कछवाहा नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे। इसी प्रदेश में सांगानेर (संग्रामपुर, सांगावती), चंपावती (चाकसू या चाटसू), तक्षकपुर (तक्षकगढ़ तोड़ागढ़, टोडा–रायसिंह), जोबनेर, झुंझुणपुर (झुंझणू), मोजमाबाद आदि कई अन्य प्रसिद्ध गढ़ एवं बस्तियां उदय में आ चुकी थीं जिनमें से सर्व प्राचीन उपलब्ध उल्लेख – 1459 एवं 1460 ई. के झूंझणू के हैं[3], चंपावती के 1525 ई. के[4] तथा तक्षकपुर या तोडागढ़ के उल्लेख भी काफी प्राचीन – 1546 और 1558 ई. के हैं।[5] इन सभी स्थानों पर छोटे–छोटे राजपूत सामंतों का अधिकार था और वक सब कछवाहा राजपूत भी नहीं थे, कोई सोलंकी था कोई कुछ और। आमेर का कछवाहा राजा भी उन्हीं में से एक था; किंतु शायद उन सबमें प्रमुख था। तथापि 16 वीं शती के मध्य तक भी पूरे अम्बर या ढूंढाहड देश पर उसका एकच्छत्र अधिकार नहीं हो पाया प्रतीत होता है। 13 वीं–14 वीं शती में तो यह राज्य–शक्ति इतनी तुच्छ थी या छोटे–छोटे टुकड़ों में बँटी थी कि दिल्ली के सुल्तानों इल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद और फिरोज तुगलुक की दृष्टि ही उसकी ओर आकर्षित नहीं हुई। 15वीं–16वीं शती में उसकी शक्ति और संघटन कुछ बढ़े तो दिल्ली के सैयद और उनके बाद लोदी सुल्तानों का एक ओर से, मालवा के

---

1. देखिए – ज्यो. पृ. जैन, भारतीय इतिहास : एक वृद्धि, द्वि, सं., पृष्ठ 176।
   (सं. नोट – जयपुर में प्राप्त विवरण के आधार पर कछावा वंश के ढूंढाहड में आनेवाले प्रथम राजा सोढदेवजी थे जिनका कि राज्यकाल सन् 966 से 1063 तक माना गया है। जिस पहाड़ी को सर्व प्रथम अपनी गढ़ी बनाया वह दौसा या खोह थी – आमेर में तो 11 वीं शती में राजा कांकिलजी आये और 12–13 वीं शती में यह कछाहा वंश की राजधानी बनी।
   –भंवरलाल न्यायतीर्थ)
2. राजस्थान के जैन शास्त्रों की ग्रं. सू. द्वि.भा., पृ. 394 नं0 2620
3. बी. पी. जोहरापुरकर, भट्टारक संप्रदाय, पृ. 100, 101
4. प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, पृ. ५५
5. भट्टा. संप्र., पृ. 104

सुल्तानों का दूसरी ओर से और स्वयं राजस्थान में मेवाड़ के राणाओं का तीसरी ओर से उस पर निरंतर दबाव बढ़ रहा था। ये शक्तियाँ उसके क्षेत्र और ठिकानों को यथावसर दबोचते रहते थे और आमेर के राजा को अपना-अपना अनुगत बनाने की फिक्र में लगे रहते थे। ऐसी परिस्थिति में 16वीं शती के उत्तरार्ध में दिल्ली में मुगल बादशाह अकबर का शासन जमते ही, 1562 ई. में ही, अम्बर के छहवाहा राजा भारमल (बिहारीमल) ने मुगल सम्राट से अजमेर में भेंट की, उससे मैत्री की याचना की और अपनी पुत्री भी उसके साथ विवाह दी। इस नवोदित मुगल साम्राज्य के साथ इस प्रकार का गठबंधन करने से यह कछवाहा राजा यद्यपि अन्य राजपूत नरेशों के कोप एवं घृणा का भाजन तो बना, उसने अपने वंश और राज्य को उन्नमति, समृद्धि एवं स्थायित्व को अद्वितीय रूप से सुरक्षित कर लिया।

मत्स्य अथवा वैराट देश का जैनों से संबंध तो प्राचीन काल से ही रहता आया था, जैसा कि बैराठ आदि से प्राप्त प्राचीन जैन अभिलेखों एवं भग्नावेशों से सूचित होता है, किन्तु मध्यकाल में आमेर के कछवाहा राजपूतों के शासन में तो यह एक प्रांत महत्वपूर्ण जैन केंद्र बन गया और इसमें आमेर की भट्टारकीय गद्दी का भी पर्याप्त योगदान रहा।

मूलनंदि संघ-बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छ-कुंदकुंदान्वय का उत्तर भारत में प्रधान पीठ आचार्य प्रभाचंद्र प्रथम (14वीं शती) से लेकर जिनचंद्र (1450-1514 ई.) के समय तक दिल्ली में रहा। जिनचंद्र लोदीवंशी सुल्तानों बुहलुल एवं सिकंदर के समकालीन थे। बुहलुल तो खैर ठीक था किंतु सिकंदर लोदी (1489-1517 ई.) बड़ा कट्टर, असहिष्णु एवं परधर्म विद्वेषी था। शायद इसी कारण भ. जिनचंद्र अपने अंतिम वर्षों में प्राय: राजस्थान की ओर ही रहे और अपने अंतकाल में उन्होंने अपने पट्टधर, अभिनव प्रभाचंद्र को यह परामर्श दिया कि अपने पट्ट को दिल्ली से स्थानांतरित करके चित्तोड़ ले जायें जहाँ जैनधर्म से सहानुभूति रखनेवाले शक्तिशाली सिसौदिया राणा लोग उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे थे और दिल्ली के सुल्तानों के लिये भारी सिरदर्द बन रहे थे। अस्तु, 1514 ई. के लगभग पट्ट चित्तौड़ में स्थापित हुआ। 1524 ई. में मंडलाचार्य धर्मचंद्र चित्तौड़ पट्ट पर बैठे। उनके समय (1524-1554 ई.) में रत्नकीर्ति ने नागौर में शाखापट्ट स्थापित किया। ऐसा लगता है कि चित्तौड़ पट्ट के भट्टारक इस युग में राजस्थान के विभिन्न राज्यों में अपना संगठन करने में जोर-शोर से जुटे थे। धर्मचंद्र के पट्टधर ललितकीर्ति (1555-1570 ई.) के समय में, 1567 ई. में, चित्तौड़ पर मुगल सम्राट अकबर का भीषण आक्रमण हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप उस सुप्रसिद्ध प्राचीन दुर्ग का विध्वंस हुआ और उसके खंडहरों पर मुसलमानों का अधिकार हुआ। शायद इस आक्रमण के समय अथवा उसका आभास पाकर उसके कुछ पूर्व ही ललितकीर्ति ने पट्ट को चित्तौड़ से स्थानांतरित करके आमेर में स्थापित किया, और इस समय से आमेर ही इस उत्तर भारत के प्रमुख दिगम्बर भट्टारकीय पट्ट का प्रधान

केंद्र हुआ। स्पष्ट ही है कि यह चुनाव अत्यन्त युक्तियुक्त एवं समयोपयुक्त था। मुगल सम्राटों की मैत्री एवं प्रश्रय का पूर्ण लाभ उठाकर वह नगर और उसका राज्यवंश उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर भली प्रकार आरूढ हो चुका था। इस वंश के राजाओं का कुलधर्म यद्यपि शैव धर्म बन चुका था, तथापि जैनधर्म और जैनों के प्रति वे प्राय: सदैव अत्यन्त सहिष्णु रहे और उन्होंने इस धर्म और इसके अनुयायियों के फलने-फूलने में सदैव सहायता ही दी, बाधा प्राय: कभी नहीं दी। इस राज्य के निवासी जैनों ने भी अपनी व्यापार एवं व्यवसाय कुशलता तथा अपनी शासन पटुता के कारण जहां राज्य में तथा उसके उच्चवर्गों में अपने लिये ऊँचा स्थान बनाया वहाँ उनमें से धर्मभक्त धनी श्रावकों ने अनगिनत सुंदर जिनालयों एवं चैत्यालयों आदि से उसके नगरों और ग्रामों को समलंकृत किया, उनके साधुओं, भट्टारकों और यतियों ने अपने अनुयायियों की दानशीलता को प्रोत्साहित करके लोकहित के प्रभूत कार्य उनसे कराये तथा जनता के चरित्र एवं धर्मभाव की वृद्धि में प्रोत्साहन दिया और उनके विद्वानों - शास्त्रज्ञों, साहित्यकारों और कवियों ने सैकड़ों विविध विषयक ग्रंथ रचकर, ग्रंथों की सहस्रों प्रतिलिपियाँ कराकर, दर्जनों शास्त्र भंडार स्थापित करके, शास्त्र चर्चा, स्वाध्याय एवं सार्वजनीन शिक्षा को प्रोत्साहन देकर राज्य की अद्वितीय सांस्कृतिक अभिवृद्धि की और ढूंढाहरी भाषा को तो एक सशक्त एवं समृद्ध साहित्यिक तथा वैज्ञानिक भाषा बना दिया। राज्य के विभिन्न जैन शास्त्र भंडारों में संगृहीत विविध विषयक सहस्रों हस्तलिखित ग्रंथों की लेखक, प्रतिलिपिकार, दाता आदि प्रशस्तियों के अध्ययन से न केवल इस प्रदेश के उत्तर मध्यकालीन जैन इतिहास का ही समुचित निर्माण हो सकता है वरन् उसके सामान्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक इतिहास की जानकारी के लिए भी वे अमूल्य साधन हैं।[1]

इन्हीं प्रशस्तियों आदि से 16 वीं शती ई. में सर्व प्रथम उल्लेख 1538 ई. का कछवाहा नरेश करमचंद का मिलता है। तदनंतर सूर्यमल (राव सूजाजी)[2] की ज्ञात तिथियाँ 1545 और 1553 ई. हैं। उसके पश्चात् भारमल राजा हुआ, जिसका छोटा भाई राव चतुर्भुज था। भारमल की तिथियाँ 1554 से 1570 ई. तक पाई जाती हैं। यही अकबर का श्वसुर बना था और इसी के समय में भट्टारकीय पट्ट चित्तौड़ से स्थानांतरित होकर आमेर में स्थापित हुआ। उसका पुत्र भगवंतदास (भगवानदास) सम्राट अकबर का साला, मित्र प्रमुख अमात्य एवं दरबारी तथा उसके नवरत्नों में से एक था। इस राजा की तिथियाँ 1574 से 1584 ई. तक मिलती हैं, किंतु इसके पुत्र मानसिंह को 1588 में युवराज तथा 589 ई. में महाराजकुमार कहा है तथा 1603 ई. के लेख में महाराज कहा गया। और इसी रूप में 1611 तक

1. देखिए श्री महावीरजी शोध संस्थान जयपुर द्वारा प्रकाशित तथा डा. कस्तूरचंद कासलीवाल द्वारा संपादित विभिन्न प्रशस्ति संग्रह, ग्रन्थ सूचियां आदि।
2. करमचंद और सूर्यमल आमेर की गद्दी पर नहीं बैठे। - सं. भंवरलाल
(भगवानदास का राज्यकाल सन् 1574 से 1590 तथा मानसिंह का 1590 से 1614 तक था।- संपादक)

उसके उल्लेख बराबर मिलते हैं। महाराज मानसिंह, अकबर और जहांगीर का सर्वश्रेष्ठ सेनानी था, काबुल से बंगाल तक उन बादशाहों की विजय दुन्दुभि बजाने में उनका परम सहायक था, बंगाल आदि कई सूबों का वह राज्यपाल भी रहा। उसी के साथ अम्बर राज्य के अनेक जैन व्यापारी एवं राज्यकर्मचारी शायद सर्व प्रथम बंगाल पहुंचे और वहाँ अकबरपुर, राजमहल आदि में उन्होंने इस राजा के आश्रय में अपने अनेक धर्म कार्य किये। मानसिंह के उत्तराधिकारी का इन लेखों में अभी कोई उल्लेख नहीं मिला। तदनंतर मिर्जा राजा जयसिंह शारजहाँ का दाहिना था और प्रधान सेनापति रहा और उसके बाद औरंगजेब के राज्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में भी उसने अपना पद और मान पूर्ववत् बनाये रखा। दिल्ली में जयसिंहपुरा नामक उपनगर भी इसी राजा ने बसाया था। और संभव है कि अपनी राजधानी आमेर के निकट भी जयपुर नाम का एक उपनगर बसाने का उसका विचार रहा हो और उस दिशा में उसने कोई ठोस कदम भी उठाया हो, क्योंकि जयपुर का सर्वप्रथम उल्लेख 1663 ई. की एक प्रशस्ति में मिला बताया जाता है।[1]

इस राजा के उल्लेख 1628 से 1663 ई. तक के तो मिलते ही हैं। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज रामसिंह के उल्लेख 1667 से 1684 ई. तक के मिले हैं। इसका उत्तराधिकारी बिसनसिंह था, जिसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी सवाई राजा जयसिंह (1701-1743 ई.) था, जिसके उल्लेख 1714 से 1742 ई. तक के मिले हैं।

इस राजा ने औरंगजेब की नीति की विफलता और उसकी मृत्यु के उपरांत मुगलों के साम्राज्य, शान्ति, प्रताप एवं वैभव का द्रुत वेग से होता पतन देखा। उसने मारवाड़ और मेवाड़ के तत्कालीन नरेशों के साथ मिलकर संपूर्ण राजस्थान को एक ऐसा सुदृढ़ राजनीतिक संगठन बनाने की योजना कार्यान्वित की कि जो दिल्ली के बादशाहों की नीति एवं लिप्सा से ही राजस्थान की रक्षा न कर सके वरन् दिल्ली की अवनति से उसे पूरी तरह लाभान्वित भी कर सके। इन तीनों राजाओं ने मिलकर बादशाहों के संकटों की ओर से उपेक्षा बरती, दिल्ली में होनेवाले नित्य नये सिंहासन संघर्षों, षडयंत्रों और राजहत्याओं को होने दिया, उसे नादिरशाह दुर्रानी तथा अहमदशाह अब्दाली जैसे लुटेरों से तथा मरहठों, जाटों, सहेलों आदि से भी जीभर लुटने दिया। वे तो दूर अपनी राजधानियों में बैठे मात्र तमाशाई बने रहे और स्वयं अपने-अपने राज्यों की शक्ति, समृद्धि और सौन्दर्य को बढ़ाने में जुटे रहे।[2] विशेषकर सवाई जयसिंह के विषय में यह बात पूर्णतया लागू होती है। यह राजा बुद्धिमान, विद्या एवं कलारसिक, विविध विषयपटु,

---

1. आमेर शा.भ. की सूची, पृ. 94 (सं. नोट - मूलप्रति के देखने से ज्ञात हुआ कि प्रशस्ति में जयपुर का नाम नहीं है - चम्पावती का नाम है जहां लिपि हुई थी। सूची में गलत छप गया है। सं. 1784 में जयपुर की नींव लगी थी-देखो नाथावतों का इतिहास, पृ. 169। - भंवरलाल)
2. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ. 562-563

विद्वान्, भारी निर्माता, सहिष्णु, गुण ग्राहक एवं प्रजावत्सल शासक था। कई नगरों में उसने अभूतपूर्व वेधशालाएँ बनवाईं और ज्योतिष शास्त्र विषयक महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की, अनेक विद्वानों को आश्रय दिया तथा अपने राज्य में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को पूर्ण सुरक्षा एवं धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की। कर्नल टाड ने अपने ग्रंथ 'राजस्थान' में तो यह भी लिखा है कि इस राजा को जैनधर्म के सिद्धांतों एवं इतिहास का अच्छा ज्ञान था और उनकी विद्याबुद्धि के कारण भी वह जैनों का काफी सम्मान एवं आदर करता था। इस राजा की ज्योतिष विषयक गवेषणाओं में भी उसका प्रधान सहायक विद्याधर नाम का एक जैन विद्वान ही था।[1]

सवाई राजा जयसिंह की सर्वोत्तम उपलब्धि जयपुर नगर का निर्माण था। इसका वास्तविक संस्थापक यही नरेश था। टाड के अनुसार सम्पूर्ण भारतवर्ष में यही एक ऐसा नगर था जो सुविचारित उत्तम योजना के अनुसार निर्मित हुआ था और उसकी यह अभूतपूर्व योजना भी उपरोक्त जैन विद्वान् विद्याधर की ही प्रतिभा का परिणाम थी–वही उसका मुख्य अभियंता था।[2] अपनी योजना, सौंदर्य, मंदिरों, राजप्रसादों, अन्य भवनों, चौपड़ के बाजारों, उद्यानों आदि के कारण यह नगर राजस्थान में तो शीर्षस्थानीय हुआ हो, संपूर्ण भारत के भी सुंदरतम नगरों में परिगणित हुआ, कतिपय विदेशियों ने तो उसे भारत का पेरिस कहा। जैन लेखों में इस नगर के उल्लेख जयपुर, जयनगर, जैपुर, सवाई जयपुर, सवाई जयसिंह नगर आदि रूपों में प्राप्त होते हैं। प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार इस नगर की स्थापना 1727 ई. (वि.सं. 1784) में हुई, किंतु 1714 ई. के एक लेख में भी इसका नामोलेख मिलता बताया जाता है।[3] ऐसा लगता है कि 1663 ई. के लगभग मिर्जाराजा जयसिंह ने जिस उपनगर की नींव डाली थी उसी से प्रेरणा लेकर सिंहासनारूढ़ होते ही सवाई जयसिंह एक सुंदर, सुनियोजित एवं विशाल नगर को साकार करने के प्रयत्न में जुट गया और संभवतया 1714 ई. तक वह नगर जयपुर नाम से विख्यात हो चला था, उसके अधिकांश प्रासाद, बाजार आदि बन चुके थे, अच्छी बस्ती भी बस गई थी, तथा 1727 ई. में राजा ने अपनी ओर से उसका निर्माण कार्य समाप्त करके राजधानी भी आमेर से जयपुर में विधिवत स्थानांतरित कर दी थी। उसके उपरांत 1739 ई. से लेकर आगे प्राय: प्रत्येक वर्ष का जयपुर का कोई न कोई उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है। इसमें संदेह नहीं है कि जयपुर में बस्ती का प्रारंभ होने के साथ ही साथ जैनों ने उसमें बसना प्रारंभ कर दिया था, क्योंकि जैन सेठों साहूकारों, व्यापारियों एवं कलाकारों के अतिरिक्त अनेक जैन इस राजा के दीवान, सेनानी एवं उच्च पदस्थ तथा सामान्य कोटि के राजकर्मचारी भी थे। शनै: शनै: जैनों की संख्या, स्थिति और प्रभाव इस नगर में इतने हो गये कि

---

1. एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आव राजस्थान, पृ. 297 *2. वही*
3. आमेर शास्त्र भंडार सूची, पृ. 212 (सं. नोट – सन् 1714 की प्रति का लेख संदेहास्पद है – मूलप्रति देखनी चाहिए। 1714 में जगत्कीर्ति जिनका उल्लेख है – मौजूद ही नहीं थे। – भंवरलाल)

यह वस्तुत: एक प्रमुख जैननगरी ही बन गया और जैनों ने भी इस नगर की आर्थिक एवं सांस्कृतिक अभिवृद्धि में प्रभूत योगदान दिया।

सवाई जयसिंह के पश्चात् उसका पुत्र ईश्वरीसिंह राजा हुआ, जिसके उल्लेख 1743 से 1746 ई. तक मिलते हैं। यह राजा भी सज्जन था किंतु कतिपय गृहशत्रुओं के कुचक्र से उसके प्राण गये और उसका छोटा भाई माधवसिंह (माधोसिंह) राजा हुआ, शायद इस राज्यक्रांति में मरहठे भी सहायक हुए। माधवसिंह के उल्लेख 1751 से 1767 ई० तक के मिलते हैं। इस राजा का राज्यकाल जयपुर के जैन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त घटनापूर्ण रहा। इसी काल में तत्कालीन संपूर्ण जैन साहित्याकाश के ही नहीं, जयपुर राज्य के समस्त साहित्यिक इतिहास के भी सर्वाधिक जाज्वल्यमान नक्षत्र – प्रतिभामूर्ति आचार्यकल्प पंडित टोडरमल ने, जो आदर के साथ मात्र 'मल्लजी' भी कहलाते थे – इस भूमि को धन्य किया और कम से कम 1754 से 1767 ई. पर्यन्त लगभग 14 वर्ष जयपुर नगर में ही रहकर अपना विपुल एवं अत्यंत महत्त्वपूर्ण साहित्य रचा तथा धार्मिक क्षेत्र में इस प्रदेश के ही जैनों का नहीं उसके बाहर भी सफल नेतृत्व किया। इसी राजा के राज्यकाल एवं जीवन के अंतिम वर्ष, 1767 ई. के लगभग, संभवतया राजा की चारित्रिक दुर्बलता और शासन की शिथिलता के कारण उक्त महामना मनीषी (पं. टोडरमलजी) का असामयिक शोत्रनीय अंत भी हुआ। यह राजा कुछ विचित्र ढुलमुल प्रकृति का रहा प्रतीत होता है। उसके शासनकाल में राज्य के स्तंभ तथा महत्त्वपूर्ण नागरिक वर्ग, जैनों को दो या तीन बार सांपद्रायिक विद्वेषजन्य भीषण अत्याचार का शिकार होना पड़ा, और प्रत्येक बार उक्त अल्पाधिक अवधि की नादिरशाही के उपरांत उन्हें पूर्ववत् धार्मिक स्वतंत्रता एवं सुरक्षा के आश्वासन दिये गये, उन आश्वासनों को यथाशक्य कार्यान्वित करने का प्रयत्न भी किया गया। किंतु जो क्षति इन उपद्रवों के दौरान हो गई उसकी पूर्ति होना असंभव थी, जिसका सबसे बड़ा उदाहरण पंडित टोडरमलजी की निर्मम एवं अत्यंत गर्हित हत्या थी। 1761 ई. में जब पानीपत के ऐतिहासिक युद्ध क्षेत्र में मरहठों एवं अफगानों के बीच भारत तथा दिल्ली को अपंगु बादशाहत के भाग्य का निपटारा हो रहा था, माधवसिंह कछवाहा के जयपुर के सिरचढ़ा पुरोहित श्याम तिवाड़ी स्थानीय जैनों को सांप्रदायिक विद्वेष की भीषण आग में भस्म किये दे रहा था। लगभग डेढ़ वर्ष यह आतंक–अत्याचार पूर्ण श्याम गर्दी चली जिसके बाद राजा को सुमति आई, पश्चात्ताप हुआ, उस दुष्ट पुरोहित को अपमानित करके राज्य से निर्वासित किया गया और जैनों का समाधान करने के लिये राज्य की ओर से पूरे प्रयत्न किये गये। उनकी स्थिति प्राय: पूर्ववत् बना देने के प्रयास किये गये। इतना ही नहीं, इंद्रध्वज महोत्सव के नाम से एक ऐसे विशाल एवं वैभवपूर्ण सार्वजनिक धर्मोत्सव के मनाने में, जैसा कि उसकाल में तो अद्वितीय था ही शायद उसके भी सौ–दो सौ वर्ष आगे–पीछे अन्यत्र भी कहीं ही हुआ हो, राज्य की ओर से पूरा समर्थन, सहयोग एवं सहायता प्राप्त हुई। पंडित टोडरमलजी के परमभक्त साधर्मी भाई रायमल्लजी की एक

उपलब्ध चिट्ठी में इस उत्सव का सजीव वर्णन मिलता है। उसके उपरांत फिर कम से कम एक बार, और शायद दो बार, जैनों पर अत्याचार किया गया, जिनमें से एक की भेंट टोडरमलजी हुए। 1770 ई. रचित बखतरामसाह के 'बुद्धिविलास' तथा 1790 ई. में रचित थानसिंह के 'सुबुद्धिप्रकाश' नामक ग्रंथों में इन घटनाओं के पर्याप्त असंदिग्ध संकेत हैं। थानसिंह ने तो अपने ग्रंथ में प्रशस्तिरूप में स्वपरिचय देने के प्रसंग में सवाई जयसिंह द्वारा सुनियोजित ढंग से जयपुर नगर का निर्माण करने, उसको भव्य प्रासादों आदि से अलंकृत करने, उसमें जैनों के बसने बसाने, शासन की सुख शान्तिपूर्ण व्यवस्था, उसके उत्तराधिकारयों का संक्षिप्त विवरण, माधवसिंह के राज्यकाल की उपरोक्त दुर्घटनाओं आदि का भी अच्छा परिचय दे दिया है।

अनेक भाषा ग्रंथों के रचयिता एवं अनेक संस्कृत ग्रंथों के टीकाकार पंडित दौलतराम कासलीवाल (बसवा निवासी), पंडित भूधरदास (आगरा निवासी) आदि कई अन्य सुप्रसिद्ध जैन साहित्यकार भी राजा माधवसिंह के समय में विद्यमान थे और बालचंद छाबड़ा आदि कई जैन दीवान भी इस राजा के रहे। माधवसिंह के पश्चात् पृथ्वीसिंह राजा हुआ जिसकी तिथियाँ 1768 से 1777 ई. तक मिलती हैं। उसके अनुज एवं उत्तराधिकारी प्रतापसिंह की तिथियाँ 1780 से 1790 ई. तक मिलती हैं। तदनंतर जगतसिंह, सवाई मानसिंह, सवाई रामसिंह, सवाई प्रतापसिंह आदि राजा जयपुर में क्रमशः हुए। इनमें से सवाई प्रतापसिंह के समय 1857 ई. का भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप भारत में ब्रिटिश शासन भली प्रकार जम गया; और अन्य देशी राजा नवाबों की भाँति जयपुर के राजे भी नाममात्र के राजे रह गये। इस घटना के उपरांत जयपुर में जैनों की संख्या, स्थिति, धर्मायतन आदि तो प्रायः पूर्ववत् ही रहे, किंतु उनके धार्मिक एवं अनेक अंशों में सामाजिक जीवन में भी एक प्रकार की शिथिलता आ गई। पिछले सवा सौ-डेढ़ सौ वर्ष के बीच जो विपुल साहित्य रचा जा चुका था; और जो अनेक दिग्गज विद्वान् एवं साहित्यकार इस राज्य में हो चुके थे, उनकी परंपरा समाप्त प्रायः हो गई। अब इस दिशा में जो कुछ दीख पड़ा रहा है, वह वर्तमान शताब्दी को नवजागृति का परिणाम है, सो भी 1947 ई. में देश को स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त और अधिक परिलक्षित हो रहा है। ●●

पंडित सदासुखजी कासलीवाल एक परिचय

श्री चिरंजीलाल जैनदर्शनाचार्य

19 वीं शताब्दी के जैन साहित्य सेवियों में पंडित सदासुखजी कासलीवाल का नाम विशेषतय: उल्लेखनीय है। आपका जन्म सं. 1852 के लगभग जयपुर में डेडराज के वंश में हुआ। आपके पिता का नाम दुलीचंद तथा गोत्र कासलीवाल था। इस समय भी आपके मकान में डेडी को का चैत्यालय अवस्थित है। अर्थ प्रकाशिका में स्वयं आपने अपने संबंध में निम्न प्रकार से उल्लेख किया है —

डेडराज के वंश माहि, इक किंचित ज्ञाता।
दुलीचंद का पुत्र, काशलीवाल विख्याता।।
नाम सदासुख कहे, आत्म सुख का बहु इच्छुक।
सो जिनवाणी प्रसाद, विषय ते भए निरिच्छुक।।

आपके बाल्यजीवन की घटनाओं का कोई परिचय नहीं मिलता है। किंतु इतना अवश्य है कि आप बचपन से ही जिनवाणी के पठन-पाठन में विशेष रुचि रखते थे। आप सरल चित्त वृत्ति के थे। सेवा भाव आपका स्वभाव बन गया था। आध्यात्मिक एवं सैद्धांतिक चर्चाओं में अपना समय आप अधिक व्यतीत करते थे। आप पर आपके गुरु पंडित मुन्नालालजी सांगा का तथा उनके गुरु पंडितप्रवर श्री जयचंदजी छाबड़ा के विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा था। इसी कारण आपके पूर्वज बीस पंथ के अनुयायी होते हुए भी आपने तेरह पंथ आम्नाय को ही अपनाया। आपने भट्टारकों द्वारा प्रचारित शिथिलचार का डटकर विरोध किया, जिसका कि वर्णन हमें उनकी रत्नकरण्ड श्रावकाचार की विस्तृत टीका में जगह-जगह मिलता है।

आप पूर्ण संतोषी थे। अर्थोपार्जन के पीछे कभी नहीं पड़ते थे जो कुछ आपको मिलता था, उसमें अपना तथा अपने परिवार का निर्वाह कर लेते थे। एक किंवदंती के अनुसार जब महाराज माधोसिंहजी ने अपनी तनख्वाह बढ़ाने के लिए कहा तो आपने उनसे यही निवेदन किया कि महाराज आप मेरी तनख्वाह न बढ़ाकर आप मुझे 1-2 घण्टे पहले जाने दें, जिसमें मैं अपनी आत्मसाधना आदि कर सकूं। इस बात को सुनकर महाराज भी आश्चर्य करने लगे तथा उनसे कहा कि अब आप दो घंटे पहले जा सकते हैं तथा आपकी तनख्वाह भी बढ़ा दी जाती है।

आप प्रतिदिन प्रात: बड़े मंदिर तथा मारूजी के मंदिर में तथा सायं छोटे दीवानजी के मंदिर स्वाध्याय एवं शास्त्र प्रवचन करते थे। आपकी भाषण शैली इतनी सरल एवं मृदु होती थी कि श्रोतागण आपके प्रवचन को मंत्रमुग्ध की तरह श्रवण करते थे। यदि कोई शंका करता तो आप उसका समाधान इस प्रकार करते थे कि प्रश्नकर्त्ता पुन: उस प्रश्न के प्रति शंका करने की आवश्यकता नहीं समझता था।

आपके अनेक शिष्य थे और वे आपकी प्रेरणा तथा अध्ययन अध्यापन की सुविधा से सुयोग्य विद्वान् बने। उनमें प्रमुख पंडित पन्नालालजी संघी, नाथूलालजी दोसी, पंडित पारसदासजी निगोत्या तथा सेठ श्री मूलचंदजी सोनी के नाम उल्लेखनीय हैं।

आपके संबंध में पंडित पारसदासजी निगोत्या ने अपनी ज्ञान सूर्योदय नाटक की टीका में जो उल्लेख किया है, वह निम्न प्रकार है।

लौकिक प्रवीना तेरह पंथ मांही लीना
मिथ्या बुद्धि करि छीना जिन आतम गुण चीना है।।
पढै ओ पढावे मिथ्या अलट कूं कढावे।
ज्ञान दान देय जिन मारग बढावे है।।
दीसै घरवासी रहे घर हूँ तैं उदासी।
जिन मारग प्रकासी जाकी कीरती जगभासी है।।
कहां लौ कही जे गुण सागर सदासुख जू के।
ज्ञानामृत पीव बहु मिथ्या तिसनासी है।।
जिनवर प्रणीत जिन आगम में समदृष्टि।
जाको जस गावत अघावत नहीं सृष्टि है।।
संशय तम भान संतोष सर मान रहै।
सांचो निजपर स्वरूप भाषत अभीष्ट है।।
ज्ञान दान बढत अमोघ छ पहर जाके।
आसा की वासना मिटाई गुण इष्ट तें।।
सुखिया सदीव रहै ऐसे गुण दुर्लभ मिले।
पारस आजमाई सदा सुख जू परिदिष्टि तें।।

उपरोक्त पद्य से हमें पंडितजी के संपूर्ण जीवन की झाँकी मिलती है।

वस्तुत: पंडितजी जैसे विद्वान उस समय बहुत कम थे। आपका संपूर्ण जीवन समाज सेवा, ग्रंथ रचना आदि में व्यतीत हुआ। किंतु विशेषता जो आपने प्राकृत व संस्कृत ग्रंथों की भाषा टीका के रूप में समाज को अमूल्य निधि प्रदान की उसके लिए सारा समाज आपके प्रति सदा उपकृत रहेगा। आपने भगवती आराधना, तत्वार्थसूत्र लघु टीका, नाटक समयसार, अकलंक स्तोत्र, मृत्यु महोत्सव, रत्नकरण्ड श्रावकाचार अर्थ प्रकाशिका और नित्य नियम पूजा संस्कृत आदि की भाषा टीकाएँ की हैं। इनमें तत्त्वार्थसूत्र की अर्थ प्रकाशिका टीका, रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा वचनिका, भगवती आराधना

की भाषा टीका आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी ग्रंथ आपकी गंभीर विद्वत्ता की ओर संकेत करते हैं।

पंडितजी का जीवन सं. 1921 तक सुख एवं शांति के साथ व्यतीत हुआ किंतु दैव को यह सदा के लिए मंजूर नहीं था। उनके 20 साल का इकलौते पुत्र श्री गणेशीलाल का असमय में ही निधन हो गया। उन्होंने अपने इस पुत्र को सब प्रकार से योग्य एवं विद्वान बना दिया था। तथा परिवार का भार भी उसके कन्धे पर डालना चाहते थे तथा आप गृह के सब कामों से निवृत होकर समाज एवं साहित्य सेवा में शेष जीवन बिताना चाहते थे कि अचानक दैव ने ऐसा वज्रपहार किया कि वे उसे सह न सके। उनका चित्त उचाट सा रहने लगा कि इस बीच अजमेर निवासी सेठ मूलचंदजी ने आपको सांत्वना दी तथा अपने साथ अजमेर ले गये। वहाँ वे अपना समय स्वाध्याय एवं साहित्य रचना में व्यतीत करने लगे।

जब आपको अपना अंत समय निकट दिखाई दिया तो अपने शिष्य पंडित पन्नालाल संघी व भंवरलालजी सेठी को अजमेर बुलाकर कहा कि मैंने तथा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों ने जो साहित्य सृजन किया है, उसका अभी देश देशांतर में यथेष्ट रूप से प्रचार नहीं हुआ है, तुम इस कार्य को आगे बढ़ाना तथा प्राकृत संस्कृत के अध्ययन एवं अध्यापन के लिए एक पाठशाला की सथापना करना। इस कार्य के लिए मैं तुम्हें सर्वथा योग्य एवं उपयुक्त समझता हूँ।

अंत समय में आपने समाधिपूर्वक अपनी देह का त्याग किया। पंडित सदासुखजी आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के अत्यधिक प्रशंसक थे और उन्हीं के जीवन एवं साहित्य से सदा प्रेरणा लिया करते थे। टोडरमल द्विशताब्दी समारोह पर मैं इन सभी विद्वानों का हृदय से अभिनंदन करता हूँ। ●●

मोक्षमार्ग के लिए पुरुषार्थ

श्री बंशीधर शास्त्री, एम.ए.

आत्म-तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार करनेवाला दर्शन आत्मा के सुख प्राप्ति के मार्ग का ऊहापोह अवश्य करता है। वह ऊहापोह सत्य एवं सुख की ओर ले जाता है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर उस ऊहापोह के अनुसार चलनेवाले दे सकते हैं या उनके जाननेवाले ही दे सकते हैं।

जैनदर्शन भी आत्म-तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार करता है एवं उक्त मान्यतानुसार आत्मा को किस प्रकार सुख मिले, इस पर बहुत विचार किया गया है। जैनाचार्यों ने सांसारिक सुख को कभी नहीं माना क्योंकि वह सुख शाश्वत रहनेवाला नहीं है, वह कर्मोदय से प्राप्त होता है, तथा संबंधित कर्म के अंत के साथ उस सुख का अंत हो जाता है और उस सुख के समय भी दुख का भय, ईर्ष्या असुरक्षा आदि के कारण दुखानुभूति चलती ही रहती है। अत: वह सुख, सुख नहीं अपितु सुखाभास ही है। अत: आत्मा का असली सुख क्या है, यह हमें सर्व प्रथम विचार करना है।

आत्मा का अपना स्वरूप ज्ञानमात्र है। उस सर्व उपाधि रहित ज्ञान की प्राप्ति हो जाना ही असली सुख है। सर्व उपाधि रहित ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद राग-द्वेष-मोहादि विभाग परिणति के लिए कोई स्थान नहीं रहता। मोहादि विभाग परिणति से ही मोहनीय, दर्शनीय ज्ञानावरणीयादि कर्मों की स्थिति बनती है, अन्यथा नहीं। एक बार विभाग परिणति के पूर्णत: अभाव हो जाने के बाद स्वभाव की प्राप्ति हो जाने से विभाव परिणति का हमेशा के लिए अंत हो जाता है।

आत्मा का असली सुख स्वभाव की प्राप्ति कैसे हो, यह विचारणीय है।

संसारी जीव सांसारिक सुखों कर्मजनित साता को सामग्री से प्राप्त सुखों को ही सुख मान लेते हैं किंतु ये वास्तविक सुख नहीं हैं। सुख तो वह है जहाँ आकुलता का सर्वथा व सर्वथा के लिए अभाव हो। उदाहरण के लिए लोक में पहला सुख निरोगी काया को मानते हैं किंतु इस 'काया' के अनुभवी जानते हैं कि यह क्षण या निमिष मात्र में कितने रूप बदल देती है, बीमार हो जाना या दुर्घटना में शरीर का विकृत हो जाना बहुत साधारण सी बात है, फिर ये सब चाहे नहीं हो किंतु मृत्यु तो अवश्यभावी है जिसके आविर्भाव होने पर सोने सी काया को 'मिट्टी' तुल्य ही समझा जाता है, चाहे वह शरीरधारी कितना ही प्रिय क्यों न रहा हो। इसी प्रकार संसार की जितनी सामग्री को सुख या दुखकारक समझा जाता है, वह सब इस शरीर के नाते को लेकर है अन्यथा उन पदार्थों में सुख दुख नहीं है। दूध कभी अमृत का काम करता है किंतु वही दूध अपाचन की स्थिति में विष का काम करता है। शीत ऋतु में ग्रीष्म ऋतु के साधन शरीर को अनुकूल नहीं लगते, इसी प्रकार गर्मी के ठंड के उपकरण पंखे आदि सर्दी

में कोई पसंद नहीं करता है। बाहरी सामग्री हमारी इच्छा के अनुकूल उपलब्ध हो या न हो यह आवश्यक नहीं है फिर हम सांसारिक तथाकथित सुख को सुख नहीं मान सकते हैं। यदि इसे ही सुख मानने की गलती कर बैठें तो असली सुख की ओर हम आकृष्ट ही नहीं होंगे। उदाहरणार्थ यदि हम देव गति के सुखों को सुख मान लें और उसके कारणभूत शुभोपयोग को धर्म मान लें तो हम आत्मिक सुख एवं शुद्धोपयोग को जानने का कष्ट भी नहीं करेंगे किंतु इसका परिणाम स्पष्ट है।

''क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोके विशन्ति'' शुभोपयोगजनित कर्म के उदय से प्राप्त सामग्री नियत अवधि के लिए प्राप्त है फिर उसका संबंध विच्छेद होना ही है। ऐसी स्थिति में संसार के किसी भी सुख को 'सुख' मान लेना नितांत भ्रम है। हाँ यह अवश्य है कि उस समय संसार के अन्य दुखों की कमी रहती है, वह दुखों की कमी ही हमें सुख का महससू कराती है किंतु दुख विद्यमान अवश्य रहते हैं।

संसार के परपदार्थ हमें सुख-दुख नहीं कराते और न हमारा ज्ञान भाव ही दुख कराता है। हमारी मोह परिणति ही है जो हमें परपदार्थों में ममकार, या द्वेषबुद्धि या हितबुद्धि उपजाती है। परपदार्थ हमेशा रहते हैं किन्तु ाानी उनको परपदार्थ जानकर उनके प्रति न ममत्व करता है और न द्वेष करता है, जबकि अज्ञानी परपदार्थों को मोहवश अपने सुख दुघ्ख का निमित्त मानकर आकुल होता रहता है। वह आकुलता अपनी कषाय परिणति के अनुसार तीव्र-मंद होती रहती है। आकुलता की कमी या सर्वथा अभाव को ही सुख मानना श्रेयस्कर है; किंतु आकुलता का सर्वथा अभाव संसार की पर्याय में उपलब्ध नहीं है, हाँ उसकी कमी के स्तर में फर्क पड़ता रहता है। आकुलता की कमी के मापदंड से ही गुणस्थानों का स्तर निश्चित होता है न कि बाहरी वेशभूषा से। आन्तरिक निर्मलता के बिना आकुलता में कमी होना संभव नहीं है। बाहरी वेशभूषा का तभी महत्त्व है जबकि तदनुरूप अन्तरंग परिणति हो, अन्यथा वह बाहरी वेशभूषा भांड की तरह कोई भी अपना सकता है। जैसे भांड कोई भी वेश धारण कर सकता है, वह कभी राजा, कभी भिखारी का स्वांग धारण कर सकता है किंतु जाननेवाले जानते हैं कि वह न राजा है और न भिखारी। किंतु जो उसके बाह्य वेश को ही सब कुछ मानते हैं, वे उसे राजा मानकर विनय कर सकते हैं और भिखारी समझकर भिक्षा भी दे सकते हैं, और उसे उनकी भावनानुसार न माननेवालों को यद्वा तद्वा लिख सकते हैं किंतु इसमें उनके अज्ञान ही का दोष मानना चाहिए। ऐसे अज्ञानियों के लिए ज्ञानी यही भावना करता है कि उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो जिससे वे भांड के वास्तविक स्वरूप को जान सकें।

अब प्रश्न होता है कि आकुलता की कमी या अभाव कैसे हो? कोई कह सकता है कि क्रियाकांड करने से हो जायेगी? आचार्य कहते हैं कि क्रियाकांड से आकुलता का अभाव नहीं हो जायेगा।

कोई कहता है कि भवितव्यता जब होगी तब मोक्ष का उपाय बनेगा उसके लिए पुरुषार्थ क्या करना? क्योंकि काललब्धि के बिना तो मोक्ष की प्राप्ति का उपाय बनेगा नहीं।

जो व्यक्ति सम्यक् श्रद्धा एवं विवेकपूर्वक भवितव्यता पर विश्वास करता है, वह यह भी मानता है कि परपदार्थ का परिणमन अपनी परिणति के अनुसार होता है, उसका कर्ता अन्य पदार्थ नहीं होता। तब वह परपदार्थों में राग-द्वेष की बुद्धि नहीं करता है और जो ऐसी बुद्धि नहीं करता वही मोक्ष प्राप्ति के लिए उसका सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। जब ऐसा पुरुषार्थ बनेगा तब भवितव्यता भी वैसी ही बन जायेगी और उसे ही काललब्धि कहेंगे। जो राग-द्वेष की बुद्धि करता रहे और उसमें अपना हित अहित मानता रहे फिर भवितव्यता की चर्चा करे, वह अपने आपको धोखा देता है।

वस्तुत: जो द्रव्य की पर्याय की क्रमबद्धता में विश्वास करता है, वही मोक्ष का सही उपाय-आकुलता की कमी एवं क्रमश: अभाव कर सकता है। उसे परपदार्थों के संयोग वियोग से सुख दुख की अनुभूति नहीं होगी, वह अपने आपको अपने परिणामों का ही कर्ता मानेगा और जब अपने ज्ञान को ही अपना स्वभाव मानकर अपना हितकारक मानेगा तो रागद्वेषादि विभाव परिणति में सुख क्यों मानेगा? क्या ऐसा होना संभव है?

हाँ, अवश्य। जो भी मोक्ष की प्राप्ति में सफल हुए हैं, उन सबने अपने आपको अपने भावों का ही कर्ता माना है न कि परपदार्थों का। परपदार्थों को अपने से सर्वथा भिन्न माननेवाला उनकी परिणति को उनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार करता है, इसलिए वह उनकी परिणति में राग-द्वेष का अनुभव नहीं करता और न आकुलता का ही अनुभव करता है।

जो व्यक्ति वस्तु के परिणमन में क्रम-बद्धता स्वीकार नहीं करता है, वह कर्तृत्व बुद्धि एवं राग-द्वेष बुद्धि से छूट नहीं सकता और उसका परिणाम संसार परिभ्रमण ही है। अत: मोक्ष प्राप्ति के लिए सबसे प्रथम पुरुषार्थ है, वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन में विश्वास होना एवं तदनुरूप आचरण करना।

कोई जीव क्रमबद्धता के सिद्धांत का सांसारिक स्वेच्छाचार के लिए दुरुपयोग कर सकता है और यह मानकर विषय भोगों में लीन हो सकता है कि जब मोक्ष जाना होगा तब जाऊंगा फिर सांसारिक भोगों को क्यों छोडूँ? ऐसे व्यक्ति के लिए यही कहा जा सकता है कि उसने क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धांत को समझा ही नहीं और उसे संसार में भटकना है।

इस प्रकार के दुरुपयोग के कारण क्या इस सिद्धांत को छोड़ देना चाहिए? नहीं। यदि कोई मुनि बनकर भी मुनित्व के नियमों की खुल्लमखुल्ला अवहेलना करता है तो क्या इससे मुनिमार्ग त्याज्य हो गया? नहीं, कभी नहीं। ऐसा व्यक्ति अपना ही अहित करता है, इसी प्रकार क्रमबद्ध पर्याय सिद्धांत का सांसारिक दुरुपयोग करनेवाला अपना अकल्याण करता है।

मोक्ष के लिए उपाय तो द्रव्यलिंगी साधु भी करता है फिर उसे मोक्ष की प्राप्ति क्यों नहीं होती? उसका समाधान इस प्रकार है – वह पुरुषार्थ अपने लक्ष्य मोक्ष के लिए नहीं कर रहा है। वह तपश्चरणादि व्यवहार साधन से अनुरागी होकर प्रवृत्त होता है, उसका फल शास्त्र में तो शुभबन्ध कहा गया है। और वह उससे मोक्ष चाहता है तो यह कैसे हो? यह भ्रम है। यह भ्रम सच्चे उपदेश द्वारा निर्णय करने से हो सकता है किंतु यह जीव निर्णय नहीं कर पाता।

कुछ लोग मानते हैं कि द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म और भावकर्म के उदय से द्रव्यकर्म और यह परंपरा अनादि काल से चली आती है फिर मोक्ष कैसे हो?

द्रव्य–कर्म के उदय काल में तदनुरूप ही भावकर्म हो ऐसा नहीं है। उनकी तीव्र मन्द अवस्था होती रहती है। कोई जीव चाहे तो कर्म की मन्द अवस्था में अपना कल्याण कर सकता है। जैसे कोई नदी के तीव्र प्रवाह में बह रहा हो किंतु कहीं पानी के प्रवाह की तेजी में कमी आवे, उस समय साहस करे तो कहीं स्थिर होकर बाहर निकल सकता है। उसी प्रकार कर्म की विभिन्न प्रकृतियों के मंद उदय काल में जीव अपने आपको सम्हाल सकता है और आत्मतत्त्व का निर्णय कर कल्याण मार्ग की ओर प्रवृत्त हो सकता है। दूसरा कोई उसे मोक्ष की ओर प्रवृत्त नहीं करा सकता। हाँ, जब वह मोक्ष की ओर प्रवृत्त हो तब देव, शास्त्र, गुरु आदि निमित्त अवश्य मिलते हैं।

आत्म कल्याण के लिए परमुखापेक्षी न बनकर स्वोन्मुख होकर उसी में लीन होना सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन की दृढ़ श्रद्धा एवं ज्ञान के बल पर ही साधा जा सकता है। ऐसे पुरुषार्थ का उपदेश देनेवाले भी हमारी श्रद्धा के पात्र हैं क्योंकि अभी हमारे में बहुत कमियाँ हैं।

बहुरि आश्रव तत्त्व विषै जे हिंसादि रूप पापाश्रव हैं, तिनको हेय जानै है। अहिंसादि रूप पुण्य आस्रव हैं, तिनको उपादेय मानै है। सो ए तो दोऊ ही कर्म बन्ध के कारण, इन विषै उपादेयपनों माननों सोई मिथ्यादृष्टि है।

– मोक्षमार्ग प्रकाशक

पंडित टोडरमलजी के समय में जैन दीवान

श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ

जयपुर में ही नहीं जयपुर से पूर्व आमेर में भी उसके निर्माणकाल से ही इस प्रान्त के शासक कछाहा वंश के साथ जैनों का निकट संपर्क रहा है और शासन-संचालन में उनका प्रमुख हाथ रहा है। पचासों जैन दीवान इस काल में हुए हैं, जिनमें अनेक ऐसे हैं जिन्होंने कई महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, जिनके लिए जयपुर राजवंश एवं यहाँ की जनता सदा ऋणी रहेगी। मुस्लिमकाल में भी मुगलकालीन शासकों ने आमेर-जयपुर की ओर कुदृष्टि से देखा तो जैन वीरों ने उनके दाँत खट्टे कर अपने देश को उनके चंगुल से छुड़ाया है। देश प्रेम के एक नहीं अनेक उदाहरण जैन वीरों के इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। मुगलकाल में ही क्यों अंग्रेजों के आगमन पर भी देश प्रेमी जैन दीवानों ने अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार नहीं होने देने के प्रयत्न में ही यातनाएँ झेली हैं और शहीद हुए हैं। देश के प्रति वफादारी की उनकी मिसालें बेजोड़ हैं।

जहाँ एक ओर शासन संचालन के द्वारा जैनों ने देश सेवा की है तो दूसरी ओर महान् साहित्य-सेवा का व्रत लेकर जो अपूर्व कार्य इस प्रान्त के साहित्यकारों ने किया है - उससे यह प्रान्त ही नहीं सारा भारत उपकृत है। माँ भारत की अर्चना में सतत अध्यवसाय द्वारा जो अपरिमित साहित्य देश को दिया है - वह महान है। इसमें जैन दीवानों की प्रेरणा और उनका सहयोग भी महत्वपूर्ण रहा है। साहित्य के प्रचार एवं संरक्षण में भी अपूर्व योग उनका था।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी का समय 1797 से 1824 तक माना गया है। इस काल में जयपुर में तीन राजा हुए। संवत् 1756 से 1800 तक जयपुर निर्माता सवाई जयसिंह का शासनकाल था, 1800 से 1807 तक ईसरीसिंहजी का और तत्पश्चात् चैत्र कृष्णा तृतीया वि.सं. 1824 तक माधोसिंहजी का समय था।

इस 27 वर्ष के समय में जयपुर में 31 दीवानों का उल्लेख मिलता है, जिनमें 9 जैन थे। एक ही समय में कई दीवान हुआ करते थे जिनके अधिकार में विभिन्न कार्य थे। इन नौ दीवानों में दीवान रतनचन्द एवं दीवान बालचंद के अतिरिक्त शेष सात संभवत: बीसपंथ आम्नाय के माननेवाले थे - अत: संभव है वे पंडितजी के विशेष सहयोगी न रहे हों। भाई रायमलजी ने इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव की जो निमंत्रण पत्रिका लिखी है उसमें उक्त दो दीवानों को ही अग्रेसरी माना है, कारण कि यह उत्सव तेरापंथ आम्नाय के अनुसार था और उसके प्रमुख प्रबंधक दोनों दीवान थे। पर पत्रिका में उत्सव में लगनेवाले डेरों काा वर्णन करते हुए यह लेख 'तौं परैं सर्व दीवान मुतसद्यां का डेरा खड़ा होगा' स्पष्ट करता है कि सभी दीवान आदि उच्च पदाधिकारी इसमें सम्मिलित थे।

(1) दीवान रतनचंद - ये साहगोत्रीय सदारामजी के पुत्र थे, दीवानकाल सं. 1813 से 25 तक

था। हरिवंश पुराण की प्रशस्ति में 'रतनचंद दीवान एक भूपति के परधान' – पंक्ति द्वारा इनका उल्लेख मिलता है। पंडित देवीदास गोधा कृत सिद्धांतसार संग्रह की प्रशस्ति में टोडरमलजी के विशेष श्रोताओं में प्रथम दीवान रतनचंद को गिनाया है। संवत् 1821 की इन्द्रध्वज पूजा के निमंत्रण में इनके लिए लिखा है 'और दोन्यू दीवान रतनचंद व बालचंद या कार्य विषैं अग्रेसरी हैं।' इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि टोडरमलजी के साथ इनका विशेष संपर्क था – उनके कार्यों में इनका पूर्ण सहयोग था और धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। जयपुर आमेर में जो 1818 में राजगुरु बनकर श्यामराम[1] नामक ने उपद्रव मचाया उसमें मंदिर नष्ट होने पर आपने आमेर में पुन: मंदिर बनाया। जयपुर में शुद्धाम्नाय का पंचायती मंदिर दीवान बधीचंदजी का है – वह भी आपने बनाया था – नाम आके अपने बड़े भाई बधीचंदजी का रखा जिनकी प्रेरणा से दौलतरामजी ने हरिवंश पुराण की टीका की थी।

(2) दीवान बालचंदजी छाबड़ा – मंत्रित्व काल विक्रम संवत् 1818 से 1829 तक। यह ऐसे समय में दीवान बने जब जयपुर का वातावरण क्षुब्ध था, और सांप्रदायिक तत्त्वों ने उभरकर जन जीवन को दूभर कर दिया था। धर्मायतन और उनके माननेवाले परेशान थे। सं. 1818 के उपद्रव द्वारा जो मंदिरों की क्षति हुई, उसकी पूर्ति आपके प्रयत्नों से हुई। 1819 के मगसिर कृष्णा 2 का जयपुर दरबार की ओर से 33 परगनों के नाम लिखा गया आदेश पत्र कि – 'देहरा बनाओ व देव गुरु शास्त्र आगे पूजै छा जीं भांति पूजो, धर्म में कोई तरह को अटकाव न राखे, माल मालियत वगैरह देवरा को ले गया होय सो ताकीद कर दिबा दीज्यो' – अपने आप में पुन: स्थापना का प्रमाण है। इसके पश्चात् कई मंदिर बने – उत्सव हुए तथा 1821 में इन्द्रध्वज महोत्सव हुआ और उसमें राज्य की पूर्ण सहायता प्राप्त हुई – यह सब दीवान बालचन्दजी का प्रभाव था। मगर कलुषित विचारवालों को यह सह्य नहीं हुआ।[2] राजा को बहकाया गया और उनका कोप भाजन बने हमारे चरित्र नायक टोडरमलजी जो धार्मिक असहिष्णुतिां की बलिवेदी पर अपने प्राण न्योछावर कर अमर शहीद बन गये। राजनीतिक शहीद बहुत सुने हैं, पर शुद्ध साहित्यिक व्यक्ति भी जब जबर्दस्त क्रांति मचाते हैं तो उन्हें यह महान पद मिल ही जाता है। स्वनामधन्य पंडित टोडरमलजी ने क्रांति का जो शंखनाद फूंका वह आज भी गूंज रहा है।

उक्त घटना दीवान बालचंदजी से छिपाकर ही हुई है। अन्यथा आप ऐसा नहीं होने देते। बुद्धि विलास में जो 'पलमांहि' शब्द का प्रयोग है, वह बताता है कि इसकी कानों कान भी खबर नहीं होने दी और तुरत ही सारा कार्य हुआ। अस्तु। पुन: निर्माण का कार्य और भी जोरों से होने लगा और व्रत विधान उत्सव होने लगे। सं० 1826 में माधोपुर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई। जलेतनों को फिर सह्य नहीं हुआ और सं. 1826 में फिर लूट-खसोट हुई।[3]

---

1. देखिए बुद्धि विलास (मुद्रित), पृ. 151

2-3. देखिए बुद्धि विलास, पृ. 153

(3) दीवान केसरीसिंहजी – सं. 1813 से 1817 दीवान रहे। जयपुर में संगमरमर का दर्शनीय कलापूर्ण जो सिरमौरियों का मंदिर है, वह आप ही का बनाया हुआ है। सं. 1817 में इसकी नींव लगी थी। ये बड़े धर्मात्मा थे और राजा के विश्वास-पात्र थे।

(4) दीवान कन्हीराम वैद – दीवान काल 1807 से 1820। जयपुर से दक्षिण की ओर स्थित कठमाना ग्राम के ये निवासी थे। इनके भाई वगैरह का बंश कठमाना है एक जैन मंदिर भी इनने या इनके भाई ने वहाँ बनवाया था। जयपुर में भी इन्होंने एक मंदिर बनाया है।

(5) दीवान फतहराम – दीवान काल 1790-1813 ये राव कृपारामजी के भाई थे।

(6) दीवान भगतराम – दीवान काल 1972-1800 ये भी राव कृपारामजी के भाई थे। राव कृपारामजी जयपुर के मुगल दरबार में वकील व जयपुर के दीवान थे। वे जयपुर के प्रख्यात प्रतिष्ठित सज्जन थे।

(7) दीवान आरतराम खिन्दूका – दीवान काल 1814 से 1835 मू.। जयपुर प्रान्त के नेवटा के रहनेवाले थे। इनका बनाया वहाँ मंदिर भी है, जयपुर में जितने खिन्दूका (पाटनी गोत्र) हैं, वे सभी प्राय: नेवटा के हैं।

(8) दीवान नन्दलाल गोधा – दीवान काल 1823-28 तक। ये मोजमाबाद के प्रसिद्ध मंदिर निर्माणकर्ता नानू गोधा के वंशज थे और सं. 1826 में माधोपुर में विशाल प्रतिष्ठा कराई थी।

(9) दीवान नैनसुख खिन्दूका – दीवान काल 1814-35 मुसरफों के चौक में इनके वंशज रहते हैं।

उक्त नौ दीवानों में दीवान रतनचंदजी एवं बालचंदजी ही पंडित टोडरमलजी के प्रधान सहयोगी थे। अन्य दीवानों की कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। ●●

पंडित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी

श्री कीतिचंद्र जैनदर्शनाचार्य

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी की 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' प्रथम कृति है जो विक्रम संवत् 1811 की फाल्गुन वदि पंचमी को मुलतान के अध्यात्मरस के रोचक खानचंदजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी सिद्धारथजी आदि अन्य साधर्मी भाईयों को उनके प्रश्नों के उत्तर में लिखी गई थी। इस चिट्ठी से पंडित टोडरमलजी का सिद्धांत ज्ञान व विनयशीलता का स्पष्ट पता लगता है। पत्रगत शिष्टाचार सूचक वाक्य ''तुम्हारे चिदानंदघन के अनुभव से सहजानंद की वृद्धि चाहिए'' इस चिट्ठी में लिखा गया है कि वह पंडितजी की आंतरिक भद्रता तथा वात्सल्य का द्योतक है।

पंडित टोडरमलजी राजस्थान के हिन्दी साहित्य के दिगम्बर जैन विद्वानों में और गद्य लेखकों में प्रथम कोटि के विद्वान् थे। आप में विद्वत्ता, विनम्रता, कोमलता, सादगी, सदाचारिता आदि गुणों का अनुपम संगम था। आपके साहित्य में पूर्ण रूप से इन गुणों की छाया है। खासतौर से रहस्यपूर्ण चिट्ठी में तो इनकी छाप स्पष्ट है। यह चिट्ठी अपने आप में एक शास्त्र है। इसमें गूढ व आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर बहुत ही सरल व समझाने की दृष्टि से दिया गया है। कितने ही स्थानों पर अच्छे लौकिक उदाहरण देकर प्रश्नों की गूढ़ता को सरल कर दिया है।

एक प्रश्न के उत्तर में बड़ा ही अच्छा उदाहरण देकर सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि के भेद को समझा दिया है। प्रश्न है ''जो शुभाशुभ रूप सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे पाइए।'' उत्तर उदाहरण में ही दिया है कि जैसे कोई गुमास्ता सेठ के लिए सारा काम काज करता है और उसे नफा नुकसान होने पर हर्ष और विषाद भी होता है। यह सब काम करते वक्त वह इस बात का विचार नहीं करता कि सेठजी यहाँ मौजूद नहीं हैं और स्वयं के कार्य के समान करता है, पर अन्तरंग में ऐसा मानता है कि यह कार्य वास्तव में मेरा नहीं है, अर्थात् पर का है; तो वह गुमास्ता सच्ची दृष्टि रखता है और यदि सेठ के व्यापार को वास्तव में अपना मानकर उसमें चोरी करता है तो वह गुमास्ता चोर ही है।

इसी तरह जो ज्ञानी पुरुष शरीरादिक की क्रियाओं में प्रवृत्तता हुआ भी उन क्रियाओं को आत्मा से भिन्न शरीर-क्रिया मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो व्रत संयमादि को भी आत्मा की क्रिया को अपना माने तो मिथ्यादृष्टि है।

इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों के उत्तर इस चिट्ठी में दिये गये हैं, जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण हैं। सभी प्रश्नों का उत्तर तत्त्वार्थसूत्र, समयसार, गोम्मटसार, अष्टसहस्री, आदि ग्रंथों के आधार पर दिये हैं। यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी वास्तव में रहस्यपूर्ण है; जिसमें गागर में सागर के समान जैन सिद्धांत के कुछ प्रश्नों का समाधान किया गया है। पाठकों के लाभार्थ यहाँ अविकल रूप से यह चिट्ठी दी जा रही है -

चिट्ठी

।।श्री।।

सिद्ध श्री मुलतान नग्र महाशुभस्थान विषैं, साधर्मी भाई अनेक उपमा योग्य अध्यात्मरस रोचक भाई श्री खानचंदजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथदासजी, अन्य सर्व साधर्मी योग लिखतं टोडरमल के श्री प्रमुख विनय शब्द अवधारना। यहां यथासंभव आनंद है तुम्हारे चिदानंदघन के अनुभव से सहजानंद की वृद्धि चाहिए।

अपरंच पत्र 1 तुम्हारो भाईजी श्री रामसिंघजी भुवानीदासजी को आया था जिसके समाचार जहानाबादतैं और साधर्म्मियों ने लिखे थे सो भाईजी ऐसे प्रश्न तुभ सारिषै ही लिखे। आज वर्तमान काल में अध्यात्म के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जे स्वात्मानुभवकी वार्ता भी करै हैं, सो ही कहा है :-

तत्प्रतिप्रीतचित्तेन, तस्य वार्तापि हि श्रुता।
निश्चित स भवेद् भव्यो, भावनिर्वाणभाजनं।।

अर्थ - जिहि जीव प्रसन्न चित्तकरि इस चेतनस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी सो जीव निश्चय कर भव्य है। अल्प काल विषैं मोक्ष का पात्र है। सो भाईजी तुम प्रश्न लिखे तिस कर मेरी बुद्धि अनुसार कछु लिखिए हैं सो जानना। और अध्यातम आगम की चर्चा गर्भित पत्र तो शीघ्र-शीघ्र देवौ करौ। मिलाप कभी होगा, तब होगा। अर निरन्तर स्वरूपानुभव में रहना। श्रीरस्तु।

अथ स्वानुभव दशा विषै प्रत्यक्ष परोक्षादिक प्रश्ननिके उत्तर बुद्धि अनुसार लिखिये हैं।

तहां प्रथम ही स्वानुभवका स्वरूप जानने निमित्त लिखै हैं।

जीव पदार्थ अनादितैं मिथ्यादृष्टी है सो आपापर के यथार्थरूप विपरीत श्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है। बहुरि जिस काल किसी जीवके दर्शन मोहके उपशम, क्षयोपशमतैं आपापरका यथार्थ श्रद्धानरूप तत्वार्थ श्रद्धान होय, तब जीव सम्यक्ती होय है। यातैं आपापरका श्रद्धान विषैं शुद्धात्म श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त गर्भित हैं। बहुरि जो आपापरका श्रद्धान नहीं है अर जिनमत विषैं कहे जे देव, गुरु, धर्म तिन ही कूं माने हैं, अन्य मत विषैं कहे देवादिक, वा तत्त्वादि तिनको नहीं माने हैं, तो ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त करि सम्यक्ती नाम पावे नाहीं। तातैं स्वपर भेदविज्ञानको लिये जो तत्वार्थ श्रद्धान होय सो सम्यक्त जानना।

बहुरि ऐसा सम्यक्ती होते संते जो ज्ञान पंचेन्द्री, छटा मन के द्वारा, क्षयोपशमरूप मिथ्यात्व दशा मैं कुमति, कुश्रुतिरूप होय रहा था सोई ज्ञान अब मति श्रुतियप सम्यग्ज्ञान भया। सम्यक्ती जेता कछ जाने सो जानना सर्व सम्यग्ज्ञान रूप है।

जो कदाचित् घट पटादिक पदार्थनकूं अयथार्थ भी जानें तो वह आवरण जनित उदयकौ अज्ञान भाव है सो क्षयोपशम रूप प्रकट ज्ञान है सो तौ सर्व सम्यग्ज्ञान ही है। जातै जानने विषैं विपरीत रूप पदार्थकौं न साधे है। सो यह सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानका अंश है। जैसे थोड़ासा मेघपटल विलय भये कछु प्रकाश प्रकटै है सो सर्व प्रकाशका अंश है।

जो ज्ञान मति श्रुतिरूप प्रवर्तै है सो ही ज्ञान बधिता बधिता केवलज्ञान रूप होय है। तातैं सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा तो जाति एक है। बहुरि इस सम्यक्ती के परिणाम विषैं सविकल्प तथा निर्विकल्परूप होय दो प्रकार प्रवर्तै तहां जो विषय कषायादिरूप वा पूजा, दान शास्त्राभ्यासादिक रूप प्रवर्तै है सो सविकल्परूप जानना। यहां प्रश्न :- जो शुभाशुभरूप सम्यक्तका अस्तित्व कैसे पाइए?

ताका समाधान - जैसे कोई गुमास्ता साहू के कार्य विषै प्रवर्तै है, उस कार्य को अपना भी कहै है हर्ष विषाद को भी पावै है, तिस कार्य विषै प्रवर्तै है, तहां अपनी और साहू की जुदाईकौं नाहीं विचारे है परन्तु अंतरंग श्रद्धान ऐसा है कि यह मेरा कारज नाहीं। ऐसा कार्यकर्त्ता गुमास्ता साहूकार है।

परन्तु साहू के धनकूं चुराय अपना मानै तो गुमास्ता चौर ही कहिए। तैसे कर्मोदयजनित शुभाशुभरूप कार्यकौ कर्त्ता हुआ तदरूप परणमै तथापि अन्तरंग ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नाहीं। जो शरीराश्रित व्रत संयमकौ भी अपना मानै तो मिथ्यादृष्टि होय। सो ऐसे सविकल्प परिणाम होंय है।

अब सविकल्प ही के द्वारकरि निर्विकल्प परिणाम होने का विधान कहिए है :-

सो सम्यक्ती कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होय है तहां प्रथम भेदविज्ञान स्वपर स्वरूप का करै, नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म रहित चैतन्य चित्त चमत्कार मात्र अपना स्वरूप जानै, पीछैं पर का भी विचार छूट जाय, केवल स्वात्मविचार ही रहे है। तहां अनेक प्रकार निजस्वरूप विषै अहंबुद्धि धारै है। मैं चिदानंद हूं, शुद्ध हूं, सिद्ध हूं, इत्यादिक विचार होते संते सहज ही आनंद तरंग उठै है, रोमांच होय है, ता पीछे ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्र स्वरूप भासने लागे। तहां सर्व परिणाम उस रूप विषै एकाग्र होय प्रवर्त्तैं। दर्शन ज्ञानादिकका वा नय प्रमाणादिकका भी विचार विलय जाय।

चैतन्य स्वरूप जो सविकल्प ताकरि निश्चय किया था तिस ही विषैं व्याप्य व्यापक रूप होय ऐसे प्रवर्त्तैं। जहां ध्याता ध्यायपनो दूर भयो सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है। सो बड़े नयचक्र विषै ऐसे ही कहा है :-

गाथा -

तच्चाणे सण काले समय बुज्झेहि जुत्ति मग्गेण।
णो आराहण समये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा।।1।।

अर्थ - तत्त्वका अवलोकनका जो काल ता विषै समय जो है शुद्धात्मा ताको जुत्ता जो नय प्रमाण ताकरि पहलै जानै। पीछें आराधन समय जो अनुभव काल, तिहि विषै नय प्रमाण नाहीं है। जातैं

प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे रत्न की खरीद विषैं अनेक विकल्प करै हैं, प्रत्यक्ष वाको पहरिये तब विकल्प नाहीं, पहिरने का सुख ही है। ऐसे सविकल्प के द्वारे निर्विकल्प अनुभव होय है।

बहुरि निर्विकल्प अनुभव विषैं जो ज्ञानपंचेन्द्री, छट्टा मनके द्वारे प्रवर्त्तै था सो ज्ञान सब तरफ सों सिमटकर केवल स्वरूप सन्मुख भया। जातैं वह ज्ञान क्षयोपशम रूप है सो एक काल विषै एक ज्ञेयही कौ जानै, सो ज्ञान स्वरूप जाननै कौ प्रवर्त्या, तब अनयका जानना सहजही रह गया। तहां ऐसी दशा भई जो बाह्य विकार होय तौ भी स्वरूप ध्यानीकौं कछु खबर नाहीं, ऐसे मतिज्ञान भी स्वरूप सन्मुख भया। बहुरि नयादिक के विचार मिटतै श्रुतज्ञान भी स्वरूप सन्मुख भया। ऐसा वर्णन समयसार की टीका आत्मख्याति विषै कि;या है तथा आत्मा अवलोकनादि विषै है, इस ही वास्तु निर्विकल्प अनुभवकों अतेन्द्रिय कहिए है, जातै इन्द्रीनकौ धर्मतौ यह है जो फरस, रस, गन्ध, वर्ण कौं जानै सो यहां नाहीं। अर मन का धर्म यह है जो अनेक विकल्प करे सो भी यही नाहीं, तातैं जब जो ज्ञान इन्द्री मन के द्वारैं प्रवर्त्तै था सो ही ज्ञान अनुभव विषै प्रवत्तै है तथापि ज्ञानको अतीन्द्रिय कहिये है। बहुरि इस स्वानुभव कौं मन द्वारे भी भया कहिये हैं इस अनुभव विषैं मतिज्ञान श्रुतज्ञान ही है, और कोई ज्ञान नहीं।

मतिश्रुत इन्द्री मन के अवलम्ब विना होय नाहीं सो इन्द्री मन का तौ अभाव ही है जातैं इन्द्रियका विषय मूर्तीक पदार्थ ही है। बहुरि यहां मतिज्ञान है जातैं मनका विषय मूर्तीक अमूर्तीक पदार्थ है, सो यहां मन सम्बन्धी परिणाम स्वरूप विषैं एकाग्र होय अन्य चिन्ता का निरोध करै है तातैं याकौं मन द्वारै कहिए है।

''एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्'' ऐसा ध्यान का भी लक्षण है, ऐसा अनुभव दशा विषै संभवै है। तथा नाटक के कवित्त विषै कहा है :-

दोहा -

वस्तु विचारत भावसें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादित सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम।।

ऐसे मन विना जुदा परिणाम स्वरूप विषै प्रवर्त्ता नाहीं तातैं स्वानुभवकौं मन जनित भी कहिए। सो अतेन्द्रीय कहने में अरु मन जनित कहने में कछु विरोध नहीं, विवक्षा भेद हैं।

बहुरि तुम लिख्या 'जो आत्मा अतेन्द्रिय है' सो अतेन्द्रिय ही कर ग्रहा जाय, सो भाईजी मन अमूर्तीक का भी ग्रहण करै हैं, जातैं मतिश्रुत ज्ञानका विषय सर्व द्रव्य कहै हैं। उक्तं च तत्वार्थसूत्रे -

'मश्रुतियोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।'

बहुरि तुमने ''प्रत्यक्ष परोक्षका प्रश्न लिख्या'' सो भाईजी, प्रत्यक्ष परोक्ष के तौ भेद हैं नाहीं। चौथे गुणस्थान में सिद्ध समान क्षायक सम्यक्त्व हो जाये है, तातैं सम्यक्त तौ केवल यथार्थ श्रद्धानरूप

ही है, वह जीव शुभाशुभ कार्यकर्त्ता भी रहै हैं तातैं तुमने जो लिख्या था कि 'निश्चय सम्यक्त प्रत्यक्ष है व्यवहार सम्यक्त परोक्ष है' सो ऐसा नाहीं है, सम्यक्त के तौतीन भेद हैं तहां उपशम सम्यक्त अरु क्षायक सम्यक्त तो निर्मल है, जातैं मिथ्यात्व के उदय इस सम्यक्त विषैं क्षयोपशम सम्यक्त समल है। बहुरि करि रहित हैं, अर प्रत्यक्ष परोक्ष भेद तौ नाहीं है।

क्षायक सम्यक्तकै शुभाशुभ प्रवर्तता वा स्वानुभवरूप प्रवर्तता सम्यक्त गुण तौ सामान्य ही है तातैं सम्यक्त के तौ प्रत्यक्ष परोक्ष भेद माना। बहुरि प्रमाण के प्रत्यक्ष परोक्ष भेद हैं सो प्रमाण सम्यग्ज्ञान है तातैं मतिज्ञान श्रुतज्ञान तौ परोक्ष प्रमाण हैं। अवधि मन:पर्यय केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

'आद्ये परोक्षं प्रत्यक्षमन्यत्'

ऐसा सूत्र कहा है तथा तर्कशात्र विषैं ऐसा लक्षण प्रत्यक्ष परोक्ष का कहा है :-

'स्पष्टप्रतिभासात्मकं प्रत्यक्षमस्पष्टं परोक्षं'

जो ज्ञान अपने विषयकौं निर्मलतारूप नीके जानै सो प्रत्यक्ष अर स्पष्ट नीकै न जानै सो परोक्ष, सो मतिाान श्रुतज्ञान का विषय तौ घना परन्तु एक ही ज्ञेयकौं सम्पूर्ण न जान सकै तातैं परोक्ष है। और अवधि मन:पर्यय के विषय थोरे हैं, तथापि अपने विषयकौं स्पष्ट नीके जानै तातैं एक देश प्रत्यक्ष है, अर केवल ज्ञान सर्व ज्ञेयकौं आप स्पष्ट जानैं तातैं सर्व प्रत्यक्ष है।

बहुरि प्रत्यक्ष के दोय भेद हैं? एक परमार्थ प्रत्यक्ष दूसरा व्यवहार प्रत्यक्ष है। सो अवधि मन:पर्यय केवल तौ स्पष्ट प्रतिभासरूप है ही तातैं पारमार्थिक हैं। बहुरी नेत्रादिकतैं वरणादिककौं जानिए है। तातैं इनकौं सांव्यवहारक प्रत्यक्ष कहिए, जानैं जो एक वस्तु में मिश्र अनेक वर्ण हैं ते नेत्र कर नीके ग्रहे जाय हैं।

बहुरि परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं - (1) स्मृति, (2) प्रत्यभिज्ञान, (3) तर्क, (4) अनुमान, (5) आगम।

तहां जो पूर्व वस्तु जानी कौं याद करि जानना सो स्मृति कहिये।

दृष्टांत कर वस्तु निश्चय कीजिये सो प्रत्यभिज्ञान कहिए।

हेतुके विचारतै लिया जो ज्ञान सो तर्क कहिए।
हेतुतैं साध्य वस्तुका जो ज्ञान सो अनुमान कहिए।
आगमतें जो ज्ञान होय सो आगम कहिए।।

मेरे प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण के भेद किये हैं सोई स्वानुभव दशा में जो आत्मा कौ जानिए सो श्रुतज्ञान कर जानिए है। श्रुतज्ञान सो मतिज्ञान पूर्वक ही हे, सो मतिज्ञान श्रुतज्ञान परोक्ष कहे तातैं यहां आत्मा का जानना प्रत्यक्ष नाहीं। बहुरि अवधि मन:पर्यय का विषय रूपी पदार्थ ही है अर केवल ज्ञान छद्मस्थ के है नाहीं तातैं अनुभव विषैं अवधि मन:पर्यय केवलकरि आत्मा का जानना नाहीं। बहुरि यहां

आत्माकूं स्पष्ट नीके जानैं हैं, तातैं पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तौ संभवै नाहीं, बहुरि जैसे नेत्रादिक जानिए हैं तातैं एक देश निर्मलता लिये भी आत्माकै असंख्यात प्रदेशादिक न जानिए है तातैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षपणे भी सम्भवै नाहीं।

यहां पर तौ आगम अनुमानादिक परोक्ष ज्ञानकरि आत्मा का अनुभव होय है। जैनागम विषै जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है ताकूं तैसा जान उस विषै परिणामों कौं मग्न करै है तातैं आगम परोक्ष प्रमाण कहिए, अथवा मैं आत्मा ही हूं तातैं मुझ विषै ज्ञान है। जहां जहां ज्ञान तहां तहां आत्मा है जैसे सिद्धादिक हैं। बहुरि जहां आत्मा नाहीं तहां ज्ञान भी नाहीं जैसे मृतक कलेवरादिक हैं। ऐसे अनुमान करि वसतु का निश्चय कर उस विषै परिणाम मगन करै है, तातैं अनुमान परोक्ष प्रमाण कहिए अथवा आगम अनुमानादिक कर जो वस्तु जानने मैं आया तिसहीकों याद रखकैं उस विषैं परिणाम मग्न करै है तातैं स्मृति कहिए। ऐसे इत्यादिक प्रकार स्वानुभव विषै परोक्ष प्रमाण कर ही आत्मा का जानना होय है, पाछै जो स्वरूप जाना तिस ही विषै परिणाम मग्न हो ताका कछू विषे जानपना होता नाहीं। बहुरि यहां प्रश्न:-

जो सविकल्प निर्विकल्प विषैं जानने का विशेष नाहीं तो अधिक आनंद कैसे होय है?

ताका समाधान - सविकल्प दशा विषै ज्ञान अनेक ज्ञेयकौ जाननेरूप प्रवर्तै था ते निर्विकल्प दशा विषैं केवल आत्मा को ही जानने में प्रवर्त्या, एक तो यह विशेषता है, दूसरी यह विशेषता है जो परिणाम नाना विकल्प विषैं परिणमैं था सो केवल स्वरूपही सौं तदात्मरूप होय प्रवर्त्या, तीजी यह विशेषता है कि इन दोनों विशेषताओं कोई होते वचनातीत अपूर्व आनंद होय है। जो विषय सेवन विषैं उसके अंश की भी जात नाहीं तातैं उस आनंदकौं अतेन्द्रिय कहिये। बहुरि यहां प्रश्न :-

जो अनुभव विषैं भी आत्मा सो परोक्ष ही है तौ ग्रन्थन विषै अनुभवकूं प्रत्यक्ष कैसे कहिए?

फपर की गाथा विषैं ही कहा है। 'पच्चाखां अणहधी जम्हा' ताका समाधान - अनुभव विषै आत्मा तौ परोक्ष ही है, कछु आतमा के प्रदेश आकार तौ भासते नाहीं परन्तु जो स्वरूप विषै परिणाम मग्न होते स्वानुभव भया, सो वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। स्वानुभव का स्वाद कछु आगम अनुमानादिक परोक्ष प्रमाणादिक कर न जानै है। आप ही अनुभव के रस स्वादकौं वेदै है। जैसे कोई आंधा पुरुष मिश्रीकौं आस्वादै है, तहां मिश्री के आकारादिक तो परोक्ष हैं, जो जिह्वाकरि जो स्वाद लिया है सो वह स्वाद प्रत्यक्ष है ऐसा जानना।

अथवा जो प्रत्यक्षकीसी नाईं होय तिसकौं भी प्रत्यक्ष कहिए। जैसे लोक विषै कहिये है - हमने स्वप्नविषैं वा ध्यान विष फलाने पुरुषकौ प्रत्यक्ष देखा, सो प्रत्यक्ष देखा नाहीं, परंतु प्रत्यक्षकीसी नाईं प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा तातैं प्रत्यक्ष कहिए। तैसे अनुभव विषै आत्मा प्रत्यक्षकी नाईं यथार्थ प्रतिभासै हैं तातैं इस न्याय करि आत्माका भी प्रत्यक्ष जानना होय है ऐसे कहिए है सो दौष नाहीं। कथन तो अनेक प्रकार होय है ऐसे कहिए है सो दौष नाहीं। कथन तो अनेक प्रकार होय परन्तु वह सर्व आगम अध्यात्म शास्त्रनसौं विरोध न होय तैसे विवक्षा भेद करि कथन जानना। यहाँ प्रश्न :-

जो ऐसे अनुभव कौन गुणस्थान में कहैं हैं?

ताका समाधान – चौथे ही से होय है परन्तु चौथैं तो बहुत कालके अन्तरालसैं होय है और ऊपरी के गुणठाने शीघ्र शीघ्र होय हैं। बहुरि प्रश्न :-

जो अनुभव तो निर्विकल्प है तहां ऊपर के और नीचे के गुणस्थाननि में भेद कहाँ?

ताका उत्तर – परिणमन की मग्नता विषैं विशेष है। जैसे दोय पुरुष नाम ले है अर दो ही का परिणाम नाम बिखैं है तहां एककै तो मग्नता विशेष है, अर एककैं स्तोक है तैसे जानना। बहुरि प्रश्न :-

जो निर्विकल्प अनुभव विषैं कोई विकल्प नाहीं तो शुक्लध्यान का प्रथम भेद प्रथक्त्ववितर्कवीचार कहा, तहां प्रथक्त्व वितर्कवीचार – नाना प्रकार श्रुत अर वीचार, अर्थ व्यंजन योग, संक्रमन ऐसे रूप क्यों कहा?

तिसका उत्तर :- कथन दोय प्रकार है – एक स्थूलरूप है, सूश्मरूप है। जैसे स्थूलता करि तो छटै ही गुणस्थानै सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत कहा, अर सूक्ष्मताकर नवमें गुणस्थान तांई मैथुनसंज्ञा कहाा यहां अनुभव विषैं निर्विकल्पता स्थूलरूप कहिये है। बहुरी सूक्ष्मता करि प्रक्त्ववितर्कवीचारादिक भेद वा कषायादी दशमा तांई कहैं हैं। सो अब आपके जानने में वा अनय के जानने में आवे ऐसा भाव का कथन सथूल जानना, अर जो आप भी न जानै केवली भगवान ही जाने सो ऐसे भाव का कथन सूक्ष्म जानना, अर करणानुयोगादिक विषैं सूक्ष्म कथन की मुख्यता है ऐसा भेद और भी ठिकानै जानना। ऐसे निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप जानना।

बहुरि भाईजी, तुम तीन दृष्टांत लिखे वा दृष्टांत विषैं लिखा प्रश्न सो दृष्टांत सर्वांग मिलता नाहीं। दृष्टांत है सो एक प्रयोजनकौं दिखावै है सो यहां द्वितीया का विधु (चन्द्रमा) जलविन्दु अग्निकिणका एतौ एकदेश है अर पूर्णमासी को चन्द्र महासागर अग्निकुंड ए सर्वदेश है। तैसे ही चौथे गुणस्थानवर्ती आत्माकों ज्ञानादिगुण एक-देश प्रकट भये हैं तिनकी अर तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा के ज्ञानादिक गुण सर्व प्रगट होंय है तिनकी एक जाति है। तहां तुम प्रश्न लिखा :-

जो एक जाति है जैसे केवली सर्व ज्ञेयकौं प्रत्यक्ष जाने हैं तैसे चौथे गुणस्थान वाला भी आत्माकों प्रत्यक्ष जानता होगा?

ताका उत्तर – सो भाईजी, प्रत्यक्षता की अपेक्षा एक जाति नाहीं सम्यगान की अपेक्षा एक जाति है। चौथेवाले के मति श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान है और तेरहवेंवाले के केवलरूप सम्यग्ज्ञान है, बहुरि एकदेश सर्वदेश का तौ अन्तर इतना ही है जो मति श्रुतवाला अमूर्तिक वस्तुकौ अप्रत्यक्ष अमूर्तिक वस्तुकौ भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष किंचित् अनुक्रमसौं जाने है। अर सर्वथा सर्वकौ केवलज्ञानी युगपत् जाने हैं, वह परोक्ष जानैं यह अप्रत्यक्ष जानै, इतना विशेष है अर सर्व प्रकार एक ही जाति कहिए तो जैसे

केवली युगपत् अप्रत्यक्ष अप्रयोजन ज्ञेयकौं निर्विकल्परूप जानै तैसे ए भी जाने सो तौहै नाहीं, तातैं प्रत्यक्ष परोक्ष में विशेष जानना कह्या है।

उक्तं च अष्टसहस्री मध्ये-श्लोक-

स्याद्वादकेवलज्ञाने र्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदसाक्षादसाक्षाच्च बह्यवस्तुत..... भवेत्।।

याका अर्थ - स्याद्वाद जो श्रुतज्ञान अर केवलज्ञान ये दोय सर्व तत्वन के ..... हैं विशेष इतना-केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, श्रुतज्ञान परोक्ष है। वस्तु रूप से यह दोनों एक दूसरे से भिन्न नाहीं है। बहुरि तुम निश्चय सम्यक्त का स्वरूप अर व्यवहार सम्यक्त का स्वरूप लिख्या?

सो सत्य है, परंतु इतना जानना, सम्यक्तीकै व्यवहार सम्यक्त विषै निश्चय सम्यक्त गर्भित है सदैव गमनरूप है। बहुरि लिखी साधर्मी कहै हैं आत्मा को प्रत्यक्ष जानै तो कर्म वर्गणा को प्रत्यक्ष क्यों न जानै?

सो कहिए है आत्माकौं प्रत्यक्ष तौ ही केवली जानैं कर्मवर्गणाकौं अवधिज्ञानी भी जानै है। बहुरि तुम लिखा-

द्वितीया के चन्द्रमा की ज्यौं आत्मा के प्रदेश थोरे खुले कहा? ताका उत्तर -

यह दृष्टांत प्रदेशन की अपेक्षा नाहीं, यह दृष्टांत गुण की अपेक्षा है। अर सम्यक्त्व विषैं अनुभव विषैं प्रत्यक्षादिक के प्रश्न लिखै थे तुमने, तिनका उत्तर मेरी बुद्धि अनुसार लिखा है। तुम हू जिनवानीतैं अपनी परणतिसैं मिलाय लेना। अर विशेष कहां तांई लिखिये। जो बात जानिए सो लिखने में आवे नाहीं। मिलैं कुछ कहिये भी सो मिलना कर्माधीन, तातैं भला यह है कि चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के उद्यम में रहना व अनुभव में वर्तना सो वर्तमानकाल विषैं अध्यात्म तत्त्व तो आत्माही है।

तिस समयसार ग्रंथ की अमृतचंद्र आचार्यकृत टीका संस्कृत विषै हैं अर आगम की चर्चा गोमट्टसार विषै है। तथा और भी अन्य ग्रंथ विषै है, सो जानी है, सो सर्व लिखने में आवे नाहिं। तातैं तुम अध्यात्म आगम ग्रंथ का अभ्यास रखना अर स्वरूप विषै मग्न रहना अर तुम कोई विशेष ग्रंथ जानै होवे तो मुझकौं लिख भेजना। साधर्मी कैं तों परस्पर चर्चा ही चाहिए, अर मेरी तौ इतनी बुद्धि है नाहीं। परंतु तुम सारिखे भाइनसौं परस्पर विचार है, सो अब कहां तक लिखिये? जेतै मिलना नहीं तेतैं पत्र तौं शीघ्र ही लिखा करौ।

मिती फागुन बदी 5 विक्रम सं. 1811

- टोडरमल

●●

'तुम हो अमर लोक के मानव
मरकर भी जो सदा अमर
क्योंकि दिव्य आलोक पुंज से
तुमने जग का हरा तिमिर'

प्रकाशक – श्री दि० जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट के लिए – नेमीचंद बाकलीवाल
मुद्रक – श्री वीर प्रेस, जयपुर।